: १ :

युगावलोकन

सन् १८५८ के नवम्बर मास की पहली तारीख को इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त करके भारत का शासन अपने हाथ में लिया था और सन् १९४७ के अगस्त मास की १५ तारीख को ब्रिटिश राज्य के प्रतिनिधि ने भारत का प्रभुत्व भारतवासियों के हाथों में सौंप दिया। इन बीच के ८९ वर्षों को हम चार भागों अथवा युगों में बांट सकते हैं।

पहला १८५८ से १८८५ तक का आदि पर्व बौद्धिक, सामाजिक और धार्मिक जागृति का पर्व कहला सकता है। दूसरा पर्व सन् १८८५ के दिसम्बर मास के अन्त में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से आरम्भ होता है और १९०५ में लार्ड कर्जन द्वारा वंग-विच्छेद की घोषणा के साथ समाप्त हो जाता है। उसमें राजनैतिक चेतना के उत्थान और वैधानिक आन्दोलन की मुख्यता रही, इस कारण उसे हम वैधानिक आन्दोलन का युग कह सकते हैं। तीसरे पर्व का प्रारम्भ वंग-विच्छेद-आन्दोलन से होकर उसकी समाप्ति सन् १९१९ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस द्वारा महात्मा गांधी के सत्याग्रह-संग्राम की योजना का राष्ट्रीय योजना के रूप में स्वीकार किये जाने के साथ होती है। उस तीसरे युग में देश की मनोवृत्ति सर्वथा बदल गई। देश के निवासी ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से ऊबकर स्वाधीन होने के लिए बद्ध परिकर हो गये। वे 'राजभक्त' न रहकर 'विद्रोही' बन गये, और इंग्लैंड को चुनौती देने लगे। इस युग में स्वाधीनता के उस घनघोर संग्राम की पूरी तैयारी हो गई, जिसका अन्त देश की राजनैतिक स्वाधीनता में हुआ। चौथा युग असहयोग सत्याग्रह की घोषणा से आरम्भ और स्वराज्य-प्राप्ति में समाप्त हुआ।

पहले पर्व के मुख्य सेनानी वे महापुरुष थे, जिन्होंने राजनैतिक दासता के गहरे अन्धकार में बौद्धिक जागरण का दीपक जलाया। बौद्धिक जागरण का बीजारोपण तो सन् १८५७ के विद्रोह से पहले ही हो चुका था, जब राजा राममोहनराय ने बंगाल में सुधारणा की अलख जगा दी थी। सन् १८५७ के पश्चात् महर्षि दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस

स्वामी विवेकानन्द तथा न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे आदि महापुरुषों ने जागरण की क्रान्ति को आगे बढ़ाकर मानसिक क्रान्ति के रूप में परिणत कर दिया। यह एक सिद्धान्त है कि बौद्धिक क्रान्ति और राजनैतिक क्रान्ति का निश्चित कार्य-कारण-भाव होता है। दास मनोवृत्ति के लोग राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं कर सकते। स्वाधीनता-युद्ध के प्रथम पर्व के सेनानी वस्तुतः देश की राजनैतिक स्वाधीनता के भगीरथ थे।

दूसरे पर्व का प्रारम्भ बम्बई में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ हुआ। सन् १८८५ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में बम्बई के ग्वालिया टैंक-मैदान पर शिक्षित भारतवासियों की राजनैतिक उमंगों ने कांग्रस के प्रथम अधिवेशन के रूप में स्थूल आकार धारण किया। यद्यपि कांग्रेस की स्थापना का सुझाव मि० ह्यूम की ओर से आया और उसके प्रथम अध्यक्ष श्री डब्लू० सी० बनर्जी निर्वाचित हुए, तथापि यह निर्विवाद सत्य है कि स्वाधीनता-युद्ध के इस पर्व के प्रमुख सेनापति दादाभाई नौरोजी ही थे। वह न केवल आयु में अपितु ज्ञान में, सेवा-भाव में, हृदय की सादगी और सचाई में अपने समसामयिक राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं के अग्रणी थे।

इस दूसरे पर्व ने देश में राजनैतिक चेतना को जागृत किया और उसका विस्तार किया। यद्यपि उस पर्व की महत्वाकांक्षाएं परिमित थीं, तो भी ऊपर उठने और दासता से छूटने की प्रवृत्ति स्पष्ट थी। इस दृष्टि से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था। स्वाधीनता के लिए युद्ध का आरम्भ हो गया था, हालांकि उसका लक्ष्य अभी परिमित था। उस युद्ध के सेनानी और सैनिक ऊंच दर्जे की अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किये हुए भारतवासी थे। उन्होंने पश्चिम के उदार और प्रगतिशील राजनीतिज्ञों से स्वाधीनता की प्रेरणा प्राप्त की थी, इस कारण उनकी नैतिक दृष्टि की परिधि ब्रिटिश साम्राज्य तक परिमित थी। वे साम्राज्य के भीतर नागरिकता के अधिकार की मांग करते हुए यह आशा रखते थे कि स्वाधीनता से प्रेम करनेवाली और वैधानिकता का दम भरनेवाली ब्रिटिश जाति भारत के साथ अवश्य न्याय करेगी।

वह सारा पर्व आदि से अन्त तक एक ही रंग से रंगा हुआ नहीं था। उसके रंगों मे धीरे-धीरे परन्तु निरन्तर गहराई आती जाती थी। जब देर तक आशाएं पूरी न हुईं तो उनका स्थान निराशा लेने लगी। सुलभ सन्तोष ने हल्के असन्तोष को पीछे धकेल दिया। यह प्रक्रिया जारी रही; परन्तु उस युग के अगुआ विश्वास और धैर्य का बल लगाकर परिस्थिति को अधिक गर्म होने से बचाते रहे।

तीसरे पर्व का श्रीगणेश बंग-विच्छेद के वज्रपात से हुआ। लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को जो विष का घूंट समझकर पिलाया था, वह सारे देश के

लिए अमृत का घूंट बन गया। बंग-विच्छेद की चिनगारी का प्रभाव केवल बंगाल तक ही सीमित न रहा। असन्तोषाग्नि की ज्वाला थोड़े ही समय में भारत-भर में प्रचण्ड हो गई।

तीसरे पर्व के प्रधान सेनानी लोकमान्य पंडित बाल गंगाधर तिलक बने। उनके सहायक अनेक थे। श्रीअरविन्द घोष, बाबू विपिनचन्द्रपाल, लाला लाजपतराय तथा अन्य अनेक ओजस्वी देश-भक्तों ने लोकमान्य का पूरी तरह साथ देकर देश की राजनीति को भिक्षावृत्ति और वैधानिकता की बन्द कोठरी में से निकालकर स्वाधीनता की मांग और चुनौती के खुले मैदान में खड़ा कर दिया। देश की जनता में पूर्ण स्वराज्य की भूख उत्पन्न हो गई और उन्हें देश में अंग्रेजों की न केवल प्रभुता अपितु सत्ता ही अखरने लगी। नवयुवकों में देश की आजादी के लिए हर प्रकार का बलिदान करने का वलवला लहरें मारने लगा, जिसने जाति को राष्ट्र का रूप देकर क्रान्ति के अन्तिम पर्व में प्रवेश करने के लिए उद्यत कर दिया।

चौथे पर्व का पर्दा उठाने का श्रेय भी अंग्रेजी सरकार को ही है। जैसे तीसरे पर्व का उद्भव बंग-विच्छेद से हुआ था, वैसे ही चौथे पर्व का उद्भव रौलेट-एक्टों से हुआ। पहले महायुद्ध में भारत ने इंग्लैंड को दिल खोलकर सहायता दी थी। सिपाही, धन और सामान—जिन वस्तुओं की युद्ध जीतने के लिए आवश्यकता थी, वे सब इंग्लैंड को भारत से प्रभूत मात्रा में प्राप्त हुईं। सहायता मांगने के समय ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने स्वयं, और अपने बादशाह द्वारा भारतवासियों को बड़ी-बड़ी आशाएं दिलाईं और सब्जबाग दिखाये। भोले भारतवासियों ने उन वादों पर विश्वास कर लिया। जिन दूरदर्शी नेताओं ने देशवासियों को अंग्रेजी वादों का खोखलापन दिखलाकर सावधान करने का यत्न किया था, उनके अग्रणी लोकमान्य तिलक थे। उस समय भारत की आशुतोष जनता पूरी तरह सावधान न हुई, परन्तु जब युद्ध की समाप्ति पर ऊंचे सैनिक ओहदे और राजनैतिक अधिकार देना तो एक ओर रहा, अंग्रेजी सरकार ने एक अंग्रेजी कमीशन की सिफारिश पर दो ऐसे कानून उपस्थित कर दिये, जिनका नाम कमीशन के सभापति के नाम पर रौलट ऐक्ट रक्खा गया, और जिन्हें 'काले कानून' के विशेषण से विशेषित किया गया, तो उस अवसर पर महात्मा गांधी भारत के कार्य-क्षेत्र में नेता बनकर अवतीर्ण हुए। लोकमान्य और उनके साथियों के प्रयत्न से जो क्षेत्र तैयार हुआ था, उसमें फसल बोने और काटने का काम महात्मा गांधी ने किया।

अमृतसर-कांग्रेस में महात्मा गांधी के रंगस्थली में प्रवेश के समय लोकमान्य ने आन्दोलन की बागडोर स्वयं अपने हाथों से महात्माजी को सौंपते

हुए अपने अनुयायियों से कह दिया था कि "मैं अब वृद्ध हो रहा हूं। भविष्य में तुम्हारा नेतृत्व गांधीजी करेंगे।" क्रांति के सिपाही लगभग तैयार खड़े थे, बिगुल बजने और व्यूह-रचना की कमी थी। स्वाधीनता-युद्ध के चौथे पर्व के आरम्भ में सत्याग्रह का बिगुल बजाकर और असहयोग की व्यूह-रचना करके यह कमी भी पूरी कर दी गई। १९१८ के अन्त में भारत के स्वाधीनता युद्ध का जो गांधी-पर्व आरम्भ हुआ, उसकी समाप्ति १९४७ के अगस्त मास में स्वाधीनता-प्राप्ति के साथ हुई।

इन चारों पर्वों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से तीसरे पर्व, तिलक-युग, का महत्त्व बहुत अधिक है। उस युग का विस्तार केवल १९०५ से १९१८ ईस्वी तक है, परन्तु देश की मनोवृत्ति में परिवर्तन और सामाजिक जागृति की दृष्टि से वह गुजरी हुई आधी शताब्दी के बराबर है। उसने भावनाओं के हिमीभूत जल को गर्मी देकर गतिशील कर दिया, जिसने ऐसी जलधारा को जन्म दे दिया कि वह अनेक विघ्न-बाधाओं को परास्त करती और निरन्तर शक्ति-संचय करती हुई अपने चरम लक्ष्य तक पहुंचने में समर्थ हो गई। इस कथन से शायद ही किसीका मतभेद हो कि यदि १९०४ में महात्माजी सत्याग्रह की योजना उपस्थित करते तो देश पर उसका कोई प्रभाव न होता। १९०४ में सत्याग्रह का बिगुल नक्कारखाने में तूती से अधिक महत्त्व न रखता। यह १९०५ से १९१८ तक के क्रान्तिकारी वर्षों का ही प्रभाव था कि जब रौलट-ऐक्ट के विरोध में असहयोग और सत्याग्रह का नारा लगाया गया तो देश उछलकर रणक्षेत्र में संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली साम्राज्य के साथ जूझने के लिए तैयार हो गया। आगामी अध्यायों में युद्ध के उसी महत्वपूर्ण पर्व और उसके प्रधान सेनानी की गाथा को विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

: २ :

महाराष्ट्र की दशा

युग का निर्माण करनेवाले नेता का कार्य उस साहसिक कृषिक के समान होता है, जो किसी वंजर भूमि को या तो हरे-भरे खेत के रूप में परिणत कर जाता है अथवा ऐसी तैयारी कर जाता है कि शीघ्र ही खेत में हरियाली लहराने लगे। कृषिक को कार्य-सिद्धि करने में कितना समय लगे और सिद्धि पूरी हो अथवा अधूरी रह जाय, यह इसपर अवलम्बित रहता है कि जिस समय उसने हल पर हाथ लगाया, उस समय भूमि की क्या दशा थी? वह सर्वथा ऊवड़-खावड़ पड़ी थी या उसपर किसान का हाथ लग चुका था। कुशल कृषिक के कार्य की सफलता बहुत-कुछ भूमि की अवस्था पर आश्रित है। आइये, हम देखें कि जिस समय लोकमान्य ने महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया, उस समय वह प्रान्त किस दशा में था?

पेशवाशाही का अन्त १८१८ ई० में ही हो गया था। बाजीराव द्वितीय पूना से भागकर, अंग्रेजों के वन्दी के रूप में, कानपुर के समीप 'ब्रह्मावर्त' में ऐश के दिन व्यतीत कर रहा था। १८५७ में महान् विद्रोह हुआ, जिसकी असफलता से देश-भर पर दासता की चादर-सी तन गई। कुछ वर्षों तक तो राष्ट्र स्तब्धता की हालत में रहा, उसके पश्चात् शिक्षित भारतीयों में सामाजिक और राजनैतिक जागृति के कुछ विशेष चिह्न दिखाई देने लगे। सामाजिक क्षेत्र में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों के प्रयत्न से जो जागरण हुआ था, १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के साथ वह स्थूल राजनैतिक चेतना के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी के अन्त में हम घने अन्धकार के बादलों को कहीं-कहीं से फटता हुआ पाते हैं, परन्तु जब समूचे अन्तरिक्ष पर दृष्टि डालते हैं तो प्रतीत होता है कि प्रकाश की किरणें फैलने में अनेक बाधाएं थीं।

वे बाधाएं दो प्रकार की थीं और थीं दोनों एक-दूसरे से विपरीत। पहली बाधा तो यह थी कि भारत का तत्कालीन शिक्षित समाज पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित होकर भारतीयता को छोड़कर यूरोप की संस्कृति और जीवन-शैली के पीछे सरपट भागा जा रहा था। ऊंची शिक्षा पाये हुए

भारतीयों की वृत्तियां मुख्य रूप से इंग्लैंड में केन्द्रित थीं। उनमें से जिनके मन में थोड़ी-बहुत राजनैतिक जागृति उत्पन्न हो गई थी, उनकी भी इच्छा और उमंगें इंग्लैंड के साम्राज्य के बाहर नहीं जाती थीं।

दूसरी बाधा उससे भी बड़ी थी। अशिक्षित समाज देश की भावना से शून्य-सा था। समाज-सुधार या राजनैतिक अधिकारों के प्रति वह पूर्ण रूप से उदासीन था। चिरकालीन दासता के कारण सर्वसाधारण में 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छोड़कर होय न रानी' की भावना काम कर रही थी। एक ओर हद दर्जे की बहिर्मुखता थी तो दूसरी ओर घोर अन्तर्मुखता।

१९ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में देश की इस शोचनीय दशा के निवारण के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक यत्न होने लगे थे। महाराष्ट्र में भी सुधार का सूत्रपात हो गया था। महाराष्ट्र में समाज-सुधार के प्रथम कर्णधार जोतिराव गोविन्दराव फुले थे। फुले के पिता माली का धन्धा करते थे। जब पढ़-लिखकर वह समझने के योग्य हुए तब उन्होंने अनुभव किया कि ब्राह्मणेतर होने के कारण उन्हें समाज में निचली कोटि का व्यक्ति माना जाता है। इस अनुभूति ने उन्हें अनुदार समाज का विद्रोही तो बनाया ही, अंग्रेजी सरकार का विद्रोही भी बना दिया। उन्होंने अनुभव किया कि समाज की बहुत-सी कुरीतियों का मूल कारण विदेशी राज्य है। श्रीयुत फुले ने एक मराठी स्कूल की स्थापना की, जिसमें लड़कियों को भी शिक्षा दी जाती थी। उस समय कन्याओं को शिक्षा देना क्रान्तिकारी सुधार समझा जाता था। १८७३ में उन्होंने 'सत्यशोधक समाज' नाम की एक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य ब्राह्मणेतरों में शिक्षा का प्रचार और ब्राह्मणों की सत्ता को घटाना था। वह अपने 'दीनबन्धु' पत्र में जातिवाद के विरुद्ध खूब आंदोलन करते थे।

दूसरे सुधारक श्री गोपालराव हरि देशमुख थे। वह सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर 'लोकहितवादी' के नाम से टिप्पणियां लिखा करते थे, जो इतनी मार्मिक होती थीं कि पाठकों के हृदयों में हलचल उत्पन्न कर देती थीं। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के प्रचार-कार्य की भरसक पोल खोली। उनकी राय थी कि मिशनरियों का कार्य उतना धार्मिक नहीं, जितना राजनैतिक है।

यदि फुले और देशमुख को हम उस समय के सुधारकों के प्रतिनिधि कह सकते हैं तो विष्णु शास्त्री चिपलूणकर को सनातन-धर्मी वर्ग का प्रतिनिधि माना जा सकता है। ये सभी महानुभाव देशभक्त थे, परन्तु उनके दृष्टिकोण में अंतर था। पं० विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के पिता संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने कई ग्रंथ लिखे थे।

अंग्रेजी सरकार में उनका मान था। विष्णु शास्त्री का पूरा नाम विष्णु कृष्ण चिपलूणकर था। संस्कृत पाण्डित्य के संस्कार उन्होंने पिता से प्राप्त किये थे। अंग्रेजी में बी० ए० तक पढ़कर वह सरकारी नौकरी में चले गये। कई वर्षों तक शिक्षा-विभाग में उत्तम कार्य के लिए सम्मान भी प्राप्त किया, परन्तु विष्णु शास्त्री के हृदय में देश-सेवा की भावना इतनी तीव्र थी कि शीघ्र ही सरकारी नौकरी उन्हें दासता की जंजीरों के समान अखरने लगी और १८७९ में उन्होंने इस दासता से मुक्ति पाकर स्वतन्त्र रूप से देश-सेवा का कार्य आरम्भ कर दिया। 'निबन्धमाला' नाम से उन्होंने कई निबन्ध लिखे, जिन्हें अर्वाचीन मराठी गद्य की आधार-शिलाएं माना जाता है। चिपलूणकर महोदय की लेखन-शैली विशुद्ध, स्पष्ट और ओजस्विनी थी। समालोचना में उनका व्यंग्य बहुत काट करनेवाला होता था। पूना के प्रसिद्ध चित्रशाला प्रेस के संस्थापक भी वह थे। विष्णु शास्त्री के राजनैतिक विचारों का कुछ आभास उस पत्र से मिलता है, जो उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ते हुए अपने एक मित्र को लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था—

"इन गुलामी के दिनों में सरकारी नौकरी को देवप्रदत्त प्रसाद माना जाता है और उसे छोड़नेवाले को पागल या आत्म-हत्यारा समझा जाता है। परन्तु मैं सदा इस विषय में भिन्न विचार रखता रहा हूं। मैं अपने पैरों में अत्याचार की शृंखलाएं बांधने की अपेक्षा उन शृंखलाओं को तोड़ डालना पसन्द करता हूं। मैं सरकारी नौकरी की घिसघिस से जो घृणा करता हूं, इसने मुझे नौकरी छोड़ने के लिए प्रेरित किया है।"

यह थी स्वाधीनता की उग्र भावना, जिससे प्रेरित होकर शास्त्री महोदय ने सरकारी दासता के बंधनों को काटकर सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनके लेखों का और व्यवहार का महाराष्ट्र के नवयुवक समाज पर बहुत गहरा असर हुआ।

उग्र देश-भक्ति में अन्य सुधारकों के समान अथवा कुछ आगे रहते हुए शास्त्री के और उनके विचारों में एक मौलिक भेद था। फूले, देशमुख आदि सुधारकों का मत था कि समाज-सुधार के बिना राजनैतिक सुधार असंभव है, इस कारण वह पहले समाज-सुधार और पीछे राजनैतिक आन्दोलन को रखते थे। परन्तु चिपलूणकर का मत था कि देश की सब सामाजिक, आर्थिक आदि बुराइयों का मूल कारण राजनैतिक दासता है। अतः अन्य झमेलों में न फंसकर हमें सारी शक्ति राजनैतिक सुधार में लगानी चाहिए। चिपलूणकर समाज-सुधारकों को पश्चिम का मानस शिष्य मानते थे। उनका विचार था कि समाज-सुधार की बातें इन सुधारकों ने ईसाई पाद-

रियों से सीखी हैं।

इन दो प्रकार के अतिशयवादी विचारकों के बीच में स्थान रखनेवाला एक और दल था, जिसके प्रमुख व्यक्ति महादेव गोविन्द रानडे थे। वह अपने समय के उन उच्च कोटि के विचारकों में से थे, जिनका न केवल अपने प्रान्त में, अपितु सारे भारत में गहरा प्रभाव था। लोकमान्य तिलक का रानडे महोदय से अनेक विषयों पर मतभेद तो था ही, स्वभाव-भेद भी था, और यह बात भी सर्वसम्मत है कि लोकमान्य किसीकी आलोचना में रियायत करनेवाले नहीं थे। लोकमान्य ने उनके सम्बन्ध में लिखा था—

"माधवरावजी (महादेव गोविन्द रानडे) का जीवन शिक्षाप्रद और महत्वपूर्ण था। इसके अनेक कारण थे। उनकी प्रतिभा असाधारण थी और वह देर तक निरन्तर परिश्रम कर सकते थे। उनकी राष्ट्रहित में सच्ची आस्था, ज्ञानप्राप्ति में उत्सुकता और असाधारण कल्पना-शक्ति असन्दिग्ध थी। राज्य और प्रजा में उन्हें जो आदर मिला और उन्होंने देश की जो सेवाएं कीं, वे साधारण नहीं थीं। रानडे महोदय को महापुरुष की पदवी के योग्य बनाने के लिए इतना ही पर्याप्त होता, परन्तु राष्ट्रीय जीवन की समुन्नति में उन्होंने जो भाग लिया, वह उनसे अधिक बहुमूल्य था।"

लोकमान्य ने रानडे महोदय के जो गुण बतलाये हैं, उनमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है, परन्तु वे तो केवल उनकी व्यक्तिगत योग्यता से सम्बन्ध रखते थे। उनकी एक बहुत बड़ी विशेषता यह थी कि वह दो अत्यन्त भिन्न और प्रत्यक्ष देखने में एक-दूसरे को काटनेवाली प्रवृत्तियों में समन्वय कर सकते थे, उचित मध्यमार्ग निकाल सकते थे। वह सरकार के विश्वासपात्र अधिकारी थे। छोटी नौकरी से आरम्भ करके वह हाईकोर्ट की जजी तक पहुंचे थे। सरकार में उनका मान जीवन-पर्यन्त बढ़ता गया और उसके साथ ही महाराष्ट्र के सांस्कृतिक, सामाजिक और नैतिक जीवन पर उनका प्रभाव और आभार दोनों बढ़ते गये। उनकी दो पुस्तकों ने पहली बार शिवाजी महाराज और उनके उत्तराधिकारियों की अमरगाथा प्रामाणिक रूप से देशवासियों के सामने रक्खी। वे दो पुस्तकें थीं—'राइज़ ऑव मराठा एम्पायर' (मराठा साम्राज्य का अभ्युदय) और 'दि सोरसेज़ ऑव मराठा हिस्टरी' (मराठा-इतिहास की आधारभूत सामग्री)। ये दो पुस्तकें इतनी गवेषणा और विवेचना से पूर्ण थीं कि यदि रानडे अन्य कोई कार्य न करते और केवल यही दो पुस्तकें लिख देते, तो भी जनता उनकी ऋणी रहती, परन्तु पुस्तक-लेखन और न्याय-कार्य के साथ-साथ उन्होंने समाज-सुधार और राजनैतिक जागरण के क्षेत्र में जो कार्य किया, उसने उन्हें

साधारण जन-नेताओं से बहुत ऊंचा उठा दिया। पूना में उन दिनों वक्तृत्योत्सव, वसन्त-व्याख्यान-माला, औद्योगिक परिषद्, प्रदर्शनियां, फीमेल हाईस्कूल, लाइब्रेरी, सार्वजनिक सभा आदि जितनी सार्वजनिक संस्थाएं चल रही थीं, प्रत्यक्ष या परोक्ष में उन सबकी अन्तरात्मा रानडे महोदय थे। बम्बई प्रान्त में बंगाल के ब्राह्म-समाज की स्थापना प्रार्थना-समाज के नाम से हुई थी, उसके मुख्य संचालक रानडे महोदय थे। यह खुली रहस्य था कि उन दिनों इण्डियन नेशनल कांग्रेस के अधिवेशन में उपस्थित करने के लिए जो प्रस्ताव तैयार किये जाते थे, उनपर जस्टिस रानडे की मुहर लगना आवश्यक समझा जाता था। जो समाज-सुधारक समाज-सुधार को पहले और राजनैतिक सुधार को पीछे रखते थे, जस्टिस रानडे उनसे सहमत नहीं थे। वे दोनों सुधारों को एक-दूसरे का पूरक मानते थे। विष्णु शास्त्री चिपलूणकर जैसे विचारकों के इस मत से भी वह सहमत नहीं थे कि पहले राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लो, समाज-सुधार पीछे होता रहेगा। उनकी सम्मति थी कि सामाजिक बुराइयों के दूर हुए बिना राजनैतिक उन्नति सर्वथा असम्भव है। वह मानते थे कि समाज-सुधार और राजनैतिक सुधार उन्नति-रूपी रथ के दो पहिये हैं।

इस प्रकार महाराष्ट्र के जीवन-समुद्र में तीन प्रकार की लहरों के कारण उस समय तक हल्की-हल्की हलचल मच चुकी थी, जब लोकमान्य तिलक ने झंझावात की गति से उसमें प्रवेश किया।

: ३ :

जन्म तथा शिक्षा

बाल गंगाधर तिलक ने जिस ब्राह्मणवंश में जन्म लिया, वह 'चितपावन' कहलाता था। महाराष्ट्र के ब्राह्मण दो भागों में विभक्त थे : एक देशस्थ, दूसरे कोंकणस्थ अथवा चितपावन।

'चितपावन' शब्द का उद्भव परशुराम मुनि के वरदान से हुआ बतलाया जाता है। आख्यायिका है कि एक बार परशुराम भू-भ्रमण करते हुए एक ऐसी जगह पहुंच गये, जहां कोई ब्राह्मण नहीं था। ब्राह्मण के बिना यज्ञ नहीं हो सकता था। संकट को मिटाने के लिए मुनि ने अपने तपोबल से ब्राह्मणों का निर्माण करने का निश्चय किया। समुद्र तट पर उन्हें किन्हीं मनुष्यों के सात शव पड़े दिखाई दिये। उन्हें एकत्र करके मुनि ने विधिपूर्वक अग्नि के अर्पण कर दिया। वे जलकर राख हो गये और यज्ञाग्नि द्वारा पावन की हुई राख से सात ब्राह्मण आविर्भूत हो गये। वे ब्राह्मण चिता से पावन होकर निकले थे, इस कारण चितपावन कहलाये। कहा जाता है कि चितपावन ब्राह्मण उन्हीं सात ब्राह्मणों के वंशज हैं।

आख्यान सच्चा हो या कल्पित, इसमें सन्देह नहीं कि चितपावन ब्राह्मणों ने महाराष्ट्र के इतिहास में जो स्मरणीय भाग लिया है, वह इतनी विशेषताएं रखता है कि उनके उद्भव के सम्बन्ध में अद्भुत कल्पनाओं का किया जाना स्वाभाविक ही था। मराठा-साम्राज्य के पेशवा चितपावन थे। छत्रपति शिवाजी के उत्तराधिकारी शाहू महाराज ने १७१३ ईस्वी में चितपावन वंशज बालाजी विश्वनाथ को पेशवा (प्रधानमंत्री) पद पर नियुक्त किया था। बालाजी विश्वनाथ के पीछे बाजीराव प्रथम पेशवा ने पेशवा का पद संभालकर उत्तर की ओर विजय प्राप्त करते हुए दिल्ली तक हाथ मारा। पेशवा का पद प्रारम्भ से ही वंश-परम्परागत हो गया था। बाजीराव प्रथम के पश्चात् उनके वंशज १८१८ ई० तक मराठा-राज्य का संचालन करते रहे। चारों ओर से घोर शत्रुओं से घिरे रहकर भी सौ वर्षों से अधिक समय तक एक विस्तृत राज्य की रक्षा करना साधारण कार्य नहीं था। पेशवा-वंश में दोनों गुण थे। वे वीर और कुशल योद्धा होने के साथ-साथ कूटनीति में भी प्रवीण थे। जबतक पेशवा लोगों में इन दोनों राजोचित

गुणों का सम्मिश्रण रहा, तबतक मराठा-राज्य मुसलमान और अंग्रेज शासकों की दुतरफी मार से बचता रहा। बाजीराव द्वितीय तलवार चलाना तो जानता था, परन्तु हृदय में तलवार चलाने-योग्य साहस नहीं रखता था। फलतः मराठा-राज्य बढ़ते हुए ब्रिटिश-राज्य के धक्के को न सह सका।

मराठा-राज्य तो न रहा, परन्तु चितपावन ब्राह्मणों की प्रतिभा कुण्ठित नहीं हुई। राज्य के परिवर्तन हो जाने पर भी पर्याप्त काल तक महाराष्ट्र के नैतिक और धार्मिक जीवन में उनकी प्रमुखता कायम रही। हमारे विषय से संबंधित युग के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम करनेवाले नेताओं में भी चितपावन ब्राह्मणों की प्रधानता थी। लोकमान्य तिलक भी चितपावन थे और श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले भी। दोनों की सम्मतियों में बहुत भेद था, परन्तु विचारों की वीरता और कार्यक्षमता में दोनों समान थे।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म २३ जुलाई १८५६ के दिन रत्नागिरि में हुआ था। यह तिथि शक पंचांग के अनुसार आषाढ़ कृष्ण षष्ठी सोमवार १७७८ थी और निश्चित जन्म-काल सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् था। लोकमान्य तिलक का जन्म का नाम केशवराव था और बचपन का नाम बलवन्तराव, परन्तु बचपन में ही बलवन्तराव का संक्षेप होकर लाड़ का नाम 'बाल' बन गया था। परिवार में उन्हें 'बाल' इस संक्षिप्त नाम से पुकारा जाने लगा था। वही संक्षिप्त नाम अगले जीवन में प्रचलित और प्रसिद्ध नाम हो गया। बाल के परदादा केशवराव घुड़सवारी, निशानेबाजी, तैराकी और पाक-विद्या आदि व्यावहारिक कलाओं में निपुण थे। वह पेशवाओं के शासन-काल में मामलतदार के ओहदे तक पहुंच गये थे, परन्तु १८१८ में, पेशवाशाही के समाप्त हो जाने पर उनका काम भी छूट गया। बाल के दादा रामचन्द्र पंत अंग्रेजी सरकार के सर्वे विभाग में नौकर हो गये और अच्छा नाम कमाया, परन्तु १८३७ में अपनी पत्नी की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर चित्रकूट चले गये। उनके पुत्र गंगाधरराव की आयु उस समय केवल सत्रह वर्ष की थी। माता का देहान्त हो गया और पिता वैरागी हो गये, तो भी गंगाधरराव ने हिम्मत नहीं हारी। अपने बलबूते पर शिक्षा ग्रहण करके स्कूल में संस्कृत और गणित के अध्यापक बन गये। भारत के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डा० भण्डारकर गंगाधरराव की योग्यता से इतने प्रभावित थे कि जब गंगाधरराव रत्नागिरि से पूना जाने लगे तो उन्होंने कहा था कि गंगाधरराव का पांडित्य, प्रतिभा, प्रेम और विचार-स्वातंत्र्य अनुकरण के योग्य हैं। उनकी लिखी हुई मराठी और गणित-सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों को शिक्षा-विभाग ने मान्यता देकर पुरस्कृत किया।

बाल की माता अत्यन्त धार्मिक वृत्ति की महिला थीं। पहले उनके तीन कन्याएं हुई, पुत्र कोई नहीं था। जप-तप और उपवास की लम्बी साधना के पश्चात् उन्होंने जिस पुत्र को प्राप्त किया, उसमें धार्मिक भावनाओं की प्रधानता स्वाभाविक ही थी। बाल ने पिता से विद्या और प्रतिभा के संस्कार और माता से धार्मिक भावना के जो संस्कार विरासत में प्राप्त किये, वे उसके चरित्र निर्माण में मुख्य उपादान कारण बन गये।

पांचवर्ष की आयु में दशहरे के पुण्यपर्व पर बाल गंगाधर को स्कूल में भर्ती कर दिया गया। आठ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न हुआ, जिससे वह वेद पढ़ने का अधिकारी हो गया। प्रारम्भ से ही उसकी गणित और संस्कृत पढ़ने में विशेष प्रवृत्ति थी। उसके पिता, स्वयं इन विषयों के विद्वान् होने के कारण, पुत्र की योग्यता बढ़ाने में निरन्तर लगे रहते थे। इस प्रसंग में एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। बाल गंगाधर के पिता बाणभट्ट की कादम्बरी का सस्वर पाठ किया करते थे। बालक को वह बहुत भाया। उसने पिता से वह पुस्तक मांगी। पिता ने इस शर्त पर कादम्बरी देना स्वीकार किया कि बाल गंगाधर गणित का एक कठिन प्रश्न हल करके दिखाये। बालक ने शर्त स्वीकार कर ली और प्रश्न हल कर दिया। इससे माता और पिता दोनों पुलकित हो गये और कादम्बरी की पोथी बाल गंगाधर को प्राप्त हो गई।

पूना सिटी स्कूल में पढ़ने के समय ही बाल गंगाधर की प्रतिभा की दोनों विशेषताएं प्रकट होने लगी थीं। बालक की प्रतिभा जितनी तीव्र थी, उतनी ही स्वच्छन्द थी। गणित के जो प्रश्न करने को दिये जाते थे; बाल गंगाधर प्रायः उनके नीचे ही उनके उत्तर लिख देता था। विधि-विधान मन में ही पूरे कर लेता था। जब अध्यापक पूछते कि "जिस विधि से तुमने प्रश्न हल किया, वह कहां है," तो बालक माथे पर अंगुली रखकर उत्तर देता था, "यहां।" इस एक शब्द के उत्तर में भावी लोकमान्य की तीखी प्रतिभा और विद्रोह-भावना दोनों अभिव्यक्त हो रही थीं। यद्यपि वार्षिक परीक्षाओं में वह ऊंचा स्थान प्राप्त नहीं करता था, तो भी विशेष विषयों में असाधारण योग्यता और बुद्धि की स्वच्छन्द गति सबको आश्चर्य में डाल देती थी।

'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' बालगंगाधर का विकास भी बहुत कण्टकाकीर्ण रहा। दस वर्ष की आयु में उसे अपनी स्नेहमयी तपोमूर्ति माता का वियोग सहना पड़ा। बालक की पन्द्रह वर्ष की आयु थी, जब पिता का वरद हाथ सिर पर से उठ गया। मृत्यु से कुछ समय पूर्व पिता ने बालक का बल्लाल बाल की सुपुत्री ताप्ती बाई से विवाह कर दिया था। कहते हैं, जब

बालगंगाधर से पूछा गया कि तुम दहेज में क्या चाहते हो तो उसने न रुपये मांगे और न वस्त्राभूषण। मांगी तो केवल पढ़नेयोग्य पुस्तकें।

गंगाधर शास्त्री सरस्वती के उपासक थे। वह अध्यापन और पुस्तक-लेखन से जीवन-निर्वाह करते थे। सरस्वती के उपासकों का प्रायः लक्ष्मी से विरोध ही रहता है। फिर भी गंगाधर शास्त्री ने अपनी मितव्ययता और नियमपूर्वक हिसाब-किताब रखने की आदत के कारण कुछ पूंजी एकत्र कर ली थी। उन्होंने सब मिलाकर ८२९ रुपयों की वसीयत की थी। उस राशि का तीन-चौथाई भाग अपने छोटे भाई के नाम लिखते हुए गंगाधर शास्त्री ने आशा की थी कि वह अपने भतीजे की शिक्षा की ठीक-ठीक व्यवस्था करता रहेगा।

स्कूल की शिक्षा समाप्त करके बाल गंगाधर डेकन कालिज में भर्ती हुआ। उसके कालिज-जीवन की अनेक विशेषताएं थीं। न वह मन्दमति छात्रों की भांति केवल रुढ़ि का पुजारी था और न पहली श्रेणी में उत्तीर्ण होने-वालों की तरह परिश्रमी या रट्टू तोता। अपने प्रिय विषयों में पूरा ध्यान लगाने के अतिरिक्त शेष समय का उपयोग वह अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास में करता था। प्रारम्भ में उसका शरीर बहुत निर्बल था। होनहार नवयुवक को यह बहुत अखरा और उसने निश्चय किया कि विद्या के साथ-साथ शारीरिक शक्ति भी प्राप्त की जाय। उन दिनों मालखम, जोर, कुश्ती आदि व्यायाम करना और फिर दूध पीकर पढ़ाई में लग जाना बाल गंगाधर का नित्य नियम बन गया था। जो छात्र सुस्त या किताबी कीड़े थे, वे उस चुलबुली तबीयत के साथी से बहुत तंग रहते थे। जो छात्र व्यायाम नहीं करते थे और स्वस्थ रहने के लिए रसायनों का प्रयोग करते थे, बाल गंगाधर उनके कमरों में घुसकर रसायन की शीशियां तोड़ डालता था और उन्हें हाथ से पकड़कर व्यायाम के लिए घसीट ले जाता था। उसे तैरने का बहुत शौक था, पानी पर घण्टों तक लेटकर तैरते रहना, या लम्बी डुबकियां लगाना उसके व्यायाम का ही एक भाग था।

बाल गंगाधर का कोई काम आधे दिल से नहीं होता था। यह उसके स्वभाव का एक आवश्यक अंग था। हम यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि यह विशेषता थी, जिसने उसे असाधारण व्यक्तित्व प्रदान किया। जब शारीरिक निर्बलता को दूर करने की धुन सवार हुई तो और सबकुछ भुला दिया। पढ़ाई के घंटे भी व्यायाम और तैरने में व्यतीत होने लगे। एक बार अध्यापक ने टोक दिया तो बाल गंगाधर ने उत्तर दिया, "मैं इस वर्ष परीक्षा में नहीं बैठना चाहता।" अंग्रेजी के उपन्यास-लेखक सर वाल्टर स्काट के 'कैनिल वर्थ' नाम के उपन्यास का एक पात्र है, जिसका नाम ब्लंट है। वह

बहुत स्पष्टवादी और खुरदरा पात्र है। कालिज के साथियों ने नटखट और स्पष्टवादी बाल गंगाधर का उपनाम 'मिं० ब्लंट' रख दिया था। जिस वर्ष व्यायाम की असाधारण धुन सवार रही, उस वर्ष बाल गंगाधर एम० ए० की परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गया।

परन्तु अगले वर्ष महत्वाकांक्षी युवक ने अपनी जीवनचर्या का रुख बदल दिया। उसका अधिक समय अध्ययन में व्यतीत होने लगा। अध्ययन केवल पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित नहीं था। संस्कृत-साहित्य, आर्ष-साहित्य, पाश्चात्य दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि अनेक विषयों के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन द्वारा युवक बाल गंगाधर छात्रावस्था में ही मानो अपने भावी उज्ज्वल जीवन के लिए सन्नद्ध हो रहा था। दिन-भर पढ़ना और रात के समय विविध विषयों पर अपने साथियों से तर्क-वितर्क करना नित्य-नियम-सा बन गया था।

छात्रावस्था के बहुत-से साथियों ने बाल गंगाधर के निजू जीवन और रहन-सहन के विषय में अपने संस्मरण लिखे हैं। सब इस विषय में सहमत हैं कि प्रारम्भ से ही उसका चरित्र खरा और निर्दोष था। कालिज का प्रसिद्ध नटखट छात्र होते हुए भी किसीको यह शिकायत नहीं हुई कि बाल गंगाधर में कोई चरित्र-सम्बन्धी दोष था। विशेष बात यह थी कि यदि किसी दूसरे छात्र में वैसा दोष दिखाई देता तो वह उसे क्षमा नहीं करता था। एक विद्यार्थी की नजाकत इतनी बढ़ी थी कि वह रात को अपने बिस्तर पर फूल बिछाने लगा। बाल गंगाधर खिड़की के रास्ते से उसके कमरे में घुस गया, फूलों की सेज को उलट डाला और मेज पर यह लिखकर एक कागज रख दिया —"तुम्हें चेतावनी दी जाती है। फिर ऐसा न करना। तुम पुरुष हो या स्त्री?"

वेशभूषा और भोजनादि के सम्बन्ध में लोकमान्य सदा पुरानी पद्धति के माननेवाले रहे। छात्रावस्था में भी उनका वही वेश था, जो महाराष्ट्र के ब्राह्मणों के लिए नियत परम्परा से प्राप्त समझा जाता था। लाल रंग की गोल पगड़ी, अंगरखा, धोती, दुपट्टा और पैरों में आगे से ऊपर को उठा हुआ दक्खिनी जूता। लगभग यही वेश छात्र बाल गंगाधर का था और यही वेष लोकमान्य तिलक का था। खाना खाने के समय में वह कालिज में भी सोला रेशमी धोती पहनकर बैठते थे और अन्त तक उसी रिवाज को बरतते रहे। यह सचमुच आश्चर्य की बात थी कि जो व्यक्ति एक दिशा में स्वच्छन्दता की मूर्ति बना हुआ था, वही दूसरी ओर ऐसा कट्टर था! इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि वह जहां आत्मा को कलुषित करनेवाली प्रथाओं का नैसर्गिक विरोधी था, वहां उन प्रथाओं या रूढ़ियों का, जिन्हें

वह निर्दोष समझता था, बदलना या नष्ट करना उसे न केवल अनावश्यक अपितु अनुपादेय मालूम होता था। आगे चलकर लोकमान्य का अपने बहुत-से मित्रों और साथियों से जो मतभेद हुआ, उसका मूल कारण उनके स्वभाव की यही विशेषता थी। वह मनुष्य के विचारों और कार्य-कलापों को अलग-अलग डिब्बों में बन्द कर सकते थे। वह शास्त्रीय विचार को राजनीति से और राजनीति को समाज-व्यवस्था से सर्वथा अलग करके व्यवहार कर सकते थे। छात्रावस्था से ही लोकमान्य के स्वभाव की यह विशेषता प्रकट होने लगी थी।

बाल गंगाधर तिलक १८७७ में बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और १८७९ में एल-एल० बी० की उपाधि प्राप्त की।

: ४ :

कार्य-क्षेत्र में प्रवेश

एल-एल० बी० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् बाल गंगाधर तिलक ने सार्वजनिक सेवा में पहला पग शिक्षा के क्षेत्र में उठाया। यह तो शिक्षा-काल में ही स्पष्ट हो गया था कि तिलक की मनोवृत्ति प्रचलित रिवाज की लीक पर चलनेवाली नहीं है। उनके सहयोगी अनुभव कर रहे थे कि इस नवयुवक के हृदय में देश-कल्याण की एक आग है, जो उसे साधारण नवयुवकों का-सा सुखमय जीवन व्यतीत नहीं करने देगी। परिणाम यह हुआ कि समानधर्मा नवयुवक तिलक के साथी बन गये। उन साथियों में विशेषरूप से स्मरणीय नाम आगरकर का है और जिन महानुभावों से तिलक ने स्फूर्ति प्राप्त की, उनमें मुख्य विष्णु शास्त्री चिपलूणकर थे। चिपलूणकर महोदय के सम्बन्ध में, दूसरे अध्याय में चर्चा की जा चुकी है, तिलक और आगरकर कालिज के साथी थे। आगरकर एम० ए० में पढ़ते थे और तिलक बी० ए० में। दोनों में नीर-क्षीर-जैसी मित्रता थी। छात्रावस्था में ही दोनों मित्र देश की परिस्थिति और अपने भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार किया करते थे। उस समय के परिचित मित्रों ने दोनों की परस्पर बातचीत के कुछ अंश स्मृति से उद्धृत किये हैं। वे बहुत मनोरंजक हैं। उनसे प्रतीत होता है कि जहां दोनों मित्रों के राजनीति और शिक्षा के सम्बन्ध में विचार नव्वे फीसदी मिलते थे, वहां उनके समाज-सुधार-सम्बन्धी विचारों में और स्वाभाविक प्रवृत्तियों में भेद था।

दृष्टांत के तौर पर एक ही वाद-विवाद को ले लीजिये, जो भोजन के समय रेशमी वस्त्र पहनने के बारे में हुआ था। उपासनी तिलक और आगरकर दोनों के मित्र थे। उन्होंने आगरकर को अपने क्लब में भोजन के लिए निमंत्रित किया। आगरकर ने निमंत्रण को स्वीकार करते हुए कहा—

आगरकर—लेकिन हम सोला (रेशमी वस्त्र) नहीं पहनेंगे।
उपासनी—मैं तुम्हें शारंगपाणि का पीताम्बर ला दूंगा।
आगरकर—भला जो उनके विवाह के पश्चात् आजतक नहीं धुला है, उसी पीताम्बर को लाने की बात कह रहे हो!

उपासनी—अच्छा, तो आप मेरा धोबी से धुला हुआ कपड़ा ले सकते हैं ?

आगरकर—लेकिन हमारा यह धुला हुआ कपास का वस्त्र क्या काम नहीं दे सकता ? अमुक कपड़ा ही पहनिये और उसे अमुक प्रकार से ही पहनिये, भला इससे मतलब ? और तुमने यह ढोंग किस आशय से कर रक्खा है। क्या इसके लिए कोई शास्त्र का आधार भी है। क्यों जी तिलक, क्या तुम इस बात को अनुभव नहीं करते ?

तिलक—तुम बारम्बार मुझसे इस प्रकार के प्रश्न क्यों पूछते हो ? मेरे उत्तर तुम्हें नहीं भाते, फिर भी तुम्हारे आक्रमण जोरदार हैं। पर मैं समझता हूं कि वे दिल से हैं और इसीलिए मैं आज उनका अलग ढंग से उत्तर देता हूं।

इसके पश्चात् भोजन हुआ। निवृत्त होकर विवाद का उत्तरार्द्ध आरंभ हुआ। तिलक ने कहा—

तिलक—देखो मित्र आगरकर, मैं आरम्भ से शास्त्र का प्रमाण देता हूं।

आगरकर—शास्त्री के बेटे को सिवा शास्त्र के और सूझेगा ही क्या ?

तिलक—शास्त्र (विज्ञान) का कहना है कि कपास की अपेक्षा रेशम अधिक गर्म होता है और कदाचित् इसीलिए वह अपने पर धूल-धमाल या किसी तरह का मैल अथवा गन्दापन नहीं रहने देता। मेरा भाषण इस समय सामान्य जन-समूह की दृष्टि से है। कितने ही खास मौकों पर सोला नहीं भी पहना जाता है, और न ऐसा होने से किसी प्रकार के पाप की ही संभावना हो सकती है; किन्तु मैं जानना चाहता हूं कि इस समय तुम और हमपर ऐसी क्या कष्ट की घड़ी आ पड़ी है ? नहीं तो फिर व्यर्थ ही क्यों एक सनातन प्रथा पर प्रहार किया जा रहा है ?

मैंने श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर की पुस्तक से वार्तालाप का यह कुछ लम्बा उद्धरण इस उद्देश्य से दिया है कि आगरकर और तिलक की मनोवृत्तियों में जो मौलिक भेद था, वह स्पष्ट हो जाय। आगरकर पुरानी पद्धतियों की पवित्रता में विश्वास नहीं रखते थे और मानते थे कि अनुपयोगी और हानिकारक रूढ़ियों को अवश्य तोड़ना चाहिए। इसके विपरीत तिलक का मत था कि जबतक कोई संकट ही उपस्थित न हो जाय तबतक सना-

तन प्रथाओं का पालन करना चाहिए। वह प्रारम्भ से ही "न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्" इस गीता वाक्य के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि सदा सामान्य जन-समूह की ओर रहती थी, साधारण रूप से सामाजिक विषयों में सामान्यजनों की भावनाओं को ठेस पहुंचाना वह अनुचित समझते थे।

समाज-सुधार के बारे में ऐसा मौलिक मतभेद रहते हुए भी दोनों मित्रों का राष्ट्र की अन्य अनेक समस्याओं पर बहुत-सा मतैक्य था। देश की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के दोषों के सम्बन्ध में दोनों का एक मत था और वह पं० विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के मत से मिलता था। राष्ट्रीय विषयों में यह त्रिमूर्ति लगभग तीन शरीर और एक आत्मा का दृष्टान्त बन रही थी। १८७९ में तीनों मित्रों ने मिलकर 'न्यू इंग्लिश स्कूल' नाम के नवीन शिक्षणालय की स्थापना का निश्चय किया। उनके अन्य साथियों में से भगवत और करन्दीकर मुख्य थे। उस समय स्वतन्त्र रूप से एक नये स्कूल की स्थापना का कार्य ऐसा महत्वपूर्ण और साहसिक समझा गया कि उसकी सूचना देते हुए श्री विष्णु शास्त्री ने अपने भाई को लिखा था—

"ता० १ जनवरी सन् १८८० का शुभ दिन हमने अपनी विजय-पताका फहराने के लिए निश्चित किया है। हमारा जबर्दस्त तोपखाना (सहायक लोग) स्कूल को एकदम आगे बढ़ा ले जायगा।"

१ जनवरी के दिन विधिपूर्वक स्कूल का उद्घाटन हो गया। चिपलूणकर और तिलक—ये दो न्यू इंग्लिश स्कूल के संचालक-अध्यापक नियत किये गए। प्रारम्भ में इस स्कूल में केवल सातवीं कक्षा तक पढ़ाई की व्यवस्था की गई थी, परन्तु शीघ्र ही मैट्रिक तक की शिक्षा का प्रारम्भ हो गया। स्कूल की लोकप्रियता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि उद्घाटन के दिन छात्रों की जो संख्या उन्नीस तक परिमित थी, वह चार वर्ष के अन्त में एक हजार नौ तक पहुंच गई थी। शिक्षकों की योग्यता और शिक्षण की उत्तम व्यवस्था के कारण स्कूल की ख्याति इतनी बढ़ गई कि सरकार को भी उसकी ओर ध्यान देना पड़ा। सरकार ने उन दिनों सर विलियम हण्टर की अध्यक्षता में शिक्षा के विषय पर विचार करने के लिए एक आयोग (कमीशन) नियुक्त किया था। कमीशन जब पूना आया, तब हण्टर महोदय ने न्यू इंग्लिश स्कूल का निरीक्षण करके निम्नांकित सम्मति दी थी—

"इस स्कूल की उन्नति को देखकर मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि भारत-भर में इसके जोड़ की कोई संस्था मेरे देखने में नहीं आई। बिना सरकारी ग्राण्ट के लिये ही यह संस्था सरकारी हाईस्कूल से केवल बराबरी ही नहीं करती, प्रत्युत उससे भी श्रेष्ठ सिद्ध हो रही

है। अन्य देशों की संस्था से तुलना करने पर भी मैं इसे ही उनसे श्रेष्ठ समझता हूं।"

स्कूल को ऐसी आदरयोग्य दशा तक पहुंचाने का अधिकतर श्रेय तिलक को ही था। शास्त्रीजी अपने साहित्यिक कार्य में इतने उलझे हुए थे कि शिक्षण की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकते थे। शिक्षा और व्यवस्था का अधिकतर श्रेय उस स्वार्थत्यागी युवक-मण्डल को था, जिसके मुखिया बाल-गंगाधर तिलक थे। उनके अन्य सहायक आगरकर और नाम जोशी थे। १८८२ में विष्णु शास्त्री का देहान्त हो गया। उनके पश्चात् तिलक के नेतृत्व में न्यू इंगलिश स्कूल का संचालन होने लगा।

इस स्कूल के संचालकों के मुख्य रूप से दो लक्ष्य थे। पहला लक्ष्य तो यह था कि शिक्षा का दृष्टिकोण राष्ट्रीय हो, और दूसरा यह था कि वह भारत की आर्थिक परिस्थिति के अनुसार यथासम्भव कम खर्चीला हो। यह तभी सम्भव था, यदि स्कूल के संचालक स्वयं स्वार्थत्याग की भावना से प्रेरित होकर कार्य करें। चिपलूणकर, तिलक और उनके साथी इस दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त शिक्षक थे। स्वार्थत्याग उनका मूल-मन्त्र था।

: ५ :

'केसरी' और 'मराठा'

नवयुवक-मण्डल ने न्यू इंग्लिश प्रेस रोजगार की दृष्टि से नहीं खोला था। वह उनके उमड़ते हुए राष्ट्रीय स्वाधीनता के उफान का पहला परिणाम था। वह उफान इतना छोटा नहीं था कि केवल एक स्कूल की देगची में समा जाता। शीघ्र ही वह स्कूल की सीमाओं को पार करके आगे निकल गया और सार्वजनिक सेवा के विस्तृत क्षेत्र में फैलने लगा। १८८१ ई० के आरम्भ में 'मराठा' और 'केसरी' का प्रकाशन उसी उफान का दूसरा परिणाम था।

स्कूल के संचालकों में दो युवक ऐसे थे, जो पत्रकारिता के क्षेत्र में पांव रख चुके थे। 'निबन्ध-माला' ने श्रीविष्णु शास्त्री चिपलूणकर की धाक महाराष्ट्र के साहित्य पर पूर्णरूप से जमा दी थी। उनकी भाषा प्रौढ़ थी, लेख-शैली ओज से पूर्ण थी और प्रत्येक वाक्य पर निर्भयता और नवीनता की मुहर लगी होती थी। फलतः चिपलूणकर उस समय के उदीयमान मराठी लेखकों में अग्रगण्य माने जाने लगे थे। युवक-मण्डल के दूसरे सदस्य नाम जोशी कुछ समय से 'डेकन स्टार' नामक साप्ताहिक पत्र अंग्रेजी में निकाल रहे थे। ये दोनों महानुभाव और इनके तिलक, आगरकर आदि मित्र एक दिन रात के समय भोजन के पश्चात् देश की दशा पर बातचीत कर रहे थे। उसमें समाचार-पत्रों की चर्चा चल पड़ी। पूना से उस समय ज्ञानप्रकाश, किरण, शिवाजी, ज्ञानचक्षु आदि कई पत्र निकलते थे। उन्हें जनता का पत्र नहीं कहा जा सकता था। उनकी नीति ठण्डी थी और प्रचार परिमित था। बातचीत में यह विचार उद्भूत हो गया कि महाराष्ट्र में ऐसे पत्रों की आवश्यकता है, जो वस्तुतः सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हों। जहां वे जनता को देश की वास्तविक परिस्थिति समझाना अपना प्रथम कर्तव्य समझें वहां सरकार तक जनता के कष्टों और असुविधाओं को पहुंचाने में भय या लोभ के कारण प्रभावित न हों। युवक मित्रों में इस विषय पर सर्वसम्मति हो गई कि अंग्रेजी और मराठी में ऐसे निर्भीक साप्ताहिक पत्र निकाले जायं। उसी समय नामों का भी निश्चय हो गया। मराठी पत्र के लिए तिलक ने 'केसरी' नाम का सुझाव दिया और सर्वसम्मति

से वह नाम स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजी पत्र का नाम 'मराठा' रक्खा गया। नाम जोशी ने अपने 'डेकन स्टार' को मराठा में विलीन कर देने का निश्चय वहीं प्रकट कर दिया।

पत्रों के लिए प्रेस की व्यवस्था करना आवश्यक था। वह भी सुगमता से हो गई। केशव बल्लाल साठे नाम के सज्जन के पास एक प्रेस गिरवी रक्खा हुआ था। वह बेकार पड़ा था। नये पत्रों के लिए वह प्रेस किश्तों पर ले लिया गया। पत्रों के संचालकों के जोश की यह दशा थी कि रात-रात में प्रेस का सामान ढोकर नये स्थान पर पहुंचा दिया गया। स्वयं लोकमान्य तिलक ने पुरानी स्मृतियों को हरा करके कहा करते थे "मैंने स्वयं अपने इन कन्धों पर आर्य भूषण प्रेस के टाइप की पेटियां उठा-उठाकर ढोई हैं।" प्रेस का नाम 'आर्य भूषण' प्रेस रक्खा गया। प्रेस और पत्रों के कार्यालय के लिए स्थान मोरोवा दादा के बाड़े में लिया गया।

उपर्युक्त दोनों साप्ताहिक पत्रों और आर्य भूषण प्रेस के संचालकों की मनोभावना क्या थी, यह विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के इन शब्दों से प्रकट होगी। ये शब्द उन्होंने 'निबन्धमाला' में प्रेस के सम्बन्ध में सूचना देते हुए लिखे थे—

> 'गत वर्ष के उपसंहार में जिस प्रेस का उल्लेख किया गया था, वह यही आर्य भूषण प्रेस है, इसमें पूर्वोक्त विद्यालय (न्यू इंग्लिश स्कूल) की मण्डली ही भागीदार है, और उसीके परिश्रम से यह विशाल कार्य आरम्भ हुआ है। आजतक अन्यान्य व्यापारों की तरह प्रेस का धन्धा भी प्रायः अविद्वान् एवं गंवार लोग ही करते आये हैं, अतः अज्ञानान्धकार को नाश करनेवाले वज्ररूपी इस मुद्रण-यंत्र का प्रभाव यथेष्ट प्रमाण में नहीं पड़ सका। यदि यह बात अब भी हो जाय तो आज जो लोग निर्दयतापूर्वक अपनी शान दिखाते फिर रहे हैं, उनको मैनाक की तरह समुद्र के पेंदे में जाकर छुप जाना पड़ेगा।"

इस उद्धरण में वे सब प्रवृत्तियां बीज-रूप में विद्यमान हैं, जिनसे प्रेरित होकर 'केसरी' और 'मराठा' के संचालक सार्वजनिक जीवन की गहरी नदी में अपनी नौका छोड़ रहे थे। पत्र का 'केसरी' नाम रखने में तिलक की क्या भावना थी, यह उस श्लोक से प्रकट होगी, जो 'केसरी' के प्रथम पृष्ठ पर पहले दिन से अंकित हो रहा है। कवि गजराज से कहता है :

स्थितिन्नो रेवध्याः क्षणमपि मदान्धेक्षण सखे
गज श्रेणिनाथ त्वमिह जटिलायां वन भुवि।
असौ कुम्भिभ्रान्त्या खर निखर विद्रावित महा
गुरुग्रावग्रामः स्वपिति गिरिगर्भे हरिपतिः।

—हे मद से अन्धी हुई आंखोंवाले गजराज, तू इस बीहड़ वन में एक क्षण के लिए भी मत ठहरना। इस पर्वत गुफा में वह सिंहों का राजा सोया पड़ा है, जिसने हाथी की भ्रान्ति में बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने कठोर नखों से स्थानच्युत कर दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ का यह श्लोक तिलक महाराज की भावनाओं का प्रतीक था। सार्वजनिक जीवन की उस प्रभात वेला में, वह अपनी कल्पनामयी दृष्टि से भारत की राजनैतिक स्थिति का जो चित्र देख रहे थे, उसमें भारत पर्वत की उपत्यका में बसा हुआ एक बीहड़ जंगल था, शक्ति के मद में चूर ब्रिटेन गजराज था और भारत की कोटि-कोटि प्रजा सोया हुआ सिंहराज था। कवि के शब्दों में, तिलक ने, 'केसरी' के मुखपृष्ठ पर, गर्वित ब्रिटेन को चेतावनी दे दी थी कि सावधान, निश्चिन्त होकर न विचरना, जब देश की प्रजा नींद से उठ जायगी, तब तुम्हारी खैर नहीं। तिलक का लक्ष्य 'केसरी' द्वारा सोये हुए शेर को जगाना था। उनके शत्रुओं को भी मानना पड़ा है कि अपने लक्ष्य तक पहुंचने में लोकमान्य को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने जीवन-काल में जनता-रूपी शेर को न केवल जागता हुआ देख लिया, उसकी दहाड़ से समुद्र-पार के गर्वित गजराज को घबराकर कांपते हुए भी देख लिया।

'केसरी' का पहला पर्चा ४ जनवरी १८८१ के दिन निकला। 'मराठा' का पहला अंक उससे दो दिन पहले निकल गया था, इस कारण वह 'केसरी' का बड़ा भाई कहलाया। 'मराठा' निकाला भी गया था, बड़े भाइयों के लिए। उसका उद्देश्य अंग्रेजी पढ़े भारतवासियों के सामने घटनाओं के सम्बन्ध में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखना था। उसके लेख विचारात्मक होते थे और उनका विषय प्रायः राजनैतिक रहता था। 'मराठा' का उद्देश्य मुख्यरूप से ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों द्वारा फैलाये हुए विष का निवारण करना था। उसके मुख्य सम्पादक आगरकर थे।

'केसरी' प्रारम्भ से ही जनता का पत्र था। उसका लक्ष्य सोई हुई भारतीय प्रजा को जगाना था। प्रारम्भ से ही उसके राजनीति-सम्बन्धी लेखों और समाचारों में लोकमान्य तिलक की गम्भीर गर्जना सुनाई देती थी। राजनीति के अतिरिक्त धार्मिक और सामाजिक विषयों पर भी तिलक ही लिखा करते थे। साहित्य-सम्बन्धी लेख विष्णु शास्त्री के और सामाजिक तथा अर्थशास्त्र-सम्बन्धी लेख आगरकर के रहा करते थे। इनसब विषयों के रहते भी 'केसरी' का मुख्य ध्येय जनता में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करना था। उस समय पूना से 'ज्ञान-प्रकाश' सरीखे अन्य भी कई पत्र निकलते थे। 'केसरी' के लेखों में उनकी कड़ी आलोचना रहती थी। सरकार की

नीति और कार्यों की कड़ी टीका करने में 'केसरी' सबसे आगे था।

यद्यपि 'केसरी' तिलक का प्रारम्भिक और नये ढंग का आयोजन था तो भी हम कह सकते हैं कि जीवन-भर लोकमान्य के कार्य का जो रूप रहा, उसके सब बीज 'केसरी' के पहले अंकों में ही बोये गए थे। लोकमान्य की सब सार्वजनिक प्रवृत्तियां जहां एक ओर उनके स्वभाव की विशेषताओं से प्रभावित होती थीं, वहां साथ ही वे कुछ मौलिक सिद्धान्तों पर भी आश्रित होती थीं। कुछ आलोचक उनके स्वभाव की विशेषताओं से परेशान थे और ऐसे लोगों का भी अभाव नहीं था, जो उनके सम्मत सिद्धान्तों को भ्रममूलक मानते थे, परन्तु यह सभीको मानना पड़ता था कि लोकमान्य की प्रवृत्तियां आकस्मिक नहीं हैं। वे हवा के हल्के-हल्के झोकों से प्रभावित नहीं होतीं।

'केसरी' के प्रथम वर्ष के कुछ अंकों को पढ़ने से उसकी भावी नीति का आभास मिल जाता है। 'केसरी' के सातवें अंक के मुख्य लेख में 'बहिष्कार' की व्याख्या की गई थी। शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध करके कि 'बहिष्कार' एक प्रकार का दण्ड है, राजनीति में आवश्यकतानुसार उसका औचित्य दिखलाया गया था। लेख में इस प्रकार के वाक्य थे—"बिना झगड़ा किये इस समय कुछ भी नहीं मिल सकता।" "राजाज्ञा का प्रभाव लोकमत पर कभी पड़ ही नहीं सकता।"

आयरलैंड की स्थिति का वर्णन करते हुए 'केसरी' के सम्पादकीय लेख में लिखा गया था—

> "स्वातन्त्र्यरूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति के लिए नरमेध-यज्ञ को छोड़कर अन्य समस्त लौकिक साधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इस ऐतिहासिक सिद्धान्त को मिथ्या कौन कर सकता है?"

बाल 'केसरी' के इन छोटे-छोटे वाक्यरूपी बाणों में हम उन राजनैतिक महास्त्रों को बीज रूप में पाते हैं, जो भविष्य में देशव्यापी होकर क्रान्ति का रूप धारण करनेवाले थे। 'केसरी' के लेखों की ध्वनि यह थी कि केवल मांगने या प्रस्ताव पास करने से कुछ पढ़े-लिखे भारतवासी राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उनको प्राप्त करने के लिए नरमेध-यज्ञ तक करना पड़ेगा। उस नरमेध-यज्ञ में बहिष्कार, असहयोग, कानून-भंग और आवश्यक हो तो विद्रोह—सभी कुछ अन्तर्निहित था।

'मराठा', 'केसरी' का नर्म संस्करण था। 'केसरी' उकसाता था, 'मराठा' समझाता था। केवल सप्तक का भेद था, राग एक ही था।

> "इस वर्ष के आरम्भ में 'केसरी' की लगभग १८०० प्रतियां बिकती थीं, परन्तु कोल्हापुरवाले मामले के कारण सितम्बर मही ने

तक यह संख्या ३५०० पर जा पहुंची।"

कोल्हापुर-काण्ड की विशेष चर्चा अगले प्रकरण में की जायगी। यहां मूल मराठी में न० चि० केलकर द्वारा लिखित 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' (पूर्वार्द्ध) के पृष्ठ ११६ से उपर्युक्त अंश यह दिखाने के लिए अनूदित किया गया है, कि 'केसरी' ने प्रारम्भ से ही राजनीति में आलोचना की उग्र और स्पष्ट नीति को अपना लिया था, जिसके कारण महाराष्ट्र की सर्वसाधारण जनता में उसकी लोकप्रियता शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी थी। 'मराठा' भी उसके पीछे-पीछे सरक रहा था।

: ६ :

पहली जेल-यात्रा

यह उक्ति यथार्थ है कि राजनैतिक दासता से मुक्ति पाने के लिए देशभक्तों को जेल के द्वार से होकर गुजरना पड़ता है। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में कारागार के द्वार की सांकल खोलने का श्रेय जिस महापुरुष को पहले-पहल प्राप्त हुआ, वह लोकमान्य तिलक थे। इस दृष्टि से 'केसरी' और 'मराठा' का कोल्हापुर-काण्ड भारत के स्वाधीनता-संग्राम में अपने ढंग की पहली घटना था।

कोल्हापुर-काण्ड की कहानी सुनाने से पूर्व यह बतला देना आवश्यक है कि उस समय देसी रियासतों के प्रति महाराष्ट्र के निवासियों की भावनाएं क्या थीं? मुगल साम्राज्य की प्रभुता को तोड़ने के पश्चात् अंग्रेजों को जिस शक्ति से बड़ी टक्कर लेनी पड़ी, वह मराठा-राज्य-संघ था। पेशवा बाजीराव द्वितीय को पदच्युत हुए अभी केवल साठ वर्ष हुए और उनके उत्तराधिकारी नानासाहब को विलीन हुए केवल तेईस वर्ष बीते थे। इसी बीच महाराष्ट्र से सम्बन्ध रखनेवाले कई शासक पदच्युत हो चुके थे। फलतः महाराष्ट्र के निवासियों में और विशेष रूप से चितपावन ब्राह्मणों के हृदयों में मराठा-शक्ति के प्रति ममता और अंग्रेजी शासन के प्रति नाराजगी के भाव बहुत प्रबल थे। उनकी स्वाधीन राज्य की स्मृतियां अभी बुझी नहीं थीं। मराठा रियासतों के शासक उन्हें अपनी राज्य-सत्ता के प्रतीक-से प्रतीत होते थे। यदि उनके शासन में कोई त्रुटि दिखाई देती थी, तो लोगों का विश्वास था कि यह अंग्रेज रेजीडेण्ट या पोलिटिकल एजेण्ट के षड्यन्त्र का परिणाम है।

वस्तुतः दशा थी भी ऐसी ही। लार्ड डलहौजी के समय से देशी राज्यों के शक्ति-भंग का जो क्रम जारी हुआ था, वह १८५८ में ब्रिटेन की रानी द्वारा भारत के शासन को संभालने के पश्चात् भी प्रकारान्तर से चलता ही रहा। सन् ५८ के पश्चात् नरेशों को गद्दी पर से उतारना तो बन्द हो गया, परन्तु उनपर अंग्रेज अधिकारियों में रूप के ऐसे भारी पत्थर रख दिये गए कि उनके लिए सिर हिलाना तक कठिन हो गया। परिणाम यह हुआ कि देशी राज्यों के कुशासन के उत्तरदाता अंग्रेज अधिकारी हो गये और नरेश

लोग सहानुभूति के योग्य वन्दी समझे जाने लगे।

ऐसा एक दृष्टान्त बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़ का हुआ। उन्हें पागलपन और कुप्रवन्ध आदि के अनेक दोष लगाकर गद्दी से उतार दिया गया था। उनके अंग्रेजी सरकार द्वारा निर्णीत उत्तराधिकारी सयाजीराव अभी गद्दी पर वैठे नहीं थे। रियासत का सब कारोबार दीवान राजा सर टी० माधवराव के हाथों में था। सर टी० माधवराव अंग्रेजी सरकार के अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति थे। बड़ौदा में आने से पूर्व वह कई रियासतों में दीवान का कार्य करके अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे, परन्तु वड़ौदा में उन्हें कुछ ऐसे कार्यों का सूत्रधार बनना पड़ा, जिन्हें महाराष्ट्र के राजवंश के लिए अपमान-जनक समझा गया। 'केसरी' और 'मराठा' में जनता के भावों को बहुत जोरदार शब्दों में प्रकट किया गया। सर माधवराव पर यह आरोप लगाया गया कि वह वड़ौदा के राजवंश को अधिकारहीन वनाने में अंग्रेजी सरकार के औजार वन रहे हैं। महाराष्ट्र के अन्य पत्रों ने भी इस आन्दोलन में भाग लिया, परन्तु 'केसरी' और 'मराठा' के लेखों में जो जोर था, वह उनमें नहीं था। फिर भी यह मामला शाब्दिक आन्दोलन तक ही रहा, उसका कोई ठोस परिणाम न निकला। यथासमय सयाजीराव गायकवाड़ राजगद्दी पर आसीन हो गये। उन्होंने अपने शासन-काल में शासन-सुधार, शिक्षा-प्रचार और समाज-सुधार के कार्यों द्वारा न केवल देश-विदेश में रियासती शासकों की प्रतिष्ठा को पुनर्जीवित कर दिया, अपितु सुधारों के साहसपूर्ण प्रयोग द्वारा अंग्रेजी सरकार को भी लजा दिया।

वड़ौदा-प्रकरण तो सुख-चैन से निकल गया, परन्तु कोल्हापुर-प्रकरण में प्रारम्भ से ऐसी असम्भावित पेचीदगी उत्पन्न हो गई कि वह भारत की स्वाधीनता के इतिहास का एक स्मरणीय परिच्छेद वन गया। वहां के महाराज शिवाजीराव के बारे में यह प्रसिद्ध कर दिया गया कि वह पागल हैं। सर्व-साधारण का यह विचार था कि सरकार की दृष्टि में महाराज को बुरा बनाने का उत्तरदायित्व वहां के कारवारी रायवहादुर माधवराव बर्वे पर है। सन्देह का कारण यह था कि महाराज के पागल माने जाने की दशा में शासन की सत्ता कारवारी दीवान के हाथ में चली गई थी। सन्देह जब जन-साधारण तक पहुंच जाता है और कुछ समय तक चलता रहता है, तो उसे निश्चय का रूप धारण करते देर नहीं लगती। महाराष्ट्र की जनता को विश्वास हो गया कि शिवाजीराव सर्वथा स्वस्थ और सचेत हैं, बर्वे ने और सरकार ने अपनी चालवाजियों से उन्हें पागल बना रक्खा है। पूना के समाचार-पत्रों में इस प्रकार की चर्चा निरन्तर होने लगी। २३ नवम्बर

१८८१ को पूना में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें कोल्हापुर के एक सम्मानित नागरिक नानासाहब भिडे ने, जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यह था कि कोल्हापुर-नरेश असल में पागल नहीं हुए हैं, बल्कि उनपर यह व्यर्थ दोष लगाकर अधिकारियों ने जनता को धोखा दिया है। इसमें महाराज के दत्तक वंश की एक माता भी शामिल है और उसीकी प्रेरणा से महाराज का स्त्री-पुत्रादि से निर्दयतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद किया गया है। महाराज को कारावास में भी बहुत कष्ट दिये जा रहे हैं, जिससे आशंका होती है कि शायद डाक्टर लोगों से मिलकर कारावास में महाराज के प्राण ले लिये जायं।

इस प्रकार समाचार-पत्रों, सभाओं और चर्चा द्वारा लोगों के मन अत्यन्त उत्तेजित हो चुके थे, जब नानासाहब भिडे ने कुछ पत्र लाकर पूना के सम्पादकों को दिये। वे पत्र बर्वे के बतलाये गए। उनसे वे सब आरोप सच्चे सिद्ध होते थे, जो बर्वे पर लगाये जाते थे। सम्पादकों को और क्या चाहिए था! ऐसी जोरदार सामग्री मिलने पर सम्पादक उसे प्रकाशित करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता। वे पत्र पूना के 'ज्ञानप्रकाश' आदि अनेक पत्रों में प्रकाशित हो गये। 'केसरी' और 'मराठा' में वे पत्र 'ज्ञानप्रकाश' के पश्चात् छापे गये। विशेषता यह रही कि 'केसरी' ने बर्वे को अदालत में जाकर पत्रों को झूठा सिद्ध करने की चुनौती भी दे दी। असल बात यह थी कि पत्र जाली थे, पर इस बात को सम्पादक लोग समझ न सके। बर्वे को बदला लेने का मौका मिल गया। उसने पांच व्यक्तियों पर मान-हानि का दावा कर दिया। इन पांच पर अभियोग चलाया गया—१. नाना भिड़े, २. केशवनारायण बाखले। इन दोनों पर व्यक्तिगत अभियोग था। ३. वामन गोविन्द रानडे, सम्पादक 'ज्ञानप्रकाश', ४. बाल गंगाधर तिलक, 'केसरी-सम्पादक' और ५. गोपाल गणेश आगरकर, 'मराठा'-सम्पादक। अभियोग चलने पर तिलक और आगरकर को मालूम हो गया कि पत्र झूठे थे। ऊंची सम्पादकीय परम्परा के अनुसार दोनों ने झूठे पत्रों को सच्चे समझकर छापने का अपराध अदालत के सामने स्वीकार कर लिया, परन्तु बर्वे को तो पूरा बदला चुकाना था। उसने अभियोग वापस न लिया। अन्त में तिलक और आगरकर पर अभियोग चलता रहा, यद्यपि अन्य कई अभियुक्तों की क्षमा-याचना स्वीकार कर ली गई। अन्त में जज ने १७ जुलाई १८८२ के दिन फैसला सुनाते हुए तिलक, आगरकर और बाखले को चार-चार महीने की सादी कैद और भिडे और रानडे को दो-दो वर्ष की सादी कैद और एक-एक हजार रुपये जुर्माना का दण्ड सुनाया।

अन्य अभियुक्तों के लिए यह केवल एक अभियोग था, पर तिलक महाराज और 'केसरी' के जीवन में यह एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस पहली सजा ने उन दोनों के जीवन के लिए वहार का काम दिया। इसने लोकमान्य का जीवन उस पटरी डाल दिया, जिसपर वह अगली आयु में निरन्तर चलता रहा और 'केसरी' की लोकप्रियता का वह दौर आरम्भ कर दिया, जो स्वाधीनता के संग्राम में भारत के समाचार-पत्रों के लिए अनुकरण और डाह का विषय बना रहा। महाराष्ट्र की जनता तिलक महाराज को अपना वीर पथ-दर्शक मानने लगी और 'केसरी' उनके हृदयों का प्रतिनिधि बन गया। अभियोग की क्षतिपूर्ति के लिए लोगों ने पुष्कल धनराशि तो एकत्र की ही, तिलक और आगरकर के एक सौ एक दिनों के पश्चात् जेल से छूटने पर उनका पूना में जो शानदार स्वागत हुआ, वह इस बात का प्रमाण था कि जनता निर्भय देशभक्ति और आदर्श के लिए कष्ट-सहन के मूल्य को खूब पहचानती है।

बम्बई की डोंगरी-जेल से मुक्त होने पर तिलक और आगरकर का जनता की ओर से बहुत शानदार अभिनन्दन किया गया। जेल के द्वार पर हजारों नर-नारी एकत्र हो गये थे। दोनों को गाड़ी में बिठाकर जलूस के साथ नगर में घुमाया गया। शोभायात्रा का स्थान-स्थानपर भव्य स्वागत हुआ। जब दोनों मित्र बम्बई से पूना पहुंचे तब तो उनका विजयी सेना-पतियों की भांति स्वागत हुआ। स्टेशन जनता से ठसाठस भरा हुआ था। नगर में जलूस निकाला गया और सायंकाल के समय मोरोदादा के बाड़े में सार्वजनिक सभा द्वारा उनका 'इत्रपान' कराया गया।

: ७ :

मतभेद और त्याग-पत्र

निर्बल मनोवृत्ति के साधारण व्यक्तियों और दृढ़ मनोवृत्ति के जन-नेताओं में मुख्य भेद यह होता है कि जहां साधारण व्यक्ति साथ काम करने-वाले लोगों से मौलिक मतभेद हो जाने पर पुरानी लीक को छोड़कर अलग होने का यत्न नहीं करते और असहमत होते हुए भी चलते प्रवाह में बह जाते हैं, वहां जननेता सिद्धान्त-सम्बन्धी मतभेद होने पर या तो साथियों को अपने पीछे लगा लेते हैं, अथवा त्यागपत्र द्वारा उनसे सम्बन्ध-विच्छेद करके साहस का परिचय देते हैं। व्यवहार में समझौता ठीक है, परन्तु जब मतभेद के कारण मौलिक हों तब अलग हो जाना आवश्यक हो जाता है: परन्तु यह हरेक के वस का नहीं। उसके लिए मित्रों से वियोग, मिली हुई गद्दियों और सुखी जीवन का परित्याग करना पड़ता है। ऐसा परित्याग निर्बल हृदयों के वस का नहीं, उसके लिए फौलाद की इच्छा-शक्ति और तपश्चर्या की शक्ति चाहिए। ऐसे अवसरों पर सार्वजनिक कार्यकर्ताओं की परीक्षा हुआ करती है। यदि वे साहस के अभाव में खाई के इस पार ही पड़े रहे तो भीड़ के एक व्यक्ति बने रहते हैं, परन्तु यदि उन्होंने साहसपूर्ण छलांग लगाकर खाई को पार कर लिया तो सार्वजनिक जीवन की अगली पंक्ति में जा पहुंचते हैं। पर लोकमान्य तिलक के जीवन में परीक्षा का अवसर आने में देर न लगी। घटना-चक्र ऐसी प्रगति से चला कि अगले आठ वर्षों के समय में तिलक के सामने सार्वजनिक जीवन की सबसे कठिन समस्या आकर खड़ी हो गई। उन्हें यह निश्चय करना पड़ा कि जिस भवन को उन्होंने स्वयं परिश्रम से खड़ा किया है, उसे छोड़ें या नहीं और जिन मित्रों के साथ मिलकर देश-सेवा के स्वप्न देखे, संकल्प वनाये और जेल-यात्रा की है, उनका परित्याग करें या नहीं।

मतभेद के दो आधार वने। पहला मतभेद शिक्षणालय के सम्बन्ध में उत्पन्न हुआ। तिलक और आगरकर की जेल-यात्रा का पहला परिणाम यह हुआ कि न्यू इंगलिश स्कूल की लोकप्रियता वहुत बढ़ गई। स्कूल की सफलता से उसके संचालकों का यश और प्रभाव बढ़ा तो संचालकों की लोकप्रियता ने स्कूलों की ख्याति को चार चांद लगा दिये। उत्साहित होकर

संचालकों ने अपनी योजना को विस्तृत और स्थायी बना देने के विचार से 'डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी' (दक्षिण शिक्षा समाज) नाम की संस्था संगठित करने का निश्चय किया। सहानुभूति रखनेवाले सज्जनों की एक सभा बुलाई गई, जिसमें उपस्थित होनेवालों में प्रान्त के कई प्रतिष्ठित नेता थे। सर विलियम वेडरबर्न, न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे, डाक्टर आर० जी० भण्डारकर, श्री एम० एस० कुन्ते आदि महानुभावों ने सभा में भाग लिया और सोसायटी की स्थापना के प्रस्ताव का समर्थन किया। सोसायटी की स्थापना का प्रस्ताव स्वयं तिलक ने पेश किया और वह सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ। बम्बई के गवर्नर सर जेम्स फर्गुसन ने स्कूल को देखा और प्रसन्न होकर उसमें कार्य करनेवाले आजीवन सदस्यों की सहायता में १२५०) रु० की राशि दान की।

सोसायटी एक ट्रस्ट के रूप में स्थापित हो गई। उसने पहला निश्चय यह किया कि न्यू इंग्लिश स्कूल को बढ़ाकर कॉलिज के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। सर जेम्स फर्गुसन की सहानुभूति ने सोसायटी के सदस्यों को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने प्रस्तावित कॉलिज का नाम फर्गुसन कॉलिज रखने का फैसला किया और फर्गुसनसाहब कॉलिज के प्रथम संरक्षक मनोनीत किये गए। कालिज के प्रथम प्रिन्सिपल प्रो० आप्टे नियत हुए। वह संस्कृत के प्राध्यापक भी थे। प्रो० आगरकर इतिहास और न्याय-दर्शन के, प्रो० गोले भौतिकी के और प्रो० तिलक गणित के शिक्षक हुए। कुछ समय तिलक के दृष्टान्त से प्रभावित होकर श्री गोपालकृष्ण गोखले भी कॉलिज के शिक्षक-मण्डल में आ गये। ये सब नवयुवक सोसायटी के आजीवन सदस्य के तौर पर कार्य कर रहे थे।

इस सारे शिक्षा-सम्बन्धी आयोजन के संचालकों का दृष्टिकोण यह था कि देश के कल्याण के लिए शिक्षा का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है, और शिक्षा में भी उस समय अंग्रेजी का शिक्षण अनिवार्य रूप से उपयोगी माना जाता था। इस कारण नवयुवक देशभक्त प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा को सस्ता और अधिक उपयोगी बनाने में जुट गये। अन्य शिक्षण-संस्थाओं से सोसायटी के संचालकों में बड़ी विशेषता यह थी कि जहां अन्य शिक्षणालयों के शिक्षक पेशा समझकर काम करते थे, वहां इन नवयुवकों का लक्ष्य देश-सेवा था। इसी दृष्टिकोण से आजीवन सदस्यता की योजना जारी की गई थी। सोसायटी के सदस्यों की लिए ७५) मासिक दक्षिणा रक्खी गई और यह निश्चय भी किया गया कि उनका ३०००) का बीमा करा दिया जाय। विशेष आवश्यकता होने पर विशेष आर्थिक सहायता देने की व्यवस्था भी रक्खी गई थी। सोसायटी बनने से बहुत समय तक चिपलूणकर,

तिलक, आगरकर आदि शिक्षक बिना कुछ लिये ही कार्य करते रहे थे। जब आप्टे, केलकर, गोले और गोखले आदि अन्य युवक भी सोसायटी में सम्मिलित हो गये, तब उनके निर्वाहार्थ दक्षिणा देने की व्यवस्था आवश्यक समझी गई। यह नियम अलिखित होते हुए भी सम्मत समझा गया कि आजीवन सदस्य यदि कालिज के अतिरिक्त अन्यत्र किसी प्रकार का कार्य करके कुछ कमायेंगे तो वह सोसायटी को ही दे देंगे। सोसायटी के सामने आजीवन सदस्यों के नियम स्वयं तिलक महाराज ने उपस्थित किये थे।

कुछ समय के पीछे आर्थिक प्रश्न को लेकर आजीवन सदस्यों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गया। तिलक का मत यह था कि सोसायटी के आजीवन सदस्य यदि सोसायटी के कोष से निर्वाह-दक्षिणा लें तो उन्हें बाहर के काम से की हुई कमाई अपने पास न रखनी चाहिए, अपितु सोसायटी के कोष में दे देनी चाहिए। आप्टे सोसायटी में आने से पहले पाठ्य-पुस्तकें लिखते थे। वह उस कार्य को छोड़ने को उद्यत नहीं थे और न उन पुस्तकों की आय सोसायटी को देने के पक्ष में थे। तिलक आप्टे के इस व्यवहार को सोसायटी के नियमों की भावना के विरुद्ध समझते थे। आगरकर और गोखले आप्टे से सहमत थे। उनका मत था कि यदि सोसायटी का कोई आजीवन सदस्य सोसायटी के बाहर कोई लोक-हितकारी कार्य करे और उससे सोसायटी के शिक्षा-सम्बन्धी कार्य में बाधा न पड़ती हो तो सदस्य को उससे प्राप्त होनेवाली धनराशि को अपने पास रखने का अधिकार होना चाहिए।

यह मतभेद लगभग तीन वर्षों तक अन्दर ही सुलगता रहा। अन्त में १८९० में तिलक ने एक लम्बा पत्र लिखकर उस विवाद को सोसायटी के सामने पेश कर दिया। उस पत्र में लोकमान्य ने यह बतलाते हुए कि सोसायटी का मूल आधार स्वार्थ-त्याग है, यह मत प्रकट किया कि सोसायटी के सदस्यों की सब प्रवृत्तियों का केन्द्र केवल सोसायटी का कार्य होना चाहिए। सोसायटी के जो सदस्य इस मूल सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं करना चाहते, उनके व्यवहार पर घोर असन्तोष प्रकट करते हुए उन्होंने यह सूचना दी—

> "यदि सोसायटी नियमों की मेरी की हुई व्याख्या को स्वीकार करे तो ठीक है, अन्यथा मेरा त्याग-पत्र स्वीकार किया जाय, क्योंकि ऐसी दशा में आप लोगों के साथ मेरे कार्य करते रहने से शान्ति नहीं रह सकेगी और हम निरन्तर आपस में झगड़ते रहेंगे।"

जबतक वादविवाद जारी रहा, तिलक महाराज योद्धाओं की तरह अपने पक्ष पर अड़े रहे और त्याग-पत्र की स्वीकृति पर जोर देते रहे, परन्तु जब

त्यागपत्र स्वीकृत हो गया और सोसायटी के सदस्यों से विदा होने का समय आया, तब उस आजीवन योद्धा का मानवीय पहलू प्रकट हो गया। तिलक ने उठकर जाने से पूर्व कुछ कहना चाहा, पर उमड़ते हुए आंसुओं ने जिह्वा पर ताला लगा दिया और कमरे से बाहर जाते-जाते आंखों के रास्ते से वह निकले। उस समय तिलक के उन विरोधियों ने भी, जो उन्हें केवल रूखा और कठोर सिपाही समझे हुए थे, अनुभव किया कि कठोर रूप उस भावुक हृदय व्यक्ति का वाह्य कवच-मात्र है, जो निर्बलताओं से ऊपरी रक्षा करता है, कवच के अन्दर धड़कनेवाला हृदय किसी कवि से कम स्पंदनशील नहीं। जिस संस्था को तिलक ने इतनी भावना से खड़ा किया था, जिन साथियों के साथ जीवन-भर देश-सेवा का प्रण किया था, उनसे बिछुड़ना होना, एक सहृदय के लिए साधारण चोट नहीं थी। अपने सिद्धान्तों की खातिर तिलक महाराज ने उसे भी सह लिया।

इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जब तिलक महाराज ने मतभेद के कारणों पर प्रकाश डालने के लिए सोसायटी को एक पत्र लिखा तो सोसायटी के सदस्यों ने उनकी अनुपस्थिति में उनपर निन्दात्मक प्रस्ताव स्वीकार कर दिया, जिससे त्यागपत्र और सम्बन्ध-विच्छेद अनिवार्य हो गये। इस त्यागपत्र के कारण बहुत-से आलोचकों ने तिलक पर असहिष्णुता का दोष लगाया है, परन्तु अनुपस्थिति में निन्दात्मक प्रस्ताव स्वीकार करने से प्रतीत होता है कि दूसरी ओर भी असहिष्णुता कुछ कम नहीं थी। अन्य सदस्य भी सम्भवतः तिलक के ओजस्वी व्यक्तित्व से पिण्ड छुड़ाना चाहते थे।

: ८ :

आगरकर से विरोध

यों तो मनुष्य का जीवन समझौतों से भरा हुआ है। जीवन को अपने वातावरण के साथ मनुष्य के समझौतों की लड़ी कह सकते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य और असाधारण मनुष्य के समझौतों में सीमाओं की रेखा भिन्न होती है। साधारण मनुष्य के जीवन में समझौतों का क्रम बिना किसी रुकावट के चलता जाता है। वह इतना निर्विरोध चलता है कि साधारण मनुष्य का व्यक्तित्व वातावरण में विलीन हो जाता है। इसके विपरीत असाधारण मनुष्यों के समझौते की सीमा बहुत कड़ी होती है। कुछ दूर तक गौण बातों में समझौता करने के पश्चात् एक ऐसा स्थान आता है, जहां वह वातावरण के साथ समझौता करने से इन्कार कर देता है। तब प्रायः वातावरण को ही उसके साथ समझौता कर लेना पड़ता है। यह तभी सम्भव है, जब इस मनुष्य का व्यक्तित्व बहुत प्रबल हो, वह आस-पास की विरोधी शक्तियों की चोटों से टूट न जाय और उनपर हावी होने की सामर्थ्य रखता हो, अन्यथा वह परिस्थितियों से पराजित होकर निकम्मा हो जाता है। उसे सार्वजनिक दृष्टि से नगण्य समझ सकते हैं।

लोकमान्य तिलक उन असाधारण मनुष्यों में से थे, जिनकी समझौते की अन्तिम सीमा बहुत निकट थी। वह वातावरण को बनाना चाहते थे, उसमें विलीन होना नहीं चाहते थे। उसके पहले एक दृष्टान्त—एज्यूकेशन सोसायटी से त्यागपत्र—की चर्चा पहले अध्याय में हो चुकी है। दूसरा दृष्टान्त 'केसरी' और 'मराठा' के सम्पादकीय कार्य में प्रो० आगरकर से अलहदगी के रूप में उपस्थित हुआ। वह भी लगभग उतना ही भावपूर्ण था, जितना कि पहला।

आगरकर और तिलक छात्रावस्था से ही अत्यन्त निकट के मित्र थे। वे न केवल साथ-साथ-साथ रहते, खाते-पीते और खेलते थे, वे साथ-साथ भविष्य के स्वप्न लेते और सोचते भी थे। दोनों ने सारा जीवन देश की सेवा में व्यतीत करने के मनसूबे आपस में मिलकर ही बांधे थे। न्यू इंगलिश स्कूल, 'केसरी' और 'मराठा' की स्थापना और संचालन में दोनों की भावनाओं और प्रयत्नों का समान भाग था। दोनों की यह दशा

थी कि उन्हें एक आत्मा और दो शरीर कहा जा सकता था।

इतनी अधिक समानता के होते हुए भी समाज-सुधार के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही दोनों का मतभेद था। तीसरे अध्याय में, बीजरूप में इस मतभेद की चर्चा हो चुकी है। भोजन करते हुए कैसा कपड़ा पहना जाय? ऐसे साधारण प्रश्न पर दोनों मित्रों में देर तक वाद-विवाद चलता रहता था। उस वाद-विवाद से यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि दोनों मित्रों की मनोवृत्तियों में एक मौलिक मतभेद है। दोनों देश की पराधीनता से हार्दिक घृणा करते थे और पराधीनता की जंजीरों को काटने में अपना जीवन लगा देना चाहते थे। यह तो थी दोनों की समानता, और असमानता यह थी कि जहां तिलक जंजीरों को काटनेवाली छैनी को भारत की प्राचीन संस्कृति में से तलाश करना चाहते थे, वहां आगरकर उसको खरीदने या उधार लेने के लिए कहीं भी जाने को तैयार थे। यह मौलिक मतभेद व्यवहार में आकर अधिक स्पष्ट और विस्तृत होता गया। 'केसरी' और 'मराठा' के संयुक्त सम्पादकत्व ने उसे पनपने का अवसर दे दिया। दोनों पत्रों के पढ़नेवाले प्रारम्भ से ही यह देखकर अचरज करते होते थे कि जहां राजनीति में दोनों पत्रों के सम्पादकीय लेखों का दृष्टिकोण एक-सा होता है, वहां समाज-सुधार के मामलों पर प्रायः दो तरह की आवाजें सुनाई देती थीं। एक आवाज थी तिलक की। 'केसरी' के एक सम्पादकीय लेख में लिखा गया था—"व्यर्थ में ही धर्म के विषय में हस्तक्षेप करके लोगों के चित्त दुखाने का इरादा 'केसरी' का नहीं है और न प्रार्थना-समाज, ब्रह्म-समाज या आर्य-समाज आदि के झगड़े में वह स्वेच्छापूर्वक पड़ना चाहता है। किन्तु फिर भी व्यवहार-दृष्टि से अपना मत प्रकट कर देना उसे आवश्यक जान पड़ता है।" प्रारम्भ से ही तिलक महाराज का दृष्टिकोण यह था कि देशभक्तों के सामने सबसे प्रथम कार्य देश को राजनैतिक दासता से मुक्त कराने का है, समाज-सुधार के कार्य को उसमें नहीं उलझाना चाहिए। इस प्रसंग में उनका दूसरा मन्तव्य यह था कि समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए कानून या राजदण्ड की सहायता नहीं ली जानी चाहिए। ज्यों-ज्यों शिक्षा फैलती जायगी, सामाजिक रोग स्वयं ही दूर होते जायंगे।

दूसरी ओर जो लोग समाज-सुधार को प्राथमिकता देनेवाले थे, उनकी सम्मति थी कि जबतक जाति के सामाजिक दोष दूर न होंगे, तबतक राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त होना सम्भव नहीं। वे समाज-सुधार को इतना आवश्यक और महत्वपूर्ण मानते थे कि उसके लिए कानून की सहायता लेने में दोष नहीं देखते थे। उस तरह के नेता श्री महादेव गोविन्द रानडे और डाक्टर भंडारकर जैसे विद्वान् और प्रभावशाली व्यक्ति थे। गोपालकृष्ण

गोखले और आगरकर उनके शिष्य के समान थे।

इन दोनों विचारधाराओं के सामयिक और मनोवैज्ञानिक कारणों का और गुणावगुण का विवेचन पृथक् अध्याय में किया जायगा। यहां तो इनका निर्देश 'केसरी' के हस्तान्तरित होने के प्रकरण में किया गया है। कई प्रारम्भिक वर्षों में 'केसरी' में दोनों प्रकार के विचार प्रकाशित होते रहे। पाठक समझ जाते थे कि समाज-सुधार को पहला स्थान देनेवाले लेख आगरकर की लेखनी से निकलते थे और उनके विरोधी लेखों के लेखक तिलक थे। केवल सिद्धान्त रूप में यह नोक-झोंक देर तक चलती रही। १८९० के अन्तिम भाग में एक ऐसा प्रसंग छिड़ गया, जिसने उस नोक-झोंक को उग्र मतभेद का रूप दे दिया। बम्बई के प्रसिद्ध समाज-सेवी विद्वान् वइरामजी मलवारी ने वायसराय को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में एज ऑव कन्सेण्ट बिल नाम का विधेयक उपस्थित करने का सुझाव दिया। उस बिल के मुख्य भाग ये थे—१. बारह वर्ष से कम आयु के बालक-बालिका का सहवास अपराध माना जाय, २. यदि किसी बालिका का विवाह बहुत छोटी आयु में हुआ हो तो बालिग होने पर उसे सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार होना चाहिए, और ३, जिस पुरुष ने नाबालिग बालिका से विवाह किया हो, उसे अधिकार नहीं होगा कि वह पत्नी को साथ रहने के लिए बाधित करने का दावा कर सके।

बाल-विवाहों से जाति को जो हानि पहुंच रही थी और उनकी संख्या में वृद्धि का जो क्रम चल रहा था, उन्हें देखते हुए बिल बहुत ही नर्म था। कालचक्र ने सिद्ध कर दिया है कि अन्त में बाल-विवाह, बहुविवाद आदि की बुराइयों को रोकने के लिए कानून का आश्रय लेना पड़ा, परन्तु उस समय महाराष्ट्र में उस बिल को लेकर भयंकर वाक्-युद्ध प्रारंभ हो गया। जस्टिस रानडे, डा० भंडारकर आदि वयोवृद्ध सुधारक उसके समर्थक थे, और चिपलूणकर, तिलक आदि नवयुवक उसके विरोधी। आगरकर और गोखले की सहानुभूति सुधारक दल के साथ थी। गोखले तो जस्टिस रानडे के पट्टशिष्य समझे जाते थे। 'केसरी' में बिल-विषयक मतभेद इस रूप में प्रकट होता था कि आगरकर उसके समर्थन में और तिलक उसके विरोध में लिखते थे।

उन्हीं दिनों एक और प्रसंग ऐसा आ गया कि दोनों मनोवृत्तियों की टक्कर हो गई। जिन दिनों स्त्रियों की शिक्षा एक दुर्लभ वस्तु थी, पण्डिता रमाबाई ने अपनी असाधारण योग्यता के कारण भारत-व्यापी नाम कमा लिया था। उन्होंने विद्वत्ता के लिए विख्यात एक ब्राह्मण-परिवार में जन्म लिया था। वह छोटी आयु में, विवाह के कुछ ही समय बाद, विधवा हो गई

वह संस्कृत में ऐसा धाराप्रवाह भाषण देती थीं और लेख भी लिखती थीं कि देश के अनेक सुधारकों का ध्यान अनायास ही उधर खिंच गया। टैगोर-परिवार ने उन्हें विशेष रूप से अपनाया और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन्हें अनेक संस्कृत पत्र लिखकर वैदिकधर्मी बनाने का यत्न किया, परन्तु धीरे-धीरे वह ईसाई पादरियों के प्रभाव में आ गईं। पादरी लोग उन्हें अंग्रेजी की शिक्षा देने के लिए इंग्लैण्ड ले गये, जहां वह विधिपूर्वक ईसाई हो गईं। भारत में वापस आकर उन पण्डिता ने 'शारदा-सदन' नाम की एक संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य विधवाओं की रक्षा तथा स्त्रियों को शिक्षित करना घोषित किया गया। किसीको यह सन्देह न हो कि संस्था का मुख्य लक्ष्य ईसाई धर्म का प्रचार करना है, इस निमित्त से प्रारम्भ में यह घोषणा कर दी गई कि उसका उद्देश्य ईसाइयत की शिक्षा देना नहीं है।

प्रारम्भ से ही रमाबाई के मन में ईसाइयत की शिक्षा देने की भावना छुपी हुई थी, या इंग्लैण्ड तथा अमरीका से प्राप्त होनेवाली आर्थिक सहायता ने उसे उद्बुद्ध कर दिया, यह कहना तो कठिन है, परन्तु कालान्तर में यह प्रसिद्ध हो गया कि शारदा-सदन में आश्रय पानेवाली अनेक स्त्रियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। प्रसिद्धि शायद अप्रामाणिक ही समझी जाती, यदि न्यूयार्क के 'क्रिश्चियन वीकली' नाम के पत्र ने यह बात प्रकट न कर दी होती कि 'शारदा-सदन' की दो नौजवान महिलाओं ने ईसाई धर्म की शरण में आने की इच्छा प्रकट की है।

इसपर 'केसरी' में रमाबाई और 'शारदा-सदन' के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन जारी हो गया। जस्टिस रानडे, डाक्टर भंडारकर आदि सुधारक लोग पण्डिता रमाबाई की ईसाइयत-प्रचार की नीति के समर्थक न होते हुए भी उनके स्त्री-जाति के उत्थान के प्रयत्नों के समर्थक थे। रमाबाई-प्रकरण में वे लोग भी 'केसरी' की समालोचना के कुठाराघात के नीचे आ गये।

बालविवाह-निरोध-सम्बन्धी बिल का विरोध केवल समाचार-पत्र के पृष्ठों तक ही परिमित न रहा। उसके विरुद्ध पूना और बम्बई में सार्वजनिक सभाएं भी हुईं, जिनमें लोकमान्य तिलक ने प्रमुख भाग लिया। वह बिल-विरोधी दल के नेता माने जा रहे थे।

आगरकर की सहानुभूति सुधारक दल के साथ थी और तिलक सुधारक दल के कट्टर विरोधी थे। स्वाभाविक ही था कि दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते थे। मतभेद की जो खाई शिक्षा के क्षेत्र में बननी आरम्भ हुई थी; वह समाज-सुधार के क्षेत्र में पहुंचकर बहुत चौड़ी हो गई, जिसका परि-

णाम यह हुआ कि 'केसरी' और 'मराठा' दोनों का सर्वाधिकार तिलक को सौंपकर आगरकर अलग हो गये। वह मुख्य रूप से शिक्षा के कार्य में लग गये। इधर तिलक बन्धनों से मुक्त होकर, सर्वात्मना महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में कूद पड़े।

: ६ :

लोकमान्य समाज-सुधार के विरोधी थे ?

लोकमान्य द्वारा बाल-विवाह-निरोधक बिल का विरोध खड़ा किये जाने के कारण इस चर्चा का फैल जाना स्वाभाविक था कि वह समाज-सुधार के विरोधी और कट्टर सनातनी हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखों की भाषा में वह प्रतिक्रियावादी प्रसिद्ध किये गए। वाद-विवाद की गर्मी में कुछ भी प्रसिद्ध हुआ हो, अब इतना समय व्यतीत हो जाने पर, शान्त मस्तिष्क से इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि क्या लोकमान्य तिलक सचमुच समाज-सुधार के विरोधी थे ?

यह प्रश्न वस्तुतः विचारणीय है। इसके कई आधार हैं। यदि लोकमान्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भगवद्गीता रहस्य' तथा उनके समाज-सुधार-सम्बन्धी लेखों एवं भाषणों का सावधानी से अध्ययन किया जाय तो यह धारणा नहीं बनती कि वह लीक के पुजारी थे। गीता के सिद्धान्तों के विवेचन में उन्होंने खूब दिल खोलकर विचार-स्वातन्त्र्य का परिचय दिया है। शंकराचार्य-जैसे सर्वमान्य आचार्य की व्याख्यान-शैली का विरोध करना दकियानूसी मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। उन्होंने 'भगवद्गीता-रहस्य' में तत्त्वों का विवेचन सर्वथा स्वतन्त्र दार्शनिक पद्धति से किया है, लकीर पीटने का काम नहीं किया। जो व्यक्ति, युक्तियों के बल पर, शंकराचार्य और जेम्स स्टुअर्ट मिल दोनों के मन्तव्यों का डटकर आंशिक खण्डन कर सकता है, उसे प्रतिक्रियावादी कैसे कह सकते हैं ?

हम लोकमान्य के लेखों और भाषणों से कुछ उद्धरण यहां देते हैं। उनसे स्पष्ट हो जायगा कि वह विचार-स्वातन्त्र्य अथवा समाज-सुधार के विरोधी नहीं थे। विरोध का एक कारण तो यह था कि वह सरकार की सहायता से समाज-सुधार कराना अनुचित मानते थे और दूसरा कारण यह था कि वह सबसे पहले देशवासियों की शक्ति को स्वाधीनता प्राप्त करने में लगाना चाहते थे। सम्मति-वय-विषयक बिल (एज ऑव कन्सेण्ट बिल) के सम्बन्ध में बिल के समर्थकों की ओर से जो वक्तव्य निकला था, उसके उत्तर में बालगंगाधर तिलक, गोपाल विनायक जोशी, वासुदेव गणेश जोशी, चिपलूणकर आदि कई प्रमुख व्यक्तियों की ओर से एक उप-सूचना प्रकाशित

हुई थी। उसमें कहा गया था :

"आप लोगों के सरकार के निकट आवेदन-पत्र भेजने के निश्चय पर हमारा केवल यही निवेदन है कि कानून को अनावश्यक बतलाने-वाले लोगों का कथन तो आप सरकार को सूचित करेंगे, किन्तु यदि किसी व्यक्ति का किसी एक विषय में सुधार करने का निश्चय ही, और उसे कई अनुयायी भी मिल जायं तो उनमें से जो वचन-भंग करे तो उसे सरकार से सजा दिलवाने का, हमारी ओर से अपनी सभा में उपस्थित करके, उसपर किसी जाति के दो-चारसौ व्यक्तियों के हस्ताक्षर-सहित एक आवेदन-पत्र भिजवाना और भी अच्छा होगा। वर्तमान अवस्था में जिन-जिन बातों का सुधार होना आवश्यक है, वे ये हैं :

१. लड़की का विवाह १६ वर्ष से पहले न किया जाय।
२. लड़के का विवाह बीस वर्ष से पहले न किया जाय।
३. पुरुषों के विवाह चालीस वर्ष के पीछे न होने पायें।
४. यदि चालीस वर्ष के बाद विवाह करना ही हो तो विधवा से करें।
५. मद्यपान की प्रथा एकदम बन्द कर दी जाय।
६. वर-विक्रय तथा कन्या-विक्रय की प्रथा एकदम बन्द होनी चाहिए।
७. अपनी आय का दसवां भाग सार्वजनिक कार्य में दिया जाय।
८. विधवाओं का मुण्डन न कराया जाय।

ये बातें जिन्हें स्वीकार हों, उनके हस्ताक्षर करवाकर उपर्युक्त कार्रवाही करने की कृपा करें।"

सुधारक-दल की ओर से इस निमन्त्रण का कोई उत्तर न दिया गया। अपने पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए 'केसरी' में लोकमान्य ने लिखा था—

"यथार्थ में इस देश के जो बुरे रीति-रिवाज हैं, उनकी रोक या सुधार के काम से 'केसरी' ने कभी मुंह नहीं मोड़ा है, वरन् वह सदैव अपना मत इस प्रकार प्रकट करता रहा है कि इन्हें धीरे-धीरे दूर करना चाहिए। किन्तु इन महाशय का धीरे-धीरे शब्द का अर्थ एकदम कानून बनवा देता है और हम धीरे-धीरे ज्ञान-प्रसार करके सुधार करना चाहते हैं। इस अर्थान्तर के लिए हम क्या करें ?"

'केसरी' के इस लेख का अभिप्राय स्पष्ट है कि लोकमान्य को समाज-

सुधार से विरोध नहीं था, अपितु विदेशी सरकार द्वारा समाज-सुधार पर आपत्ति थी। वह नहीं चाहते थे कि विदेशी सरकार भारतवासियों के धार्मिक या सामाजिक मामलों में हस्तक्षेप करे। उन्हें आशंका थी कि यदि एक बार विदेशी शासकों ने हमारी आन्तरिक व्यवस्था में दखल दे दिया तो फिर उसे रोकना कठिन हो जायगा, जाति के सारे सामाजिक संगठन के ध्वस्त हो जाने का भय है।

व्यवहार में लोकमान्य सुधारक थे। उन्होंने अपनी कन्याओं को अंग्रेजी की शिक्षा दिलाई और सोलह वर्ष की आयु से पूर्व उनका विवाह नहीं किया। वह अस्पृश्यता के विरोधी थे और पत्र में अछूतोद्धार का जोरदार समर्थन करते रहते थे। उनके जीवन की एक घटना ऐसी है, जिससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि वे उनका हृदय बहुत विशाल था। अछूतों से घृणा-जैसी जघन्य भावना उसमें नहीं रह सकती थी।

घटना १८९४ की है। गणपति-उत्सव का जलूस धूमधाम से निकल रहा था। हजारों की भीड़ थी। जलूस के नेता लोकमान्य तिलक थे। अकस्मात् उन्हें एक घर की खिड़की में से बालक के रोने-चिल्लाने की आवाज सुनाई दी। लोकमान्य ने ऊपर आंख उठाई तो उन्हें सात-आठ वर्ष का एक लड़का रोता और जिद करता हुआ दिखाई दिया। माता बहुत समझा रही थी, पर लड़का मानता ही न था। तिलक रुक गये और आदमी भेजकर मालूम किया कि बच्चा क्यों रो रहा है। माता ने उत्तर दिया कि बच्चा इस बात का हठ कर रहा है कि जलूस में अन्य गणपतियों के साथ उसके गणपति को भी नदी में मज्जन के लिए ले जाया जाय, परन्तु यह कैसे सम्भव है, क्योंकि हम लोग अस्पृश्य जो हैं। यह सुनकर लोकमान्य की आंखों में आंसू आ गये। वह स्वयं उस घर में गये, गणपति की मूर्ति को स्वयं उठाकर जलूस में शामिल कर दिया और उस भक्त बालक को अपने साथ ले लिया।

यह निर्विवाद है कि लोकमान्य समाज-सुधार के विरोधी नहीं थे, तथापि यह मानना पड़ेगा कि उनका अपने समय के समाज-सुधारकों से मौलिक मतभेद था। उस मतभेद के दो आधार थे। पहला आधार यह था कि वह समाज-सुधार के कार्य को विदेशी सरकार के हाथों में नहीं सौंपना चाहते थे, और दूसरा आधार यह था कि राजनैतिक सुधार को इतनी अधिक प्राथमिकता देना चाहते थे कि समाज-सुधार के उससे अलग रखने और द्वितीय स्थान पर डालने के वह पक्ष में थे। वह प्रायः कहते थे कि जो लोग राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के काम में अग्रसर हों, उन्हें समाज-सुधार के कार्य में नहीं उलझना चाहिए। इसी कारण से वह इण्डियन नैशनल कांग्रेस के साथ और उसीके पण्डाल में सोशल कान्फ्रेंस

का अधिवेशन करने के कट्टर विरोधी थे।

क्या सामाजिक रोगों से ग्रस्त कोई जाति राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर सकती है ? इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। दोनों भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों के परिणाम होंगे। जो लोग समाज के अन्तरंग दोषों से अधिक उद्विग्न होंगे, उनका यह मत होगा कि जबतक समाज के अन्य दोष दूर न होंगे, तबतक राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती, परन्तु जिनका मन राजनैतिक लक्ष्य की ओर वेग से बढ़ रहा होगा, वे यह सोचेंगे कि एक बार राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त हो जाय, फिर समाज-सुधार स्वयं होता रहेगा। मालाबारी-जैसे महानुभाव पहली श्रेणी के विचारक थे तो लोकमान्य दूसरी श्रेणी के। न मालाबारी या उनकी मनोवृत्ति के अन्य महानुभाव राजनैतिक स्वाधीनता के विरोधी थे और न लोकमान्य समाज-सुधार के विरोधी थे। प्रश्न प्राथमिकता का था, जिसने उन दिनों महाराष्ट्र में इतना उग्र रूप धारण कर लिया था।

लोकमान्य वस्तुतः सार्वजनिक कार्य में भगवद्गीता के इस उपदेश के माननेवाले थे—न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि सर्वसामान्य अज्ञानी लोगों की बुद्धि को ठेस न पहुंचावे और मुख्य लक्ष्य तक पहुंचने के निमित्त लोक-संग्रह को प्रमुखता देता हुआ कर्मसंगी जनों की भांति आचरण करे।

लोकमान्य ने अपना मुख्य लक्ष्य राजनैतिक स्वाधीनता को बना लिया था। राजनैतिक क्षेत्र में वह न केवल सर्वसाधारण जनता को अपितु बड़े-बड़े दिमागी पर्वतों को भी ठेस पहुंचाने में आगा-पीछा नहीं देखते थे, परन्तु महाराष्ट्र की सामान्य जनता को साथ रखने के लिए वह सामाजिक मतभेद उत्पन्न करने में संकोच करते थे। तीव्र समाज-सुधार का विरोध उनके विश्वास का अंग नहीं था, अपितु नीति का अंग था, यह बात नीचे लिखी घटना से स्पष्ट हो जायगी :

पूना के कुछ प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ मिलकर लोकमान्य ने एक बार एक ईसाई स्कूल में चाय पी ली। इसपर कई स्थानीय समाचार-पत्रों ने बहुत बावेला मचाया। लोकमान्य पर विशेष रूप से आक्षेपों की बौछार हुई, क्योंकि उन्हें सनातन हिन्दूधर्म का रक्षक माना जाता था। हिन्दुओं की एक सार्वजनिक सभा में लोकमान्य के एक राजनैतिक भक्त सरदार नातू ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि तिलक को जाति-बहिष्कृत कर दिया जाय। लोकमान्य ने अपने कार्य के समर्थन में युक्ति और प्रमाणों से परिष्कृत कई लेख लिखे, जिनमें सिद्ध किया कि ऐसे स्थानों पर केवल चाय पी लेने से कोई पाप नहीं चढ़ता, परन्तु साथ ही लोकमत को शान्त करने के लिए

अपनी भूल के लिए प्रायश्चित्त करना स्वीकार कर लिया। प्रायश्चित्त की विधि पण्डितों की उपस्थिति में बनारस में सम्पन्न की गई। इस दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहां लोकमान्य तिलक विचारों में समाज-सुधार के समर्थक थे और हिन्दू-जाति में प्रचलित हानिकारक रूढ़ियों को तोड़ना आवश्यक मानते थे, वहां राजनैतिक आन्दोलन में हानिकारक न हो जाय, यह सोचकर समाज-सुधार की गाड़ी को थाम-थामकर चलाने के पक्षपाती थे। मेरा विचार है कि लोकमान्य की इस मनोवृत्ति का मुख्य कारण महाराष्ट्र की साधारण हिन्दू जनता की धार्मिक कट्टरता भी थी। यदि लोकमान्य उत्तर भारत में उत्पन्न हुए होते तो सम्भवतः समाज-सुधार के सम्बन्ध में इतना सावधान रहने की आवश्यकता उन्हें अनुभव न होती।

: १० :

इण्डियन नैशनल कांग्रेस में प्रवेश

सन् १८८५ के दिसम्बर मास में इण्डियन नैशनल कांग्रेस का प्रारम्भिक अधिवेशन हुआ। भारत के अर्वाचीन इतिहास में वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना थी।

कांग्रेस की स्थापना देश की उस समय की परिस्थितियों का परिणाम थी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से भारत का पश्चिम से जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि उदार राजनैतिक विचारधारा ने जाति के सुशिक्षित वर्ग में प्रवेश कर लिया। वह विचारधारा कलकत्ते में इण्डियन ऐसोसियेशन के नाम से पहले ही स्थूल रूप धारण करचु की थी। उस विचारधारा को दो राजनैतिक घटनाओं से सहायता मिल गई। भारत के वायसराय लार्ड लिटन ने १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट पास करके देशी पत्रों का गला घोंटने का यत्न किया। उसी वायसराय ने आर्म्स ऐक्ट द्वारा भारतवासियों के हथियार छीनकर विलायत में कीर्ति लाभ किया। इन दोनों गला-घोंटू कानूनों ने ही देश के शिक्षित समाज में भारी बेचैनी उत्पन्न कर दी थी कि १८८३ में एक दूसरी घटना हो गई, जिसने उस बेचैनी को बढ़ा दिया। लिटन के उत्तराधिकारी वायसराय-लार्ड रिपन की नीति कुछ नर्म थी। वायसराय की कौंसिल के कानूनी सदस्य इल्बर्ट ने कौंसिल में इस आशय का एक बिल पेश किया कि यूरोपीय लोगों का यह विशेष अधिकार छीन लिया जाय कि उनपर लगाये गए अभियोगों की सुनवाई केवल यूरोपीय न्यायायीशों के सामने ही हो सकती है, देशी न्यायाधीशों के सामने नहीं। भारत में रहनेवाले अंग्रेजों ने उस बिल का घोर विरोध किया। अपराधी होकर भी हिन्दुस्तानी न्यायाधीश के सामने जाना उन लोगों को अपमानजनक प्रतीत हुआ। भारत का अन्न खानेवाले अंग्रेजों ने न केवल भारत में, अपितु विलायत में ऐसा घोर आन्दोलन किया कि अंग्रेजी सरकार डर गई और इल्बर्ट बिल को वापस ले लिया। अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण आन्दोलन और अंग्रेजी सरकार की पक्षपात से भरी नीति ने भारत के शिक्षित समाज को इतना विक्षुब्ध कर दिया कि वे मन-ही-मन अंग्रेजी शासन के विद्रोही बनने लगे। उस समय उदार विचारों के

एक अंग्रेज की योजना ने उनके आवेश के वाष्प को एक स्थान पर केन्द्रित होकर बाहर फैलने का अवसर दे दिया। एलन ऑक्टेवियन ह्यूम सरकारी नौकरी से रिटायर हुआ एक उदाराशय अंग्रेज था। उसने यह प्रस्ताव रक्खा कि भारत की राजनैतिक अभिलाषाओं को प्रकट करने के लिए इण्डियन नैशनल कांग्रेस नाम की संस्था स्थापित की जाय। तदनुसार सन् १८८५ के दिसम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में बम्बई में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ।

प्रारम्भ में कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य देश की राजनैतिक शिकायतों को सरकार के कानों तक पहुंचाना ही था। प्रायः सब प्रस्ताव सरकार से प्रार्थना के रूप में ही स्वीकार किये जाते थे। देश के ऊंचे दर्जे की अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त किये हुए कुछ महानुभाव वर्ष के अन्त में किसी स्थान पर एकत्र हो जाते थे और शानदार अंग्रेजी भाषणों द्वारा सरकार के सामने शिक्षित भारतवासियों की राजनैतिक मांगें उपस्थित करते थे।

प्रारम्भ से ही कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ-साथ एक सोशल कान्फ्रेंस करने का रिवाज भी जारी हो गया था। प्रायः जब कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त हो जाता था, तब उसी पण्डाल में सोशल कान्फ्रेंस होती थी। दोनों में भाग लेनेवाले वे ही लोग रहते थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में ही राजनैतिक जागृति के साथ-साथ सामाजिक जागृति भी उत्पन्न हो रही थी। समाज-सुधार-कान्फ्रेंस में विधवा-विवाह-जैसी प्रथाओं के पक्ष में और बाल-विवाह जैसी प्रथाओं के विरुद्ध भाषण होते थे।

बम्बई के पहले अधिवेशन के पश्चात् कांग्रेस के अधिवेशन क्रमशः कलकत्ता, मद्रास और इलाहाबाद में हुए। विशेष बात यह हुई कि प्रतिवर्ष कांग्रेस में प्रतिनिधियों और दर्शकों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई। प्रस्तावों में भी प्रार्थना का स्थान साग्रह मांग ने ले लिया और इस बात पर असन्तोष भी प्रकट किया जाने लगा कि सरकार प्रजा की मांगों पर ध्यान नहीं देती।

तिलक का राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश तो 'मराठा' और 'केसरी' के प्रारम्भ के साथ हो चुका था। दोनों पत्रों की राजनीति लोकमान्य के हाथ में थी। विशेषतः 'केसरी' के जोरदार और योग्यतापूर्ण लेखों ने महाराष्ट्र के निवासियों को अनुभव करा दिया था कि देश की राजनीति में एक नई शक्ति का आगमन हुआ है।

दक्षिण सभा (डेकन सभा) और अन्य सार्वजनिक सभाओं में भाग लेने के अतिरिक्त लोकमान्य ने १८८९ में बम्बई की प्राविंशल कान्फ्रेंस में विशेष रूप से भाग लिया। उस कान्फ्रेंस में लोकमान्य का जो भाषण हुआ, उसकी

विशेषता यह थी कि उसमें सरकार के प्रति किन्हीं कटु वाक्यों का प्रयोग नहीं किया गया था। उसमें लगभग उस समय की प्रचलित कांग्रेसी भाषा ही काम में लाई गई थी।

१८८९ में कांग्रेस का अधिवेशन फिर वम्बई में हुआ। उसके लिए पूना से जो प्रतिनिधि चुने गए, उनमें हम मि० वालगंगाधर तिलक बी०ए०,एल-एल०बी० का नाम भी पाते हैं। उनका पेशा प्रोफेसर और पत्र-कार लिखा गया था। १५ दिसम्बर की एक सार्वजनिक सभा में यह चुनाव हुआ। वम्बई के अधिवेशन में लोकमान्य सम्मिलित हुए और थोड़ा-बहुत भाग भी लिया। उस अधिवेशन में श्री विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपतराय भी उपस्थित थे। भविष्य में देश में गर्मी में उत्पन्न करनेवाली त्रिमूर्ति उस समय सर्वथा शीतल ही थी। अभी हमारे देश की राजनीति में विशेष गर्मी उत्पन्न नहीं हुई थी। श्री गोपालकृष्ण गोखले और लोकमान्य तिलक तवतक एक ही राजनैतिक किश्ती में सफर कर रहे थे। तिलक ने संविधान-सम्वन्धी प्रस्ताव पर जो संशोधन किया, उसका समर्थन गोखले ने किया। शायद वह अन्तिम शुभ अवसर था, जब भारतमाता के इन दोनों सुपुत्रों ने एक-दूसरे का समर्थन किया। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, दोनों एक-दूसरे से दूर होते गये, यहांतक कि एक दिन वह आया जब पूना के ये दोनों रत्न भारत की दोनों मुख्य विरोधी पार्टियों के नेता बन गये और अन्त समय तक वैसे ही बने रहे।

: ११ :

साम्प्रदायिक उपद्रव

अब हम लोकमान्य के जीवन के ऐसे पड़ाव पर पहुंच गये हैं, जहां से आगे वह घटनाचक्र चला, जिससे उनका पृथक् राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण बनने लगा और उनके व्यक्तित्व की ऊंचाई बढ़नी प्रारम्भ हुई। जो मनुष्य प्रवाह के साथ तैरकर ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसकी ओर किसीका ध्यान नहीं खिचता, परन्तु जो धारा को चीरकर नदी के पार जाने का या विपरीत तैरने का यत्न करता है, वह सबकी दृष्टियों का केन्द्र बन जाता है। हम जिस घटनाचक्र का वृत्तान्त अब सुनाने लगे हैं, उसने जहां लोकमान्य की राजनैतिक धारणाओं को प्रभावित किया, वहां लोकमान्य को केवल पत्रकार, प्रोफेसर या आन्दोलनकारियों की श्रेणी से ऊपर उठाकर पहले महाराष्ट्र का और धीरे-धीरे देशभर के युवक देशभक्तों के अग्रगामी दल का नेता बना दिया।

उस शृंखला की पहली घटना बम्बई और पूना का साम्प्रदायिक उपद्रव था। अंग्रेजों के राज्यकाल में, समय-समय पर, हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़-सी आया करती थी। सन् '५७ की असफल सशस्त्र क्रान्ति के पश्चात् कुछ वर्षों तक अंग्रेजी सरकार मुसलमानों को अपना मुख्य शत्रु मानती और हर प्रकार से उन्हें निर्बल रखने का यत्न करती रही। १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के पश्चात् धीरे-धीरे सरकार का दृष्टिकोण बदलने लगा। वह अनुभव करने लगी कि शिक्षा पाकर हिन्दू लोग राजनैतिक अधिकारों की मांग करने लगे हैं, और यह भी देखा कि कुछ पढ़े-लिखे मुसलमान भी उनके साथ शामिल हो रहे हैं। राजनैतिक अधिकारों की सर्वसम्मत मांग में अंग्रेज शासकों को अपनी मृत्यु की घण्टी सुनाई देने लगी, जिसका प्रतिकार उन्होंने यह निकाला कि मुसलमानों को हिन्दुओं से फोड़कर अपना सहायक बनाया जाय। सदा ही केवल शक्ति पर भरोसा रखनेवाले शासक भेद-नीति को अपनी नौका की पतवार बनाते रहे हैं। सन् ५८ के सत्रह-अठारह वर्ष बाद अंग्रेजी सरकार की कूटनीति का दूसरा संस्करण आरम्भ हो गया था और उस संस्करण का रूप था हिन्दू-मुसलमानों को परस्पर लड़ाकर राष्ट्रीय जागृति को निर्बल बनाये रखना।

समय-समय पर साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़-सी आती थी, उसका यही कारण था।

बम्बई प्रान्त में छुटपुट दंगों का प्रारम्भ १८५३ में हो गया था। पहला दंगा मुसलमानों और पारसियों में हुआ। बम्बई के एक पारसी समाचार-पत्र में पैगम्बर मुहम्मद का कल्पित चित्र छप गया। उसे मुसलमानों ने पैगम्बर और इस्लाम का घोर अपमान समझा और नगर-भर में पारसियों पर टूट पड़े। बम्बई के पारसी लोग व्यापार और दान के कारण प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। कई दिनों तक मारपीट हो चुकने पर जब पुलिस और फौज ने रंगभूमि में प्रवेश किया तब शान्ति हुई।

मुसलमानों का दूसरा आक्रमण भी पारसियों पर ही हुआ। इसका क्षेत्र जूनागढ़ बना। इसका कारण यह बतलाया गया कि एक पारसी प्रकाशक ने अमरीका के प्रसिद्ध लेखक वाशिंगटन आर्यविंग की एक पुस्तक का अनुवाद छापा था। उस पुस्तक में मोहम्मद साहब की आलोचना के कुछ वाक्य थे, जो आपत्ति-योग्य समझे गए। उसमें भी पारसियों को मारा-पीटा गया।

इन्हें दंगों का रिहर्सल समझिये। सन् १८९३ में मुसलमानों के रोष का रुख हिन्दुओं की ओर हुआ। प्रभासपट्टन जूनागढ़ रियासत में एक प्रसिद्ध तीर्थ है। मोहर्रम के जलूस के लिए एकत्र मुसलमानों ने सहसा हिन्दुओं के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। बहुत-से लोग जान से मारे गए, कई मन्दिर भ्रष्ट किये गए और बहुसंख्यक देवमूर्तियां देवालयों से निकालकर तोड़-फोड़ दी गईं। साधुओं और पुजारियों को जहां-तहां पकड़कर, उन-पर तेल छिड़ककर आग लगाने का यत्न किया गया। इस प्रकार कई दिनों तक प्रभासपट्टन के गली-कूचों में आग और लोहे का ताण्डव नृत्य होता रहा। अन्त में गिरफ्तारियां हुईं और मुकदमे चलाये गए। दोनों ओर से बड़े-बड़े वकील-बैरिस्टर खड़े किये गए, जिन्होंने बहुत-से अपराधियों को निरपराध सिद्ध करने का सफल यत्न किया। आग तो शान्त हो गई, परन्तु उसकी चिनगारियां चारों ओर फैलकर नई ज्वाला को उत्पन्न करने का काम करती रहीं।

उपद्रव की प्रचण्ड अग्नि १८९३ के अगस्त मास में बम्बई नगर में प्रज्वलित हो उठी। उसका आरम्भ अकस्मात् हो गया। कहा जाता है कि तीसरे पहर के लगभग क्राफर्ड मार्केट के निकटवर्ती जुम्मा मस्जिद में से हाथों में लाठियां लिये हुए झुंड-के-झुंड मुसलमान निकल पड़े और ठेठ हनुमान्-मन्दिर के शिवालय तक चढ़ गये। पुलिस को दंगे की सम्भावना का पहले से पता था। उन लोगों ने दंगा करनेवालों को रोकने का यत्न किया।

पुलिस का बयान था कि जब लोग मस्जिद में नमाज पढ़ने गये थे, तब उनके पास लाठी या अन्य कोई हथियार नहीं थे, परन्तु वे जब वहां से निकले तब घातक शस्त्रों से सुसज्जित थे, जो इस बात का प्रमाण था कि मस्जिद में पहले से बनाई योजना के अनुसार लाठियों तथा अन्य शस्त्रों का संग्रह किया गया था।

पहले से बनी हुई योजना का दूसरा प्रमाण यह था कि जब लाठीधारी भीड़ मस्जिद से निकली, कुछ उसके पहले ही भेंडी बाजार, कमाटीपुरा, ग्रांट रोड आदि मुस्लिम-प्रधान इलाकों में मार-पीट आरम्भ हो चुकी थी। शाम होते-होते नगर का बड़ा भाग दो सम्प्रदायों का युद्ध-स्थल बन गया। पुलिस किसी तरह भी उसे संभाल न सकी।

उस रात तक बम्बई की यह दशा रही कि मुसलमान सब क्षेत्रों में आक्रान्ता रहे और हिन्दू आक्रमण के शिकार। रात का समय हिन्दुओं ने आत्मरक्षा के उपाय सोचने में लगाया। बम्बई में मुसलमान मवालियों की की संख्या बहुत थी तो हिन्दू धारी भी कम नहीं थे। दूसरे दिन धारियों ने भी संरक्षण के साधन संभाल लिये। बराबर की टक्कर रही। दो दिन के दंगे में साठ-सत्तर व्यक्ति जान से मारे गए और तीन-चारसौ व्यक्ति घायल हुए। दूकानें बन्द हो गईं, सारा कारोबार ठप हो गया, यहांतक कि हाईकोर्ट भी बन्द करना पड़ा। तीसरे दिन जब मिलिटरी और पुलिस ने शहर पर पूरा कब्जा कर लिया, तब कहीं शान्ति हुई।

मैंने उन उपद्रवों का कुछ विस्तृत वर्णन इस निमित्त से किया है कि लोकमान्य के मन पर उनका जो प्रभाव पड़ा और उस प्रभाव को उन्होंने 'केसरी' के पृष्ठों में जिस रूप से प्रकट किया, उसे भली प्रकार समझा जा सके। उपद्रव का आरम्भ सभी जगह मुसलमानों की ओर से हुआ। पुलिस और फौज के सिपाही मैदान में तब आये जब पर्याप्त लहू बह चुका था और अन्त में जब गिरफ्तारियों का समय आया तब अत्यन्त साम्य भाव से काम लेते हुए पुलिस ने यत्न किया कि हिन्दू और मुसलमान लगभग समान संख्या में पकड़े जायं, ताकि यह कहा जा सके कि अंग्रेजी सरकार किसीका पक्षपात नहीं करती, फिर चाहे अपराधी कोई हो। बम्बई के दंगे पर 'केसरी' में लोकमान्य ने जो टिप्पणी की थी, वह उनके विचारों का यथार्थ प्रतीक थी। उन्होंने लिखा था—

> "मुसलमान लोग बहक गये हैं और यदि वे बहक गये हों तो इसका एकमात्र कारण सरकार की ओर से उन्हें प्रोत्साहन दिया जाना ही है।"

मुसलमानों की इस मनोवृत्ति का उत्तर हिन्दू क्यों दें, इस प्रश्न का

उत्तर भी 'केसरी' के पृष्ठों में दिया गया है। लोकमान्य का विचार था कि हिन्दू मुसलमानों के आक्रमणों से तभी वच सकते हैं, यदि वे शक्ति-सम्पन्न वन जायं। जवतक वे असंगठित और निर्बल वने रहेंगे, तवतक मुसलमान उनपर हावी होते रहेंगे और जव हिन्दू संगठित और सबल हो जायंगे, तव मुसलमान उनके मित्र वन जायंगे। प्रेम-भाव समान बलवालों में रह सकता है, निर्बल और बलवान् में नहीं।

सरकार की पेचीदा नीति और मुसलमानों के दुराग्रह के कारण लगभग एक वर्ष तक वम्बई प्रान्त के वातावरण में साम्प्रदायिक अशान्ति का का तापमान बढ़ता रहा। येवला, महाबलेश्वर, आदि अनेक स्थानों पर छुट-पुट घटनाएं होती रहीं, जो यद्यपि स्वयं विशेष महत्वपूर्ण नहीं थीं, परन्तु मौसम के विगड़ने की परिचायिका अवश्य थीं। धीरे-धीरे अशान्ति के पवन ने समस्त छोटी-छोटी जगहों से घूमकर महाराष्ट्र के हृदय-स्थान पूना की ओर अपना रुख किया। १८६४ के गणपति-उत्सव की समाप्ति पर वहां वहुत ही भयानक दंगा हो गया। उस दंगे का वृत्तान्त हम श्री न०च० केलकर के 'तिलक-चरित' से उद्धृत करते हैं—

"किंतु अन्त में शुद्ध त्रयोदशी की रात को मामले के विगाड़ का श्रीगणेश हो ही गया। उस दिन बुधवार रहते भी मुसलमानों ने कुरान पढ़ने के लिए बड़े सवेरे ही से मस्जिदों के दरवाजे खोल दिये थे। इनमें से दारूवाले पुल की मस्जिद के सामने से कुछ भजन-मण्डलियां तो गाते-बजाते रास्तापेंठ से होकर निकल गईं, किन्तु दस बजने के लगभग सरदार नातू की भजन-मण्डली जब मस्जिद के सामने से होकर जाने लगी और उसमें पुलिस के हुक्म के अनुसार गाड़ी पर रक्खा हुआ तवला वन्द करके केवल हारमोनियम ही वज रहा था, फिर भी मुसलमान लोग लाठियां लिये हुए मस्जिद से निकल पड़े, और उन्होंने हारमोनियम तोड़कर सारा जलूस बखेर दिया और नातू-साहब को बेतरह लाठियों से मारा, यहांतक कि उन्हें उठाकर निकट के गुजराती देवालय में पहुंचाना पड़ा। बात-की-बात में यह खबर गांव (शहर) भर में फैल गई, फलतः कुछ उत्साही लोग दौड़कर मौके पर जा पहुंचे और उन्होंने मस्जिद में घुसकर मुसलमानों को पीटा। साथ ही उनके हाण्डी गिलास आदि सब फोड़ डाले।"

इसके पश्चात् उपद्रव के बहुत बढ़ने की आशंका हो गई थी। परन्तु पुलिस और सेना का यथोचित प्रबन्ध हो जाने से धीरे-धीरे शान्ति हो गई। इस काण्ड पर पटाक्षेप तव हुआ जव धर-पकड़ शुरू हुई। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि मस्जिद में जमा होनेवाले मुजाविरों या गण-

पति की प्रतिमा तोड़नेवाले मुसलमानों में से एक भी व्यक्ति नहीं पकड़ा गया, और बेचारे सरदार नातू मुसलमानों के हाथ से पीटे जाने पर भी दूसरे दिन गिरफ्तार कर लिये गए। अभियोग चलने पर सेशन जज ने नातूसाहव को निर्दोष मानकर मुक्त कर दिया। ऐसे काण्डों पर सम्मति देते हुए मस्जिद के सामने वाजा वजाने पर 'केसरी' में लोकमान्य ने निम्नलिखित टिप्पणी की थी :

"मुसलमानों का पक्ष यथार्थ नहीं है, क्योंकि सभी मस्जिदों के सामने, हर समय और हर प्रकार के वाजे वन्द रखने के लिए आग्रह करना अत्यन्त अनुचित है और कोई भी समझदार व्यक्ति इसका समर्थन करने को तैयार होगा...क्योंकि यदि प्रार्थना के समय मुसलमान लोग गड़बड़ को न सह सकते हों, तो फिर यात्रा में, रेल या जहाज की सवारी अथवा दूकान या अन्य किसी स्थान में अपने इस नियम का पालन क्यों और कैसे करते हैं। यही नहीं, बल्कि उनके धर्मशास्त्र के अनुसार तो मुसलमान जहां कहीं भी हो, वहीं प्रार्थना कर सकता है।"

लोकमान्य का मत था कि अंग्रेजी सरकार मुसलमानों की अनुचित मांग का समर्थन करके उन्हें दंगा करने के लिए प्रोत्साहित करती है। सरकार का उद्देश्य यह था कि धार्मिक मामलों पर हिन्दू और मुसलमान लड़ते रहें, ताकि मुसलमान राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रहें। यह भी सरकार की भेदनीति की एक चाल थी। वम्बई प्रान्त की इस घटना में सरकार का जो रुख रहा, उसने लोकमान्य के मत को पूरी तरह प्रमाणित कर दिया। वम्बई के गवर्नर लार्ड हैरिस ने हिन्दुओं और मुसलमानों से शान्ति-रक्षा की अपील की थी, उसपर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य ने लिखा था :

"इन मामलों में हिन्दू और मुसलमानों के अतिरिक्त एक तीसरी पार्टी है, और वह सरकार है...वम्बई के गवर्नर लार्ड हैरिस ने हिन्दुओं और मुसलमानों से शान्तिपूर्वक रहने की अपील की है, परन्तु वह अपने अधीन सरकारी नौकरों को यह सलाह देना भूल गये है कि वे ऐसे अवसरों पर पक्षपातहीन नीति से काम लिया करें।"

एक दूसरे लेख में दंगों के कारणों का विवेचन करते हुए लोकमान्य ने लिखा था :

"हिन्दुओं को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मित्रता और प्रेम केवल उन्हीं लोगों में रह सकते हैं, जो समान रूप से शक्ति-सम्पन्न हों।"

इस लम्बे घटनाचक्र को कुछ विस्तार से लिखने का अभिप्राय यह था कि हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष और हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में लोकमान्य की सम्मति और उसके आधार स्पष्ट हो जायं। कुछ राष्ट्रीय कार्यकर्ता ऐसे भी थे, जो यह तो मानते थे कि उपद्रवों की पहल मुसलमानों की ओर से होती है। वे यह भी स्वीकार करते थे कि उसका मुख्य कारण सरकार की भेदनीति और सरकारी कर्मचारियों का मुसलमान-पक्षपाती व्यवहार है, परन्तु उन दोनों मन्तव्यों से जो दो परिणाम निकलते थे, वे उन्हें मानने को तैयार नहीं होते थे। वे दो परिणाम ये थे—(१) हिन्दुओं और मुसलमानों में मित्रता तभी स्थापित हो सकती है, जब हिन्दू भी मुसलमानों की तरह संगठित और बलवान् हों और (२) वह मित्रता स्थायी उसी दशा में हो सकेगी, जब भारत से भेद उत्पन्न करनेवाली विदेशी शक्ति विदा हो जाय। लोकमान्य तिलक की भावी कार्य-नीति को समझने के लिए एकता-सम्बन्धी इन दो तथ्यों को हृदयंगम कर लेना आवश्यक है।

: १२ :

गणपति-उत्सव : सामाजिक एकता का प्रयास

महाराष्ट्र में अनन्तचतुर्दशी के अवसर पर गणपति-उत्सव बहुत प्राचीन काल से होता आया है। जैसे अन्य बहुत-से धार्मिक उत्सव रिवाज के ढंग पर प्रतिवर्ष आते और चले जाते हैं—वैसे गणपति-उत्सव की भी दशा थी। १८९३ में, पूना में वह उत्सव अधिक उत्साह और योजना के अनुसार मनाया गया। 'केसरी' में उस समाचार पर टिप्पणी करते हुए लिखा गया था :

"इस वार यहां गणपति-विसर्जन का समारोह अन्य वर्षों की अपेक्षा कुछ निराले ढंग से हुआ और उसे अब बहुत-कुछ सार्वजनिक स्वरूप प्राप्त हो गया है।"

१८९३ का गणपति-उत्सव हिन्दू-मुस्लिम दंगों के छः सप्ताह बाद हुआ था। १८९४ का गणपति-उत्सव और भी अधिक धूमधाम से हुआ। 'केसरी' की रिपोर्ट के अनुसार 'वह स्वर्णाक्षरों में लिखने-योग्य हुआ।' प्रायः प्रत्येक गली-कूचे में गणपति की सवारी सजाई गई। गणपति की मूर्तियों को सुन्दर बनाने में कारीगरों में मानों होड़ लग गई थी। सवारियों की सजावट भी एक-दूसरे से बढ़कर थी। भजन गाते समय वजाने के बहुरंगी डंडे, ताल के साथ भजनीकों का पद-निक्षेप, गवैयों के रसीले गाने, मराठों की वीर-श्री-युक्त कवायद, झंडों की विविधता और बड़ी संख्या में लोगों की उपस्थिति ने एक पुराने साधारण उत्सव को नया और स्फूर्तिदायक रूप दे दिया था। दो-पहर के दो बजे पूर्व निश्चय के अनुसार प्रत्येक गली-कूचे के गणपति रे मार्केट की ओर इकट्ठे होने लगे, यहांतक कि आस-पास के देहातों के गणपति भी इसी केन्द्र में पहुंचने लगे। चारों ओर "गणपति बाबा मोरया, पुढ़च्या वर्षी लवकर या"—हे मोरया गणेशबाबा, आप अगले वर्ष फिर से आइये—की ध्वनियों से आकाश गूंज रहा था। दूर-दूर तक भीड़-ही-भीड़ दिखाई देती थी। मकानों की छतों पर बैठे हुए नर-नारी गणपति की सवारियों पर फूल बरसा रहे थे। नदी की रेती तक जलूस इसी धूमधाम से पहुंचा। वहां पहुंचकर पट्टे के प्रदर्शन और भजन-कीर्तन के पश्चात् गणपति की मूर्तियों का विसर्जन किया गया। यह चमत्कार कैसे हुआ, इस प्रश्न का उत्तर इतने

से मिल जाता है कि इस सारे उत्सव-समारोह का नेतृत्व लोकमान्य तिलक कर रहे थे। गणपति-उत्सव लोकमान्य की उन योजनाओं की शृंखला की पहली कड़ी थी, जिससे वह पहले महाराष्ट्र फिर सारे भारत में राष्ट्रीयता की यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करना चाहते थे।

हमने देखा है कि लोकमान्य हिन्दू-मुस्लिम एकता की पहली शर्त यह मानते थे कि हिन्दू भी वैसे ही संगठित और शक्ति-सम्पन्न हों, जैसे मुसलमान हैं। मुसलमानों की बहुत-सी प्रथाएं और प्रायः सब त्योहार ऐसे ढंग से बने हुए हैं कि वे उनमें एकता की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। हिन्दुओं के त्योहारों में सामाजिकता गौण है और व्यक्ति अथवा परिवार की मुख्यतः प्रधानता है। ताजियों के जलूसों को मुसलमान लोग प्रायः मजहबी जोश को भड़काने का साधन बना देते थे। इसमें सन्देह नहीं कि लोकमान्य तिलक गणपति-उत्सव को अधिक विस्तृत और अधिक सामाजिक रूप देकर हिन्दुओं में सामाजिकता और एकता की भावना को बढ़ाना चाहते थे। उनका यत्न सफल भी हुआ। एक वर्ष जो श्रेष्ठ प्रदर्शन पूना में हुआ, अगले वर्षों में न केवल महाराष्ट्र के भिन्न-भिन्न नगरों और ग्रामों में, अपितु देश के अन्य बड़े-बड़े केन्द्रों में भी उसका अनुकरण हुआ। तीन-चार वर्षों में गणपति-उत्सव हिन्दुओं का मुख्य त्योहार माना जाने लगा, जिससे सर्वसाधारण हिन्दुओं में उत्साह और आत्म-विश्वास के भाव जाग्रत होकर दृढ़ होने लगे।

आश्चर्य की बात यह है कि लोकमान्य के गणपति-उत्सव-सम्बन्धी प्रयत्न की कुछ लोगों ने विपरीत आलोचना की। उस आलोचना को तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं। कुछ भारतीय लोगों को उन उत्सवों में सनातन रूढ़ि और मूर्ति-पूजा की बू आ रही थी। उत्सव तो पुराना था। लोकमान्य और उनके साथियों ने तो उसे केवल सामाजिक और नैतिक रूप दिया था। इसमें सुधारकों के रोष का कोई कारण नहीं था। परन्तु उन्होंने बहुत रोष प्रकट किया, इससे प्रतीत होता है कि उन्हें उत्सव की सनातनता इतनी नहीं अखरी थी, जितना उसके कारण लोकमान्य तिलक का बढ़ता हुआ प्रभाव अखरा था। उन्हें तो प्रसन्न होना चाहिए था कि लोकमान्य ने एक प्राचीन शुष्क रूढ़ि के अस्थिपंजर में मांस और रुधिर का संचार करके और नया रूप देकर सुधार का एक प्रशंसनीय कार्य किया है।

दूसरी श्रेणी के आलोचक कुछ जोशीले मुसलमान थे। उनकी आलोचना क्षुद्रतापूर्ण और अनुचित थी। पूना तथा बम्बई के हिन्दुओं में चिरकाल से यह प्रथा प्रचलित थी कि वे मोहर्रम के अवसर पर न केवल ताजिये तैयार करने के लिए आर्थिक सहायता देते थे, उनके जलूसों में भी थोड़ा-

उद्धृत भाग लेते थे। कहा जाता था कि यह प्रथा पेशवाओं की हुकूमत के समय से चली आती थी। हिन्दू वर्षों तक मुसलमानों के सामूहिक प्रदर्शनों में सहयोग देते रहे, यह बात मुसलमान आलोचक भूल गये और जब हिन्दुओं के उत्सव का सामूहिक रूप दिखाई दिया, उस समय उन्हें अन्तरात्मा का भय भूत बनकर दिखाई देने लगा।

तीसरी श्रेणी के आलोचक थे सरकारी अफसर और उनके पक्षपोषक अंग्रेजी पत्रकार। लन्दन का 'टाइम्स' पत्र उन दिनों इंग्लैंड के साम्राज्यवादी दल का मुख्य प्रवक्ता और ढोल समझा जाता था। उसने भारत की दशा देखने और उसपर सम्मति देने के लिए सर वेलटाइन चिरोल नामक एक प्रसिद्ध पत्रकार को भेजा था। चिरोल विलायत से रंगीन ऐनक पहनकर आया और सबकुछ उसी ऐनक के रंग में रंगा हुआ देखकर विलायत वापस चला गया। वह भारत में शासन करनेवाली नौकरशाही का सोलहो आने ग्रामोफोन रिकार्ड बन गया। फलतः उसने भारत की तत्कालीन दशा के सम्बन्ध में जो लेखमाला लिखी, वह अंग्रेजी सरकार की प्रतिध्वनि मात्र थी। चिरोल ने लोकमान्य तिलक को 'भारतीय अशान्ति का पिता' की पदवी देते हुए लिखा था :

> "तिलक ने अपने राजनैतिक आन्दोलन के साथ धर्म की सहानुभूति आवश्यक समझकर, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, भारत के परम प्रिय देव गणपति को अपना आदिदेव बनाने की युक्ति निकाली। वस्तुतः गणपति हिन्दुओं का विद्याधिपति देवता है और प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठ पर उनका चित्र रखने से उन्हें बहुत सन्तोष होता है...गणपति-उत्सव की नई खूबी उत्पन्न करके गणेश-मण्डलियां स्थापित करते हुए, पहलवानों की मण्डली द्वारा लोगों पर अपना प्रभाव जमाने की जो युक्ति तिलक ने निकाली थी, वह अद्वितीय थी। गणपति के उत्सव के कारण तिलक के आन्दोलन का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया।"

यहांतक तो चिरोल का कथन ठीक था कि गणपति-उत्सव को नया रूप देने में लोकमान्य का उद्देश्य राजनैतिक जागृति उत्पन्न करना था, परन्तु उसे एक युक्ति बतलाना कोरी शरारत थी। वह केवल युक्ति होती, यदि लोकमान्य स्वयं हिन्दू देवी-देवताओं के आराधक न होते और केवल राजनैतिक चाल के ढंग पर गणपति-उत्सव का नेतृत्व करते। अनेक विचारकों का मत है कि धर्म राजनीति का एक प्रबल औजार है। ऐसे विचारक पश्चिम में तो होते ही रहे हैं, गत शताब्दी में भारत में भी उनका आविष्कार हो गया है। लोकमान्य उनमें से नहीं थे। उनकी वस्तुतः सना-

तन हिन्दू-धर्म पर प्रबल आस्था थी। हम उनकी उस आस्था से असहमत हो सकते हैं, हम अपने विचार के अनुसार उन्हें रूढ़िवादी कह सकते हैं, परन्तु हमें यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि गणपति-उत्सव का संस्कार लोकमान्य की कोई राजनैतिक नीति या चाल थी। लोकमान्य के राजनैतिक विरोधी भी प्रायः यह आक्षेप करते थे कि उन्होंने धार्मिक भावनाओं को राजनैतिक औजार बनाने की चेष्टा की। हमारी सम्मति में ऐसा आक्षेप सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण है। लोकमान्य सनातन हिन्दू-धर्म पर सच्चा विश्वास रखतें थे, उनका सारा जीवन इस बात का साक्षी है। यदि उन्होंने अपने विश्वास के अनुसार गणपति-उत्सव को समयानुकूल बनाकर जाति को बल प्रदान करने का साधन बना दिया तो यह कार्य प्रशंसा के योग्य है, आक्षेप के योग्य नहीं। गणपति-उत्सव को नया रूप देकर लोकमान्य ने सिद्ध कर दिया कि उनमें जनता के मन को समझने और उसे नये सांचे में ढालने की शक्ति थी। वह प्रारम्भ से ही अनुभव करते थे कि भारत की जनता का स्थायी भाव धर्म है। जो व्यक्ति उसकी उपेक्षा करके चलेगा, वह भारतवासियों के हृदय को नहीं जीत सकेगा।

: १३ :

शिवाजी-उत्सव

भारत की स्वाधीनता के सर वैलेंटाइन चिरोल जैसे जिन विरोधियों ने लोकमान्य को 'भारत की अशांति का पिता' बतलाकर सरकार की दृष्टि में उन्हें दोषी ठहराने का यत्न किया था, उनका दूसरा आरोप यह था कि तिलक ने शिवाजी-उत्सव की स्थापना करके महाराष्ट्र में अशांति की अग्नि प्रज्वलित कर दी। जिसे वे लोग लोकमान्य का महान् अपराध समझते थे, उसे इतिहास का लेखक लोकमान्य की प्रतिभा का महान् चमत्कार माने बिना नहीं रह सकता। गणपति-उत्सव हिन्दुओं में जागृति और एकता की भावना उत्पन्न करने का साधन बना तो शिवाजी-उत्सव से न केवल महाराष्ट्र में स्वाधीनता की प्यास चमक उठी, अपितु देश के अन्य प्रान्तों में भी उसका गहरा प्रभाव हुआ, विशेष रूप से बंगाल की भावी राष्ट्रीय जागृति को उससे विशेष पुष्टि मिली।

शिवाजी-उत्सव की योजना के साथ एक लम्बा इतिहास लगा हुआ है। यह उन्नीसवीं सदी के उत्तर भाग में हमारे देश की शिथिल दशा का सूचक है कि शिवाजी महाराज के स्मारक का सूत्रपात एक अंग्रेज अफसर के सरकारी उल्लेख से हुआ। यद्यपि पेशवाई का अन्त होने पर, १८१८ के पश्चात् शिवाजी महाराज के प्रसिद्ध दुर्ग रायगढ़ को उनके देशवासियों ने सर्वथा भुला दिया, परन्तु बम्बई प्रान्त का शायद ही कोई ऐसा अंग्रेज-गवर्नर हो, जो विशेष रूप से उस किले को देखने न गया हो। बम्बई के गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पल दो-तीन अन्य अफसरों के साथ रायगढ़ गये और घूम-घूमकर उसके भग्नावशेषों को देखा। उनके साथ गये हुए एक अफसर ने, ए० टी० सी० उपनाम से 'टाइम्स ऑव इण्डिया' में एक लेख लिखा, जिसमें रायगढ़ की दुर्दशा का वर्णन किया। उसने यह भी लिखा कि रायगढ़ के अवशेषों को देखकर टेम्पलसाहब को "इतनी स्फूर्ति हुई कि उनकी कल्पना-शक्ति ने दोसौ वर्ष पूर्व इसी में होनेवाले शिवाजी के दरबार का वर्णन एकदम काव्यमयी भाषा में कर दिया।"

टेम्पलसाहब की यात्रा और उसके वर्णन ने जो थोड़ी-सी हलचल उत्पन्न की, वह केवल सरकारी हल्कों तक ही सीमित रही और लगभग आठ

वर्षों के ऊहापोह के पश्चात् बम्बई सरकार ने रायगढ़ को अच्छी हालत में रखने के लिए पांच रुपये की उपहासास्पद राशि स्वीकार की।

कुछ समय तक चर्चा शान्त-सी ही रही। उसे फिर जाग्रत करने का श्रेय भी एक अंग्रेज को ही है। मि० डगलस नामक एक अंग्रेज ने बम्बई प्रान्त पर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें रायगढ़ की चर्चा करते हुए उसकी दशा पर काफी खेद प्रकट किया। अन्त में एक महाराष्ट्र-निवासी के मन में भी डगलससाहब के शब्दों से बेचैनी उत्पन्न हो गई और श्री गोविन्द बावाजी जोशी नाम के एक विद्वान् पत्रकार ने रायगढ़ की यात्रा की। वहां की हीन दशा देखकर उनके मन में जो भाव उठे, वे उन्होंने एक पुस्तक में प्रकाशित करते हुए जनता से उसके पुनरुद्धार के लिए धन-संग्रह करने की अपील की। प्रतीत होता है कि वह अपील भी बहुत कारगर नहीं हुई, क्योंकि फिर कई वर्षों तक मामला सोया-सा रहा।

१८९४ में रायगढ़ के दुर्ग की चर्चा ने एक नये ढंग से सिर उठाया। अंग्रेज इतिहास-लेखक ग्रांट डफ और उसके हमजोलियों ने अफजलखां के वध की घटना को ऐसी रीति से चित्रित किया था कि जिससे शिवाजी छल-प्रयोग और हत्या के दोषी सिद्ध हों। पढ़े-लिखे भारतवासी भी शिवाजी को उसी रंग में देखने लगे थे। महाराष्ट्र के कुछ विद्वानों ने, जिनमें श्री आर० पी० करकेरिया और श्री महादेव गोविन्द रानडे मुख्य थे, मराठी के तत्कालीन वृत्तान्तों की सहायता से यह सिद्ध कर दिया कि असली अपराधी अफजलखां था, शिवाजी ने तो उसके छलपूर्ण आक्रमण का उत्तर दिया था। यह बात उस समय के मुसलमान-लेखकों ने भी मानी है कि अफजल खां ने बीजापुर से चलने से पूर्व दरबार में यह खुली घोषणा की थी कि वह उस पहाड़ी चूहे (शिवाजी) को जिन्दा या मुर्दा पकड़कर लायेगा। जब शिवाजी उससे मिलने के लिए आये तो उसने शिवाजी को बगल में दबा लिया और तलवार सें सिर पर वार किया। यह तो शिवाजी की दूरदर्शिता का परिणाम था कि वह आत्मरक्षा के लिए पगड़ी के नीचे लोहे का आवरण और प्रत्याक्रमण के लिए व्याघ्र नख धारण करके आये थे। अफजलखां का आक्रमण व्यर्थ गया और शिवाजी का आक्रमण सफल हो गया। जब यह ऐतिहासिक सचाई सामने आई तो सबकी आंखें खुलीं। यों तो भ्रममूलक विश्वास कभी-कभी बहुत देर तक चलते रहते हैं, पर अफजलखां के वध में शिवाजी के दोषी होने की मनगढ़न्त कहानी पर विश्वास रखनेवाले भोले भारतवासी अबतक भी विद्यमान हैं। सन् १९५७ में भारत के रोशन दिमाग प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने बतलाया था कि अफजलखां की घटना के सम्बन्ध में शिवाजी के दोषी होने का उनका विचार अभी हाल में बदला है,

परन्तु पक्षपातहीन दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करनेवाले विद्वानों की भ्रान्ति को करकेरिया आदि साहित्य-विशारदों के लेखों ने दूर कर दिया था।

शिवाजी और उनके कारनामों में अधिक दिलचस्पी उत्पन्न होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि महाराष्ट्र के लोगों का ध्यान रायगढ़ की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया। जननायक होने का अधिकारी वही व्यक्ति है, जो समय की परिस्थितियों से लाभ उठाकर जनता को ठीक रास्ता दिखा सके। लोकमान्य तिलक के सच्चे लोकनायक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि वह उचित समय पर जनता की भावनाओं का सदुपयोग करने से कभी नहीं चूकते थे। १८९४ में करकेरिया महोदय ने रायल एशियाटिक सोसायटी के सामने अफजलखां-काण्ड-सम्बन्धी लेख पढ़ा और १८९५ में लोकमान्य ने 'केसरी' में रायगढ़ में शिवाजी-स्मारक की स्थापना का आन्दोलन पूरे जोर-शोर से आरम्भ कर दिया।

लोकमान्य की यह विशेषता थी कि वह जिस कार्य को हाथ में लेते थे, उसमें तन्मय हो जाते थे। कोई कसर बाकी न छोड़ते थे। 'केसरी' में ओज से भरी हुई टिप्पणियों की झड़ी लगा दी और उसकी सहायता के लिए सार्वजनिक सभाओं का सिलसिला भी जारी कर दिया। ३० मई को बम्बई के हीराबाग के मैदान में एक सभा हुई, जिसमें बहुत-से सरदार लोग भी शामिल हुए। सरदार लोगों का किसी सार्वजनिक सभा में उपस्थित होना और बोलना एक नई बात थी। लोकमान्य और उनके साथियों की प्रेरणा इतनी जबर्दस्त थी कि सरदारों का अलग रहना कठिन हो गया। सभा में जिन वक्ताओं ने स्मारक बनाने के प्रस्ताव का समर्थन किया, उनमें शेख अब्दुल रज्जाक नाम के एक सम्मानित मुसलमान भी थे।

स्मारक के लिए धन एकत्र होने लगा। 'केसरी' के कार्यालय में चन्दा वसूल करने का कार्यालय खुल गया। प्रति सप्ताह जो राशियां प्राप्त होती थीं, उनकी सूची 'केसरी' में छप जाती थी। जो राशियां आईं, उनमें विद्यार्थियों की भेजी हुई दो आने की राशि से लेकर सरदारों की दी हुई सैकड़ों तक की राशियां सम्मिलित थीं। पाचौरा के मुसलमानों ने भी कुछ राशि एकत्र करके भेजी थी। यद्यपि प्रतिदिन कुछ-न-कुछ सहायता प्राप्त हो जाती थी, परन्तु चूंकि रकमें बहुत छोटी-छोटी थीं, इस कारण उनका जोड़ हल्का ही रहता था। गति धीरे-धीरे बढ़ रही थी। मई में आन्दोलन आरम्भ हुआ था, अगस्त में चन्दे की रकम छप्पनसौ तक पहुंच गई। अक्तूबर के आरम्भ में हम उसे नौ हजार और नवम्बर में ग्यारह हजार तक पहुंचा हुआ पाते हैं।

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि', अच्छे कामों में विघ्न हुआ ही करते थे और फिर उन दिनों भी लोकमान्य के नाम से बिदकनेवाले आलोचकों की संख्या पर्याप्त हो चुकी थी। गोरे अंग्रेजी अखबारों के शिवाजी-स्मारक की चर्चा में मुसलमानों के प्रति विद्वेष की बू आ गई और कुछ सुधारकों ने उसे 'केसरी' की आमदनी और ब्राह्मणों के भोजन का साधन समझकर कोसना आरम्भ कर दिया। परन्तु इन बातों से लोकमान्य रुकने या दबनेवाले नहीं थे। उन्होंने दिसम्बर में रे मार्केट के मैदान में बंगाल के नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की प्रधानता में एक विराट सभा की, जिसमें पं० मदनमोहन मालवीय का बहुत जोरदार भाषण हुआ। उस सभा ने स्मारक के आन्दोलन में मानों नई प्राण-प्रतिष्ठा कर दी।

आन्दोलन अब स्थूल रूप धारण करने लगा। अनुमान लगाया गया था कि शिवाजी के स्मारक के निर्माण में कम-से-कम पचास हजार रुपयों की आवश्यकता होगी। उनकी राशि पूरी होने में देर थी, इस कारण बाबाजी काशीनाथ पटवर्धन ने 'केसरी' में प्रस्ताव किया कि वैशाख सुदी २ के दिन रायगढ़ पर शिवाजी-महोत्सव मनाया जाय। वह प्रस्ताव लोकमान्य की सम्मति से किया गया था। प्रस्ताव का प्रकाशित होना था कि महाराष्ट्र में उसके पक्ष में जोश की बाढ़-सी आ गई। चारों ओर से उसका समर्थन होने लगा। 'केसरी' ने उसे अपना मुख्य विषय बना लिया। लोकमान्य जी-जान से महोत्सव की योजना में लग गये। ३ मार्च १८९६ के 'केसरी' में महोत्सव के नियम प्रकाशित किये गए और एक स्थानीय उत्सव कमेटी के स्थापित होने की सूचना भी प्रकाशित हुई। यह कमेटी स्मारक-फण्ड-कमेटी से पृथक् थी। इन सब सूचनाओं ने महाराष्ट्र के वातावरण में बिजली-सी उत्पन्न कर दी। दूर-दूर के ग्रामों से सूचना आने लगी कि वहां की मण्डलियां महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आयेंगी।

महोत्सव का प्रारम्भ ६ अप्रैल को होनेवाला था। उससे पूर्व बंबई और पूना के गोरे और कुछ देशी समाचारपत्रों ने उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की आलोचनाएं कीं। गोरे पत्रों में उसके राजद्रोह और मुस्लिम विरोध की झलक दिखाई दी तो कुछ देशी पत्रों ने यह भविष्यवाणी की कि यह सारा आयोजन ब्राह्मणों को मालपूए और खीर खिलाने के लिए किया गया है, उससे अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

ऐसे निर्मूल विपरीत प्रचार से भी जब महोत्सव के कार्य में कोई बाधा न पड़ी, तब महोत्सव के विरोधियों ने एक नई अड़चन खड़ी कर दी। रायगढ़ सरकारी जंगल में था, इस कारण जंगल में भीड़ एकत्र होने के लिए सरकारी आज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। आज्ञा प्राप्त करने के लिए

कलक्टर के पास आवेदन-पत्र भेजा गया तो यह कहकर उसे अस्वीकार कर दिया गया कि आवेदनपत्र नियत अवधि के बाद आया है। जब इन्कार मिला तबतक रायगढ़ में जनता एकत्र हो चुकी थी। प्रांतभर से आये हुए यात्रियों के डेरे रायगढ़ की चोटी पर लग चुके थे।

ऐन वक्त पर उपस्थित हुए विघ्न से लोकमान्य घबराये नहीं। वह उन दिनों बंबई की धारा-सभा के सदस्य बन चुके थे। वह एकदम महाबलेश्वर जा पहुंचे और बम्बई के गवर्नर के सामने सारा मामला रक्खा। गवर्नर ने पहले तो बहुत आगा-पीछा किया और अनेक प्रकार की आशंकाएं उठाईं, परन्तु अन्त में लोकमान्य के व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर स्वीकृति दे दी।

लोकमान्य ने महाबलेश्वर से लौटकर जब जनता को यह समाचार सुनाया कि महोत्सव निर्विघ्न रूप से होगा, तब मानो उत्साह का समुद्र उमड़ पड़ा। भारत के अर्वाचीन इतिहास में अपने ढंग का वह पहला और अनूठा राष्ट्रीय उत्सव था।

अपनी पुस्तक 'लोकमान्य तिलक चरित' में न० चि० केलकर ने इस उत्सव के लिए जनता के उत्साह का वर्णन इस प्रकार किया है:

"पहले ही दिन से किले पर मनुष्यों की कतार-सी लग गई थी। बारहों मावल प्रदेशों के प्रतिनिधि इस उत्सव में शामिल हुए थे। किले पर नक्कारखाने का चौक, राजदरबार का दीवानखाना, दीवानसाहब का महल, दारूखाने का भंडार, जगदीश्वर और शिरकाई देवी का मन्दिर आदि इमारतें, अर्थात् प्रायः सभी इमारतों के अवशेष, मनुष्यों से खचाखच भर गए थे। सैकड़ों वर्षों से जहां झाड़ू तक न लगी थी, वहां भी इस बार सफाई हो गई। देवालयों के अन्तर्भाग में झिरपने से उगी हुई घास-फूस उखाड़ डाली गई। टूटी-फूटी मूर्तियों पर बरसों के बाद सफाई का हाथ फिराया गया। पीने के जल का तालाब भी बहुत-कुछ साफ किया गया और प्रधान मार्ग पर कांटे-कंकड़ भी हटाकर रास्ता साफ कर दिया गया। सभा के स्थान पर टट्टों का मण्डप बनाया गया और मण्डप का तोरण-द्वार खड़ा किया गया। उच्च स्थान पर गादियां बिछाई गईं और छत्रपति शिवाजी और समर्थ गुरु रामदास की तस्वीरें रक्खी गईं। सवेरे विनायक शास्त्री अभ्यंकर का कीर्तन हुआ। बीच-बीच में पूना के घोरवड़कर की भजन-मण्डली ने भी 'उठो करा हो करा तैयारी रायगढ़ी जाऊं', का गाना ऊंची आवाज में सुनाया। शरीर में केवल मिर्जई या कमर में लंगोटी पहननेवाले ग़रीब मावले लोग कम्बल में रोटियां बांध-बांधकर वहां आये थे और

अपनी हैसियत के अनुसार नारियल और सुपारी का नजराना भी उन्होंने गादी के सामने रक्खा। दोपहर में गंगासागर तालाव के निकट भोजन-प्रसादी तैयार करने की व्यवस्था की गई थी। एक भोजनालयवाले ने भी उस जगह अपना डेरा डाल रक्खा था, उसकी भी खरीदारी अच्छी हुई।"

यह प्रारम्भिक बैठक का कार्यक्रम था। इसके पश्चात् सभा, संगीत, और दर्शनों का सिलसिला बराबर चलता रहा। उस विशाल यज्ञ के होता लोकमान्य तिलक प्रत्येक कार्य में सम्मिलित होते और उसका संचालन करते थे। चार दिन इसी प्रकार उपस्थित जनता को विविध कार्यक्रमों द्वारा राष्ट्रीयता की घुट्टी पिलाई जाती रही। जब उत्सव की समाप्ति का समय आया, तब धन्यवाद प्रदान के पश्चात् छत्रपति शिवाजी तथा समर्थ गुरु रामदास के पश्चात् महारानी विक्टोरिया का जय-घोष भी किया गया। इस तीसरे घोष का प्रयोजन अधिकारियों को यह आश्वासन देना ही रहा होगा कि यह उत्सव जागृति का सूचक होते हुए भी राज-विद्रोह की भावना का सूचक नहीं है।

: १४ :

वैदिक साहित्य में अनुसंधान

एक बार जब लोकमान्य देश की स्वाधीनता के रणक्षेत्र में पूर्णरूप में व्यस्त थे, तब एक मित्र ने उनसे पूछा—"यदि अभी स्वराज्य प्राप्त हो जाय तो आप क्या करेंगे?" लोकमान्य ने उत्तर दिया, "तब मैं किसी कॉलिज में गणित पढ़ाने का काम करने लगूंगा।" यह थी उनकी मनोकामना, और वह कितनी यथार्थ थी, यह इस बात से सिद्ध होता है कि सार्वजनिक जीवन के तूफानी कार्यक्रम में व्यस्त रहते हुए भी वह वैदिक साहित्य के ऐसे गम्भीर अन्वेषण-कार्य के लिए समय निकाल लेते थे, जिसका मूल आधार गणित और ज्योतिष्-जैसी दुरूह विद्याओं पर होता था। यह उनकी प्रतिभा की प्रखरता और व्यापकता का भी प्रमाण था।

जिन वर्षों में लोकमान्य ने शिक्षक, सम्पादक और जन-नेता के कर्तव्यों का एकसाथ पालन किया, उन्हीं वर्षों में उन्होंने अंग्रेजी में दो पुस्तकें लिखीं, जिनके नाम 'दि ओरियन' (The Orion) और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' (Arctic Home in the Vedas) थे। ये पुस्तकें कैसे लिखी गईं, इसकी कहानी लोकमान्य के अपने शब्दों में ही सुनिये। उन्होंने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' की भूमिका में लिखा था—

"यह ग्रन्थ (आर्कटिक होम इन दि वेदाज़) १८९३ में प्रकाशित 'दि ओरियन' का उपसंहार है। वेद के (यूरोपीय) विद्वानों ने उस समय वेदों का जो समय निर्धारित किया था, उसका आधार केवल वैदिक साहित्य का युगों में मनमाना विभाजन था। उनके हिसाब से वैदिक काल २४०० ई० पू० से अधिक नहीं हो सकता था। मैंने 'दि ओरियन' में यह दिखाने का यत्न किया था कि उनके वे सब हिसाब न केवल बहुत ही छोटे थे, स्पष्ट और अनिश्चित भी थे। मैंने यह भी दिखाया था कि वेदों में ज्योतिष-सम्बन्धी जो निर्देश पाये जाते हैं, उनके आधार पर वैदिक समय का निर्णय अधिक प्रामाणिक रूप से किया जा सकता है। मैंने यह भी दिखाया था कि वेद में विद्यमान निर्देशों से यह असन्दिग्ध परिणाम निकलता है कि वेदों के समय वंसत संपात् (vernal equinox) मृगशीर्ष नक्षत्र (Orion) में

(४५०० ई० पू०) पड़ता था और यह भी दिखाया था कि ब्राह्मणों के समय वह (वंसत संपात्) कृत्तिका में (२५०० ई० पू० में) पड़ने लगा था।"

जब 'ओरियन' प्रकाशित हुआ, तब साधारण छपाई के कारण और लेखक का नाम अप्रसिद्ध होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों का उसकी ओर ध्यान नहीं गया। यदि वे लोग 'ओरियन' को पढ़ते तो उन्हें विदित होता कि वेदों के समय के सम्बन्ध में जिन कल्पनाओं को वे एक शताब्दी-भर से सींचकर बड़ा कर रहे थे, उनकी जड़ें हिला दी गई हैं। कुछ समय इसी प्रकार गुजर गया। यूरोपीय विद्वानों का ध्यान उस ओर बहुत मनोरंजक ढंग पर आकृष्ट हुआ। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध संस्कृतान्वेषक विद्वान् प्रो० ब्लूमफील्ड ने इसका उल्लेख करते हुए कहा था :

"साहित्य-जगत् में पिछले दो-तीन महीनों में एक सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण घटना हुई है, जिससे शास्त्री और विद्वान् समाज में बहुत खलबली मच जायगी। कोई दस सप्ताह पहले बालगंगाधर तिलक की लिखी हुई एक नई पुस्तक मेरे पास आई थी। पुस्तक छोटी-सी थी और उसकी छपाई भी आकर्षक नहीं थी। भारतीय प्रेसों में छपनेवाले ग्रन्थों की तरह उसकी छपाई भी सदोष थी। तिलक का नाम पहले कभी नहीं सुना था। फलतः मेरा ध्यान उसकी ओर आकृष्ट नहीं हुआ और मैंने उसे साधारण प्रकाशनों की भांति उसे एक ओर रख दिया। कुछ दिन पीछे मैंने उसकी भूमिका पढ़ी। उसमें भी कोई विशेष आकर्षक बात न लगी। इसलिए मैंने किसी खाली समय में देखने के लिए उसे रख दिया। उसमें वेदों के काल को चार हजार से छः हजार वर्ष पहले ले जाने की बात कही गई है। हिन्दू लोग समय के बारे में प्रायः कल्पना के आधार पर लम्बी उड़ान लगाया करते हैं, इस कारण मैं मन-ही-मन कुछ हँसा भी, परन्तु जब मैंने पुस्तक के कुछ पन्ने पढ़े तो मेरी हँसी जाती रही और मैंने अनुभव किया कि लेखक के कथन में बहुत-कुछ सचाई है, और मेरी बुद्धि विचलित-सी हो गई। वेद तथा तत्सम्बन्धी साहित्य पर लेखक का कितना अधिकार है, यह बात मुझे पहली बार ज्ञात हुई। तब मैंने उस ग्रन्थ को सरसरी तौर पर पढ़ना छोड़कर गम्भीरता से पढ़ना आरम्भ किया और आरम्भ में जिस वस्तु को क्षुद्र समझकर छोड़ने के लिए उद्यत हो गया था, वह मुझे पूरी तरह विश्वास-योग्य प्रतीत होने लगी और मुझे प्रतीत होने लगा कि इस वर्ष के साहित्य में यह पुस्तक सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है।"

प्रो० ब्लूमफील्ड की टिप्पणी से यूरोप के अन्य संस्कृतज्ञ विद्वानों का भी 'ओरियन' की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और वे उसपर ऊहापोह करने लगा। कई प्रसिद्ध विद्वानों ने उसकी विचार-शैली का समर्थन करते हुए और अधिक अनुसन्धान की आवश्यकता वतलाई।

लोकमान्य ने अपने अनुसंधान-कार्य को 'ओरियन' पर समाप्त नहीं किया। 'केसरी' और 'मराठा' के सम्पादन और अन्य सार्वजनिक कार्यों में गले तक डूबे रहने पर भी अनुशीलन और शोध का क्रम वरावर जारी रक्खा, जिसका परिणाम दूसरी और बड़ी पुस्तक 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' के रूप में १९०३ ई० में सामने आया।

वैदिक काल की प्राचीनता के सम्बन्ध में लोकमान्य ने जिस पक्ष की स्थापना ज्योतिष के आधार पर 'ओरियन' में की थी, 'आर्कटिक होम' में उसीकी सम्पुष्टि भौगोलिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक तत्त्वों द्वारा की। उन्होंने जिस पक्ष की स्थापना की वह संक्षेप में यह था कि आर्यों का आदिम स्थान ध्रुव प्रदेश में था। वहां से आर्य लोग एक ओर पश्चिम दिशा में और दूसरी ओर एशिया खण्ड में फैल गये। अपने पक्ष की पुष्टि में लोकमान्य ने जितने विविध विषयों के पाण्डित्य और विवेचना-शक्ति का प्रयोग किया, उसे देखकर पश्चिम और पूर्व के संस्कृतज्ञ विद्वान् आश्चर्य में आ गये। विशेषतः पश्चिम के पण्डितों को अचम्भा हुआ कि एक भारतीय विद्वान् भी इतना साहसिक और नवीन अन्वेषण कर सकता है। उनमें से वहुत-से विद्वानों ने तिलक के मन्तव्यों से असहमति प्रकट करते हुए भी उनकी खोज तथा शैली की खूब प्रशंसा की। मैक्समूलर और जैकोबी जैसे पौरस्त्य ज्ञान के धुरन्धर समझे जानेवाले पाश्चात्य विद्वानों ने लोकमान्य के ग्रन्थ को मौलिक विचारों से पूर्ण, शोध की दिशा को वदलनेवाला और कई अंशों में क्रान्तिकारी अंगीकार किया।

: १५ :

कांग्रेस-मण्डप का विवाद

विद्यार्थी-जीवन में आगरकर और तिलक दोनों गहरे मित्र थे। उनकी मित्रता केवल बातचीत या खेल-कूद तक सीमित नहीं थी, उसका विस्तार विचारों और भावनाओं तक था। दोनों को देश-सेवा की लगन थी, दोनों अपने जीवन को देशवासियों की सेवा में अर्पित करना चाहते थे और दोनों शिक्षा-शास्त्री थे। कुछ दूर साथ चलकर न केवल उनके रास्ते भिन्न हो गये, आपस में संघर्ष भी उत्पन्न हो गया। इसका कारण यह था कि दोनों ही अपने-अपने विचारों पर दृढ़ थे, दोनों के हृदयों में देश-भक्ति की लौ थी और दोनों ही स्वसम्मत कार्यनीति के बारे में किसी मौलिक सुलहनामे के लिए तैयार नहीं थे। दो कठोर वस्तुओं की रगड़ से ही आग उत्पन्न हुआ करती है। महाराष्ट्र की वीर भूमि के निवासी भी विश्वास की कठोरता के लिए प्रसिद्ध हैं। फिर जहां विश्वास की कठोरता सार्वजनिक महत्वाकांक्षा द्वारा पोषित हो जाय, वहां तो संघर्ष अवश्यम्भावी ही है। विशिष्ट मनुष्यों में वह संघर्ष भिन्न मनोवृत्तियों का उग्र परिणाम होने के कारण प्रायः सार्वजनिक रूप धारण कर लेता है। 'डेकन एज्यूकेशन सोसायटी' में तिलक और आगरकर के मित्र-मण्डल में जो मतभेद और झगड़ा बीजरूप में प्रारम्भ हुआ था, उसने शीघ्र पूना से आगे चलकर सारे महाराष्ट्र में एक ऐसा विचार-संघर्ष उत्पन्न कर दिया, जो तबतक शान्त नहीं हुआ जबतक देश की राजनीति ने नीति का मार्ग छोड़कर स्वाधीनता-संग्राम का रूप धारण नहीं किया।

लोकमान्य के जीवन के जिस पड़ाव तक हम पहुंच गये हैं, उसमें हम पूना के सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को दो स्पष्ट दलों में बंटा हुआ पाते हैं। आगे चलकर वह दल 'माडरेट' और 'एक्स्ट्रीमिस्ट' (नर्म और गर्म) कहलाने लगे, परन्तु उस समय उनका 'सुधारक' और 'सनातनी' (रिफार्मिस्ट और ऑर्थोडॉक्स) नामों से निर्देश किया जाता था। प्रारम्भ में सुधारक दल के नेता महादेव गोविन्द रानडे और सनातनी दल के नेता विष्णु शास्त्री चिपलूणकर थे, परन्तु धीरे-धीरे उनके नये उत्तराधिकारी तैयार हो गये थे। रानडे के उत्तराधिकारी आगरकर और गोखले और चिपलूणकर के उत्तरा-

धिकारी तिलक मैदान में आ रहे थे। प्रारम्भ में दोनों दल धार्मिक और सामाजिक मतभेदों के आधार पर बने हुए प्रतीत होते थे। एज ऑव कन्सेण्ट बिल, गणपति-उत्सव आदि विषयों पर जो विवाद हुआ, वह स्पष्ट रूप से सामाजिक ही प्रतीत होता था। दोनों दलों की उस समय की स्थिति को देखने से यह भान होता है कि सुधारक दल के नेता अधिक अग्रगामी नीति के माननेवाले थे और सनातनी दल के नेता अपरिवर्तनवादी और पिछड़े हुए थे, परन्तु आगे चलकर परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। सुधारक दल राजनीति में पिछड़ा हुआ और सनातनी दल अग्रगामी दिखाई देने लगा। राजनीति के क्षेत्र में सुधारक नर्म हो गये और सनातनी गर्म। इस अद्भुत परिवर्तन का मूल कारण क्या था, यह जानने के लिए १८९५ में पूना में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन पर मण्डप-सम्बन्धी जो विवाद हुआ, उसका सावधानी से अध्ययन बहुत उपयोगी होगा।

इण्डियन नैशनल कांग्रेस का दसवां अधिवेशन मद्रास में हुआ था। उसमें अगले अधिवेशन के लिए पूना का निमन्त्रण स्वीकार किया गया। न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे की कांग्रेस के मुख्य पथ-प्रदर्शकों में गणना थी। उनके नगर की ओर से जब निमन्त्रण प्राप्त हुआ, तो उसे प्रतिनिधियों ने बड़े हर्ष से स्वीकार कर लिया।

पूना में राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं की कमी नहीं थी। शिक्षा और सामाजिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार की उन्नति-प्रधान प्रवृत्तियों में पूना के कार्यकर्ता बम्बई से टक्कर लेते थे। 'केसरी', 'मराठा', 'ज्ञानप्रकाश' आदि पत्रों और गणपति-उत्सव तथा शिवाजी-स्मारक के आन्दोलनों ने जनता में नई चेतना फूंक दी थी। बाहर के प्रत्येक दर्शक का यह विश्वास था कि पूना में कांग्रेस का अधिवेशन अपूर्व धूमधाम से होगा, परन्तु जब स्वागतकारिणी समिति के निर्माण और धन-संग्रह का समय आया तो एक विकट अड़चन खड़ी हो गई। प्रारम्भ से यह प्रथा चली आई थी कि कांग्रेस का अधिवेशन हो चुकने पर कांग्रेस के पण्डाल में ही सोशल कान्फ्रेंस का अधिवेशन किया जाता था। सोशल कान्फ्रेंस में समाज-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकार किये जाते थे। रानडे महोदय उस कान्फ्रेंस के मुख्य संचालकों में से थे। पूना का सुधारक दल उसका पूर्ण समर्थक था। जब पूना में स्वागत-समिति का संगठन-कार्य आरम्भ हुआ तो इस प्रश्न पर विवाद छिड़ गया कि सोशल कान्फ्रेंस का अधिवेशन कांग्रेस के मण्डप में हो या नहीं। इस विवाद ने ऐसा रौद्र रूप धारण किया कि एक बार तो यह सन्देह हो गया था कि पूना में कांग्रेस का अधिवेशन हो भी सकेगा या नहीं!

जब पूना में राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन का कार्य आरम्भ हुआ, तब

नगर के अन्यतम प्रमुख सार्वजनिक नेता की हैसियत से उसका बहुत-सा बोझ लोकमान्य पर भी पड़ा। वह कांग्रेस-कमेटी के मन्त्री भी थे। यद्यपि प्रारम्भ से ही स्वागत-समिति में सुधारक दल का बहुमत था तो भी लोकमान्य धनसंग्रह के कार्य में सहयोग देने लगे और 'केसरी' द्वारा लोगों को स्वागत-समिति की सहायता करने के लिए प्रेरित करने लगे।

इधर धन-संग्रह का कार्य आरम्भ हुआ और उधर कुछ सनातन विचार के प्रतिष्ठित नागरिकों की ओर से यह प्रश्न पूछा जाने लगा कि क्या पूना में भी कांग्रेस-पण्डाल में सोशल कान्फ्रेंस का अधिवेशन किया जायगा ? इस प्रश्न के उठानेवालों के मुखिया श्रीमंत बालासाहब नातू तथा कुछ पत्रकार थे। यद्यपि यह प्रश्न लोकमान्य की ओर से नहीं उठाया गया था तो भी क्योंकि नातू लोकमान्य के मुख्य अनुयायी और सहायक माने जाते थे, इसलिए यह समझा जाने लगा कि पण्डाल का विवाद उठाने में लोकमान्य का हाथ है। प्रारम्भ में पण्डाल-सम्बन्धी विवाद के बारे में लोकमान्य का मत यह था कि चाहे उसके विषय में कितना ही मतभेद हो, कांग्रेस की तैयारी के कार्य में उसके कारण कोई शिथिलता नहीं आनी चाहिए। 'केसरी' के पृष्ठों में पूना-निवासियों को एकमत होकर राष्ट्रीय महासभा की तैयारी में लगा रहने के लिए वह प्रोत्साहित करते रहे। आपने सनातन विचार के लोगों को समझाने के लिए 'केसरी' में लिखा था :—

> "राष्ट्रीय महासभा हो जाने पर चूंकि वह मण्डप जूठा हो जायगा, वहां समाज-सुधार-परिषद् हो भी जाय तो क्या और न हो तो भी क्या नफा-नुकसान है ? जूठनवाली जगह में अपना काम निबटानेवाली सभा राष्ट्रीय सभा की दृष्टि से गौण ही सिद्ध होती है।"

पूना के निवासियों को राष्ट्रीय महासभा का कार्य करने का प्रोत्साहन देते हुए लोकमान्य ने जो युक्ति दी थी, उसमें एक स्पष्ट व्यंग्य था। उस व्यंग्य का उद्देश्य सनातन विचारों की जनता को सन्तुष्ट करना था। समाज-सुधार के प्रति घृणा की भावना स्पष्ट थी, यद्यपि वह प्रकारान्तर से कही गई थी। ऐसी व्यंग्यपूर्ण उक्तियों से भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इससे सनातन विचार के लोगों और सुधारकों ने भी यह परिणाम निकाला कि लोकमान्य वस्तुतः कांग्रेस-पण्डाल में सोशल कॉन्फ्रेंस हो, इस विचार के विरोधी हैं। इस समय वह केवल दुर्जन-तोष-न्याय से उसे लोग क्षन्तव्य मान रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि सनातन विचारों के लोग अधिक उत्साह से विरोध करने लगे और सुधारक दल की घबराहट शान्त न हुई। लोकमान्य यह तो चाहते थे कि कांग्रेस के कार्य में सब लोग सहयोग दें, परन्तु दिल से यह नहीं चाहते थे कि सोशल कान्फ्रेंस का अधि-

वेशन कांग्रेस-पण्डाल में हो। इस बात को उनके अनुयायी समझते थे। अतएव 'केसरी' के प्रेरणात्म लेखों का कोई विशेष प्रभाव न हुआ और सनातन पक्ष के लोगों का यह आग्रह बढ़ता गया कि जबतक यह निश्चय न कर दिया जाय कि कांग्रेस-मण्डप में सोशल कान्फ्रेंस न होगी तबतक स्वागतकारिणी को आर्थिक सहायता न दी जाय।

उधर कांग्रेस की वर्किंग-कमेटी का बहुमत सुधारक-दल का समर्थक था। उन लोगों का मत था कि समाज-सुधार के बिना राजनैतिक उन्नति सम्भव नहीं, इस कारण कांग्रेस के साथ सोशल कान्फ्रेंस का होना उचित ही है। उनका यह भी मत था कि कई वर्षों से कांग्रेस-मण्डप में सोशल-कान्फ्रेंस का अधिवेशन होने की प्रथा चिरकाल से चली आई है, उसे पूना में बन्द कर देने का कोई कारण नहीं है। यद्यपि लोकमान्य मन्त्री होने के कारण स्वागतकारिणी के कार्य में सहयोग देते रहे, परन्तु पूना के सुधारक-दल और उसके प्रभाव से वर्किंग कमेटी की भी यह शिकायत बनी रही कि तिलक की ओर से पूरा सहयोग नहीं मिल रहा और उनके दल की ओर से कार्य में अड़चनें डाली जा रही हैं।

पूना का झगड़ा बम्बई तक पहुंचा तो कांग्रेस की स्टैंडिंग कमेटी ने बीच-बिचाव करने के निमित्त से नई योजना बनाई। उस योजना के अनुसार स्वागत की प्रबन्धकारिणी समिति तोड़ दी गई और उसके स्थान पर एक नई समिति बना दी, जिसके सात सदस्य थे। दो-दो सदस्य दोनों झगड़ने-वाले दलों के रक्खे गये और तीन बम्बई के सदस्य थे। सनातन पक्ष के दो प्रतिनिधियों में एक लोकमान्य तिलक थे। बम्बई के तीनों सदस्य सुधारक-दल के समझे गये, अतः सनातन दल ने नई समिति को पसन्द नहीं किया, क्योंकि उसमें उनका पक्ष बहुत ही निर्बल हो गया था। फलतः लोकमान्य तिलक ने नई समिति से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र के प्रकाशित होने पर सुधारक-दल को यह कहने का अवसर मिल गया कि यद्यपि तिलक अपने-को समाचार-पत्रों में निष्पक्ष प्रकट करते थे, परन्तु वस्तुतः वह पहले से ही सनातन दल का नेतृत्व कर रहे थे।

स्टैंडिंग कमेटी के निर्णय का विरोध करने के लिए पूना की रे मार्केट के मैदान में एक बड़ी सार्वजनिक सभा हुई। उसमें लोकमान्य ने स्वागत की कार्यकारिणी के झगड़ों पर अपना वक्तव्य दिया और उसके पश्चात् कई प्रस्ताव स्वीकार किये गए। उनका अभिप्राय यह था कि यदि कांग्रेस के मण्डप में सोशल कान्फ्रेंस का अधिवेशन करने पर रोक न लगाई गई, तो पूना के लोग (जिनमें सर्वसाधारण तथा व्यापारी वर्ग की बहुतायत थी) उससे कोई सहयोग न करेंगे। उसी सभा में तिलक-दल के एक प्रभावशाली

सदस्य श्रीधर विट्ठल दाते ने एक जोरदार भाषण दिया, जिसमें सोशल कान्फ्रेंस के अधिवेशन की चर्चा करते हुए आपने कहा—

"पूना के लोगों ने केवल राष्ट्रीय महासभा की बैठक के लिए ही सुधारकों की प्रधानता रखनेवाली समिति पर विश्वास किया है, किन्तु यदि समाज-सुधार-परिषद् को बहुमत के विरुद्ध राष्ट्रीय सभा का पण्डाल दिया गया, तो वह अनधिकार चेष्टा होगी, और उसे विश्वास-घात माना जायगा। वर्किंग कमेटी जिस प्रकार सुधारप्रिय है, वैसे हम और तिलक भी हैं, किन्तु सामाजिक परिषद् और उसके नेता जन-समाज में अप्रिय हैं। ऐसी दशा में जबकि लोग परिषद् के लिए मण्डप देने के विरुद्ध हैं, तो फिर उन्हें ऐसा करने का क्या अधिकार है?"

भाषण में अस्पष्ट शब्दों में यह धमकी भी दी गई थी कि यदि लोक-मत की पर्वा न करके राष्ट्रीय मण्डप में परिषद् का अधिवेशन करने का यत्न किया गया तो मण्डप की 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' वाली दशा भी हो सकती है, अर्थात् उसे अग्निसात् भी किया जा सकता है।

दातेसाहब की घोषणा ने तो जलती आग में घी की आहुति डाल दी। दातेसाहब बहुत जोरदार आदमी थे। जैसे शरीर से लम्बे-चौड़े थे, वैसी ही उनकी बुलन्द आवाज थी। ऊंची और विशाल पगड़ी ने उनकी ऊंचाई को और भी बढ़ा दिया था। वह धनी भी थे और उदार भी। एक बड़ा दोष भी उनमें था, जो प्रायः इनसब गुणों के साथ निवास करता है। दोष यह था कि वाणी और व्यवहार में संयम का अभाव था। ऐसे व्यक्ति सर्व-साधारण को भड़काने में बहुत सफल हो जाते हैं। रे मार्केट की सभा में उनका 'इन्द्राय स्वाहा, तक्षकाय स्वाहा' आदि वाक्यों का प्रयोग पूना की जनता में ऐसे फैल गया, जैसे सूखे घास के ढेर में आग। 'यदि कांग्रेस मण्डप में सोशल कान्फ्रेंस हुई तो मण्डप को आग लगा दी जायगी।' यह वाक्य था जो सनातनी दल में चक्कर काटने लगा।

जब जोश बहुत बढ़ गया और यह आशंका हो गई कि शायद कांग्रेस का अधिवेशन भी न हो सके, तब समाज-सुधार-परिषद् के मुख्य संचालक रानडे महोदय ने स्वागतकारिणी को यह सूचना भेज दी कि इस वर्ष परि-षद् का अधिवेशन कांग्रेस के मण्डप में नहीं किया जायगा। कांग्रेस के मनो-नीत अध्यक्ष श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी स्वागतकारिणी को यही परामर्श भेजा कि परिषद् का अधिवेशन कांग्रेस-मण्डप में करने का विचार छोड़ दिया जाय। फलतः स्वागतकारिणी की ओर से यह घोषणा कर दी गई कि परिषद् कांग्रेस-मण्डप में न होगी। तिलक स्वागतकारिणी से अलग हो गये, परन्तु विवादग्रस्त विषय पर विजय उनकी ही हुई। स्वागत-समारोह में

उन्होंने और उनके अनुयायियों ने अध्यक्ष का स्वागत अलग अपने ही ढंग पर किया। स्वागत-समिति ने अध्यक्ष के स्वागत की व्यवस्था पूना स्टेशन पर की थी। तिलक और उनके अनुयायी उससे पूर्व ही हडपसर स्टेशन पर पहुंच गये और वहां धूमधाम से स्वागत-सत्कार कर दिया।

इस प्रश्न पर लोकमान्य के चरित-लेखक प्रायः विचार प्रकट करते रहे हैं कि मण्डप-काण्ड को खड़ा करने में तिलक महाराज का असली उद्देश्य क्या था ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए पहली ध्यान रखने-योग्य बात यह है कि वस्तुतः मण्डप-सम्बन्धी विवाद का प्रारम्भ लोकमान्य ने नहीं किया था। यह विवाद नातू आदि कुछ प्रभावसम्पन्न नागरिकों की ओर से उठाया गया था। लोकमान्य दिल से पूना में राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की सफलता चाहते थे। यों दिल से वह समाज-सुधार के विरोधी न होते हुए सनातनधर्मावलम्वी थे, और सोशल कान्फ्रेंस को पसन्द नहीं करते थे। इसके साथ ही मिली हुई यह बात भी थी कि पूना का समाज-सुधारक दल तिलक महाराज का स्थायी विरोधी बन गया था। गणपति-उत्सव हो या शिवाजी-उत्सव, जिस कार्य के नेता तिलक हों, उसकी विपरीत आलोचना करना सुधारक-दल के पत्रों की नीति का अंग-सा बन गया था। लोकमान्य तिलक नें, अन्दर से कांग्रेस-मण्डप को समाज-सुधार-परिषद् के लिए दिये जाने के पक्ष में न होते हुए भी, विवाद उठने पर, उसे शान्त करने की बहुत चेष्टा की। कई प्रकार की युक्तियां देकर सनातन पक्ष के लोगों को उन्होंने समझाया, परन्तु सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह भी था कि लोकमान्य ने जो युक्तियां दीं, वे ऐसी व्यंग्यपूर्ण थीं कि उनसे शान्त होने की अपेक्षा सनातन पक्षवालों का जोश बढ़ता गया, क्योंकि उन्हें यह निश्चय होता गया कि लोकमान्य हृदय से उनके साथ हैं।

कुछ समय तो लोकमान्य विवाद को शान्त करने का यत्न करते रहे, परन्तु जब उन्होंने देखा कि सनातन पक्ष के लोग, जो लोकमान्य के अनुयायी होने का दावा करते थे, शान्त होने को तैयार नहीं हैं और सुधारक-दल सारे विवाद का मूल प्रेरक उन्हें ही समझता है, तो लोकमान्य इस परिणाम पर पहुंच गये कि स्पष्ट रीति से कांग्रेस-मण्डप से परिषद् का सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए। वह अनुभव करने लगे कि यदि ऐसा न किया गया तो कांग्रेस केवल कुछेक शिक्षितों और सुधारक कहलानेवालों की संस्था रह जायगी, सर्वसाधारण जनता का उसमें कोई भाग न रहेगा। तब उन्होंने स्वागत-समिति से अलग होकर अपना पूरा प्रभाव परिषद् को मण्डप दिये जाने के विरोध में डाल दिया और सफल हो गये। इस सफलता ने महाराष्ट्र की सर्वसामान्य जनता में लोकमान्य की शक्ति को दसगुना कर दिया।

: १६ :

'सार्वजनिक सभा'-सम्बन्धी संघर्ष

१८७० ई० के अप्रैल मास में पूना में सार्वजनिक कार्यों के लिए एक सभा की स्थापना हुई, जिसका नाम 'सार्वजनिक सभा' रक्खा गया। सभा का उद्देश्य था—'सरकार और जनता के बीच मध्यस्थता करना तथा लोगों की मांग और उनकी यथार्थ स्थिति समय-समय पर सरकार को अर्जी के रूप में सूचित करना एवं इसी तरह से सरकार का अभिप्राय जनता तक पहुंचाना।' इसके अधिकारियों में राजा और सरदार लोग भी सम्मिलित थे। मुख्य कार्यकर्ता गणेश वासुदेव जोशी थे, जो 'सार्वजनिक काका' के नाम से प्रसिद्ध थे। १८९६ तक सभा के मन्त्री गोपालराव गोखले रहे और सभा की कार्यनीति का संचालन न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे के पथ-प्रदर्शन में होता रहा। इन वर्षों में सभा ने कई सार्वजनिक काम हाथ में लिये, जिनमें से अधिकतर स्थानीय थे। सभा ने जिस व्यापक कार्य को हाथ में लिया, वह १८७७ के दुर्भिक्ष के सम्बन्ध में था। उस अवसर पर सभा ने जनता के कष्टों को सरकार तक पहुंचाकर उपयोगी सेवाकार्य किया।

लगभग पच्चीस वर्षों तक सभा का प्रवाह शान्त वातावरण में चलता रहा। सभा जनता और सरकार में दूतीकर्म करती रही। प्रजा का दुखड़ा यथासम्भव हल्का करके शासकों तक पहुंचा दिया और सरकार का मन्तव्य यथासम्भव युक्तिसंगत बनाकर प्रजा तक पहुंचा दिया, सभा का प्रधान कर्तव्य यही रहा। उस समय सुधारक मनोवृत्ति का यही अभिप्राय था।

१८९५ में वातावरण में हलचल के चिह्न दिखाई देने लगे। पूना के सार्वजनिक जीवन में जो उथल-पुथल हो रही थी, उसका सार्वजनिक सभा पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अग्रगामी दल, जिसका नेतृत्व तिलक के हाथों में आ गया था, इस बात से सन्तुष्ट नहीं था कि सभा केवल दूतीकर्म करती रहे। यों तो तिलक कई वर्ष पहले से सभा के सदस्य थे, परन्तु उस सभा पर अधिकार करके उसे अधिक सक्रिय बनाने का विचार उनके मन में १८९५ में उत्पन्न हुआ। सभा के नये सभासद् बनने के लिए आवश्यक था कि महाराष्ट्र के कोई पचास सज्जन नाम की सिफारिश करें और

फिर सभा के पुराने सभासद् उसे स्वीकार करें। फलतः प्रतिवर्ष वार्षिक चुनाव से पूर्व नये सदस्यों की भर्ती का कार्य जोर-शोर से आरम्भ हो जाता था। १८९५ में पूना में अग्रगामी दल का प्रभाव काफी बढ़ चुका था। जो नये सभासद् निर्वाचित हुए, उनमें अधिक संख्या लोकमान्य के अनुयायियों की थी।

१४ जुलाई को अधिकारियों का निर्वाचन हुआ। अधिवेशन में पचास पुराने और पचहत्तर नये सभासद् उपस्थित थे। सभापति के उपस्थित न होने के कारण उप-सभापति श्री बाबा महाराज ने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। प्रारम्भ से ही यह पता चल गया था कि सभा में तिलक-पक्ष का बहुमत है। विरोधी पक्ष ने शस्त्र फेंक दिये, और जब प्रबन्धक-कमेटी के सदस्यों के चुनाव का समय आया, तब माधवराव नामजोशी ने पहले से तैयार नामों की सूची पढ़ी और वह स्वीकृत हो गई। प्रधान पद पर विनायक रामचन्द्र उर्फ अन्नासाहब पटवर्धन चुने गए और नये खजांची बालासाहब नातू बनाये गए। ये दोनों तिलक-दल के विशेष व्यक्ति थे। मन्त्री का कार्यभार स्वयं तिलक ने संभाला। नाममात्र को सुधारक-दल के कुछ सदस्य भी प्रबन्धक-समिति में रक्खे गए, और प्रधान मन्त्री गोपालकृष्ण गोखले को ही बनाये रक्खा गया। परन्तु उसमें कोई सार नहीं था, क्योंकि सारी शक्ति अग्रगामी दल के हाथ में चली गई थी। सार्वजनिक सभा की इस क्रान्ति को सुधारक-दल ने 'अहं पिशाचिका का ताण्डव' नाम से निर्दिष्ट किया था। बम्बई के समाचार-पत्रों ने गोखले दल का 'माडरेट पार्टी' और तिलक दल का 'एक्स्ट्रीमिस्ट या फार्वर्ड पार्टी' नामकरण उसी समय किया।

यह तो स्पष्ट ही हो गया था कि सार्वजनिक सभा का संचालन भविष्य में अग्रगामी दल के हाथ में रहेगा, अतः जब १८९६ के मार्च मास में गोखले ने सभा के प्रधानमन्त्री-पद से त्यागपत्र दे दिया, उसी वर्ष अक्तूबर के महीने में जस्टिस रानडे के परामर्श के अनुसार 'डेकन सभा' नाम की नई संस्था कायम की गई। उस सभा की स्थापना के अवसर पर वक्ताओं ने सार्वजनिक सभा के नये कार्यकर्ताओं पर कुछ आक्षेप किये थे। जब वे समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए, तो लोकमान्य तिलक के मन में बहुत विक्षोभ उत्पन्न हुआ। यह विक्षोभ कितना उग्र था, इसका अनुमान 'केसरी' के निम्नलिखित लेख से लगाया जा सकता है। इस लेख से उस समय के वातावरण और लोकमान्य की कठोर और पैनी लेखन-शैली का अनुमान भी लगाया जा सकता है। 'डेकन सभा' की स्थापना पर टिप्पणी करते हुए 'केसरी' में 'यह बुड्ढों का भ्रष्टिमपण है या बच्चों का खेल' शीर्षक से उन्होंने लिखा था—

"बड़े लोगों के दोष भी बड़े ही होते हैं। रानडे ने डेकन सभा

कायम करके भयंकर भूल की है। किन्तु उनके बड़े हो जाने से ही क्या हम उनका विरोध करने से डर जायंगे ? उनकी-सी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता किसी अंश में हम भी रखते हैं। और किसीके ऐश्वर्य से हम धोखा नहीं उठा सकते।...जिस प्रकार बेकन मानव-जाति में अत्यंत चतुर किन्तु महज नीच था, उसी प्रकार रानडे की बुद्धि व्यापक होने पर भी उदात्त नहीं है। ईश्वर को कम दर्जे का जोड़ीदार कभी नहीं सुहा सकता, उसी प्रकार रानडे को तिलक नहीं सुहा सकते। तभी तो उन्होंने सार्वजनिक सभा की छाती पर पांव रखने के लिए डेकन सभा की स्थापना की है।...इस प्रकार के डेढ़-दो दर्जन पेन्शनर और परप्रकाशी स्वयंप्रज्ञ युवाओं का अपूर्व संयोग रानडे की छत्रछाया में मिल जाने से ही वह सभा (डेकन सभा) स्थापित हो गई। रानडे ने भयंकर अविचारपूर्ण कार्य किया और उनके हाथों से भ्रूण-हत्या का पातक हो गया है।...तभी तो उन्होंने सार्वजनिक सभा के लिए सौत खड़ी करके अपनी कुटिलता, अनुदारता और क्षुद्र बुद्धि जग-जाहिर कर दी है। किन्तु फिर भी पिंजरापोल में इकट्ठे होनेवाले पेन्शनर लोग किबे वाड़े के शीशमहल में जाकर क्या दिये लगायेंगे, सो अभी से दिखाई पड़ता है।"...

इसी प्रकार बहुत-सी अग्निवर्षा कर देने के पश्चात् स्वयं लोकमान्य ने ही अनुभव किया प्रतीत होता है कि बहुत-सा अनर्गल लिखा गया। लेख के अन्तिम वाक्य ये थे—

"आशा है कि अब किंचित् स्वेच्छाचार से अस्पृश्य हो जाने-वाली लेखनी को फिर हाथ में लेने की आवश्यकता न पड़ेगी।"

इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व दो प्रश्नों के उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहला प्रश्न यह कि सार्वजनिक सभा पर तिलक-पक्ष का अधिकार क्या कोई अनुचित या अवैध कार्य था ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है कि उसमें कोई अनौचित्य नहीं था। जो परिवर्तन हुआ, वह सभा के नियमों के अनुसार ही था। जहां चुनाव-पद्धति प्रचलित है और बहुमत से जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें अनुचित नहीं कहा जा सकता।

दूसरा प्रश्न यह है कि सुधारक दल ने डेकन सभा की स्थापना करके कोई अनुचित काम किया ? वैधानिक दृष्टि से इस प्रश्न का भी यही उत्तर है कि किसी विशेष उद्देश्य से नई सभा की स्थापना करना किसी दृष्टि से भी अनुचित नहीं है। सार्वजनिक कार्य के लिए सभा का संगठन करना हर एक नागरिक का मौलिक अधिकार है।

ऐसी दशा में मन में यह प्रश्न उठता है कि जब दोनों बातों में से किसी में भी अनौचित्य नहीं था तो तत्सम्बन्धी वाद-विवाद में इतनी अधिक तीक्ष्णता क्यों आ गई? सुधारक पत्रों के 'अहं पिशाचिका का ताण्डव' इस शीर्षक पर 'केसरी' के 'यह वृद्धों का अष्टिमपण' ने बाजी मारने का यत्न किया, और सम्पूर्ण लेख में जो विष-वर्षा की गई, प्रतीत होता है कि उससे तो स्वयं लेखक के हृदय में भी ग्लानि उत्पन्न हो गई। यों, दोनों ओर के नेता विद्वान्, देशभक्त और प्रतिष्ठित महानुभाव थे। फिर भी वाद-विवाद में जो उष्णता उत्पन्न हुई, उसके दो कारण प्रतीत होते हैं। एक कारण तो भाषा-सम्बन्धी है, जो प्रान्तीय विशिष्टता का परिणाम है। महाराष्ट्र प्रान्त भौतिक दृष्टि से अपनी कठोरता के लिए प्रसिद्ध है। वहां मैदान कम, और ऊंची-नीची पहाड़ियां अधिक हैं। महाराष्ट्र के निवासियों की परिश्रमशीलता और खरेपन का एक यह भी कारण है। खरेपन से मेरा अभिप्राय यह है कि उनमें अभिधा का प्रेम अधिक और व्यंजना का कम है, और जब व्यंजना आती भी है तो अभिधा की कठोरता को नर्म नहीं करती, अपितु उसकी सहायक बन जाती है। जो लोग महाराष्ट्र की इस विशेषता को नहीं समझते, वे प्रायः उस प्रान्त के सम्बन्ध में गलत राय बना लेते हैं। साधु भाषा में शिवाजी की चतुराई को धूर्तता कहना या किसी राजनीतिज्ञ को बुरा लिखने के स्थान पर "लबाड़" लिखना भाषा की अभिधा-प्रधानता का सूचक हो सकता है, विद्वेष या खोट का सूचक नहीं।

उस समय के विवाद की कटुता का एक गहरा कारण यह भी था कि दोनों दलों के मतभेद केवल सभा-सोसायटियों तक ही परिमित नहीं थे, वे मौलिक और मनोवैज्ञानिक थे। १८८५ में भारत की जो राजनैतिक मनोवृत्ति इण्डियन नैशनल कांग्रेस के रूप में प्रकाशित हुई थी, उसका मूल आधार यह विश्वास था कि १८५८ में मलका विक्टोरिया ने भारत के सम्बन्ध में जो घोषणापत्र प्रकाशित किया था, वह भारत के प्रति अंग्रेज जाति की सद्भावना का ठीक चित्र था। इंग्लैण्ड के निवासी भारतवासियों को अपने बराबर का दर्जा देना चाहते थे, इस कारण अपने उचित अधिकार प्राप्त करने के लिए यह पर्याप्त था कि भारतवासी अपनी शिकायतें और मांगें ब्रिटिश सरकार और अंग्रेज-जाति के कानों तक पहुंचायें। उस समय के शिक्षित भारतीय नेता मानते थे कि अंग्रेजों का भारत से सम्बन्ध भगवान् की कृपा का परिणाम है और उससे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए। उन लोगों का यह भी विचार था कि देश की राजनैतिक पराधीनता तबतक दूर नहीं हो सकती, जबतक हमारी सामाजिक बुराइयां दूर न हों, इस कारण समाज-सुधार राजनैतिक सुधार का आवश्यक अंग है। कांग्रेस के साथ प्रतिवर्ष

सोशल कान्फ्रेंस करने का मुख्य हेतु यही था। समाज-सुधार पर बल देने के कारण वे लोग सुधारक कहे जाते थे।

सुधारक दल जिस विधि से देश की राजनैतिक दासता को दूर करना चाहता था, वह तर्क-संगत होते हुए भी बहुत लम्बी होने के कारण संकटों से भरपूर थी। सदियों और युगों की जमी हुई सामाजिक बुराइयां दस-बीस साल तो क्या, एक सदी में भी सर्वथा उन्मूलित नहीं हो सकतीं, परन्तु एक सदी किसी शक्तिशाली विदेशी शासन द्वारा पराधीन देश की सामाजिक, मानसिक और राजनैतिक चेतना को कुचलने के लिए पर्याप्त है। यदि पराधीन देश के निवासी यह समझकर कि अभी हमारी सामाजिक कुरीतियां दूर नहीं हुईं, चिरकाल तक विदेशी शासन को सहते रहें तो सम्भव है कि न रहे बांस और न बजे बांसुरी। देश की चेतन सत्ता ही नष्ट हो जाय, जिससे समाज-सुधार की आवश्यकता ही न रहे। उन्नीसवीं ईस्वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में देश की राजनैतिक परिस्थिति दिनोंदिन बिगड़ रही थी। अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी सभ्यता का जादू राष्ट्र के आन्तरिक रस को चूस रहा था। ऐसी दशा में स्वाधीनता की भावना से भरे हुए भारतीय हृदय यदि बेचैन हो उठे थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। वे अनुभव करने लगे थे कि देश के सामने समाज-सुधार, शिक्षा-सुधार आदि की अनेक समस्याएं विद्यमान होते हुए भी जो समस्या अन्य समस्याओं की जननी है, वह राजनैतिक दासता की समस्या है। पहले उसे हल करना अनिवार्य है। उसके रहते कोई समस्या भी पूरी तरह हल नहीं हो सकती।

लोकमान्य तिलक उस 'अनुभव' के प्रतीक थे। वह देश की राजनैतिक दासता से मुक्ति को इतना तत्काल आवश्यक मानते थे कि समाज-सुधार के कार्यक्रम की पूर्ति की प्रतीक्षा करना हानिकारक समझते थे। दूसरी बात यह थी कि वह स्वाधीनता के आन्दोलन में सुधारक और सनातनी, सभीका सहयोग आवश्यक समझते थे यह असन्दिग्ध सचाई थी कि सुधारकों की संख्या उस समय सनातन विचार के लोगों की तुलना में नगण्य थी। समाज-सुधार को राजनैतिक आन्दोलन का अविभाज्य अंग मानने का यह स्वाभाविक परिणाम होता कि सर्वसाधारण जनता राष्ट्रीय सभा से अलग-थलग रहती। यह बात राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए विष के समान थी। केवल मुट्ठीभर नेताओं के बल पर कोई राष्ट्र स्वाधीनता प्राप्त नहीं किया करता। लोकमान्य का लक्ष्य यह था कि भारत की सर्वसाधारण जनता में राजनैतिक चेतना उत्पन्न करके उसे राष्ट्रीय आन्दोलन का जोरदार सहायक बनाया जाय। मनोवृत्तियों का यही मौलिक मतभेद था, जो धीरे-धीरे पूना के सार्वजनिक जीवन में स्थूल रूप धारण कर रहा था।

: १७ :

सरकार से सीधी टक्कर का आरम्भ

शिक्षण-संस्थाओं से सम्बन्ध तोड़ने के पश्चात् लोकमान्य मुख्य रूप से राजनैतिक कार्य में लग गये। 'ओरियन' और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' अवकाश के समय की उपज थीं।

'केसरी' और 'मराठा' थोड़े ही वर्षों में महाराष्ट्र के मुख्य पत्र माने जाने लगे। लोकमान्य की प्रवल लेखनी से निकले हुए राष्ट्रीयता से ओतप्रोत लेखों ने महाराष्ट्र की सर्वसाधारण जनता के हृदयों पर अधिकार जमा लिया, जिसके आधार पर लोकमान्य के सार्वजनिक जीवन का उत्तुंग और विशाल भवन खड़ा हो रहा था। पहले लोकमान्य ने सार्वजनिक सेवा के रिवाजी साधनों का उपयोग करने का प्रयत्न किया। १८९५ में वह जहां एक ओर पूना की म्युनिसिपैलिटी के सदस्य निर्वाचित हुए, वहां उसी वर्ष वह बम्बई की धारा-सभा के सदस्य भी चुने गये। दोनों चुनावों में खूब संघर्ष हुआ। विरोधी उम्मीदवार धन और सांसारिक प्रभाव की दृष्टि से खूब बढ़े हुए थे, तो भी लोकमान्य को सफलता प्राप्त हुई। उसका मुख्य कारण यह था कि लोकमान्य पर सामान्य जनता की आस्था बढ़ रही थी। महाराष्ट्र के लोग यह अनुभव करने लगे थे कि 'केसरी' और 'मराठा' का सम्पादक जो कुछ लिखता है, उसपर ही विश्वास रखता है, और जिस बात पर विश्वास रखता है, उसके लिए तन, मन और धन—सभी कुछ लगाने को तैयार है।

इन वर्षों में तिलक इण्डियन नैशनल कांग्रेस और बम्बई की प्रान्तीय कान्फ्रेंस में भी सम्मिलित होते रहे। उनके विविध विषयों पर भाषण होते रहे, जिनसे उनकी योग्यता और सार्वजनिक विषयों के अध्ययन की गहराई टपकती थी।

म्युनिसिपैलिटी, धारा-सभा, कांग्रेस और कान्फ्रेंस—ये सभी आन्दोलन और सेवा के रिवाजी उपाय थे। जिन लोगों के लिए राजनीति केवल शौक की चीज थी, या खाली समय का व्यवसाय था, वे उन रिवाजी उपायों से सन्तुष्ट हो सकते थे, परन्तु एक ऐसे देश में, जिसकी राजनैतिक सत्ता विदेशियों के हाथ में हो, रिवाजी उपाय खोखले ही होते हैं। सुधारक

दल के अग्रणी और सार्वजनिक जीवन में लोकमान्य तिलक के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी गोपालकृष्ण गोखले ने लम्बे सेवामय जीवन का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् स्वीकार किया था कि एक दास देश में ऊंचे-से-ऊंचे उठनेवाले व्यक्ति की ऊंचाई भी स्वतन्त्र देश के व्यक्ति के समान नहीं हो सकती। रिवाजी उपायों से पराधीन देश के निवासियों को केवल रिवाजी महत्व प्राप्त होता है, उसे वास्तविकता नहीं कहते, पराधीनता का तौक उनके गले में बंधा रहता है।

प्रतीत होता है कि गोखले जिस परिणाम पर लम्बे सार्वजनिक जीवन के अनुभव के आधार पर पहुंचे थे, तिलक को उसपर इन प्रारम्भिक वर्षों के थोड़े-से अनुभव ने ही पहुंचा दिया था। उन्होंने थोड़े ही समय में अनुभव कर लिया था कि ये रिवाजी उपाय पराधीनता की उन शृंखलाओं को तोड़ने में सफल नहीं हो सकते, जिनसे भारत-निवासी बंधे हुए हैं। इसके लिए आवश्यक है कि उन शृंखलाओं पर सीधी चोट की जाय। समय चाहे कितना ही लगे, और कष्ट चाहे कितने ही उठाने पड़ें, शृंखलाओं से मुक्ति तभी मिलेगी जब वे टूट जायंगी। इस अनुभूति के होने पर लोकमान्य आन्दालन और सेवा के रिवाजी उपायों से कुछ ही वर्षों में उकता गये और अन्तःप्रेरणा ने उन्हें सरकार के साथ सीधे संघर्ष में लगा दिया।

पराधीन देश में संघर्ष के अवसरों की लम्बी खोज नहीं करनी पड़ती। वह घर के द्वार पर ही मिल जाते हैं। अपने राजनैतिक जीवन में लोकमान्य को सरकार के अधिकारियों के विरुद्ध जो अनेक युद्ध लड़ने पड़े, उनमें से पहला क्राफर्ड-प्रकरण नाम से प्रसिद्ध है।

क्राफर्ड का पूरा नाम आर्थर टी० क्राफर्ड था। वह बम्बई प्रेसीडेंसी के सेण्ट्रल डिवीजन में रेविन्यू कमिश्नर था। उसकी तबीयत नवाबी ढंग की थी। उसके दिन ऐश में और रात पीने में बीतती थी। सप्ताहों तक सरकारी काम खटाई में पड़े रहते थे। जब उनका निबटाना जरूरी हो जाता था, तब एक ओर शराब की बोतल और दूसरी ओर कागजों के ढेर रखकर वह बैठ जाता था और फटाफट आर्डर लिखाता जाता था। एक ही रात में सप्ताहों के काम का सफाया करके फिर कई सप्ताहों के लिए चैन की बंसी बजाना क्राफर्डसाहब का निश्चित कार्यक्रम था।

ऐसा आदमी खर्चीला तो होता है, उसका धन शराब और उससे सम्बंद्ध अन्य बदकारियों के रास्तों से दिन-रात बहता रहता है। ऐसे आदमियों का निर्वाह नियत वेतन से नहीं हो सकता। इस कारण उन्हें भ्रष्टाचार का सहारा लेना पड़ता है। विलासिता का पेट रिश्वत से भरना पड़ता है। क्राफर्ड भी पहले दर्जे का रिश्वतखोर था। वह हिन्दुस्तानी लोगों

में खूब हिल-मिलकर रहता था, जिससे उसे अनुचित रियायतों के बदले में रिश्वतें लेने में बहुत सहायता मिलती थी।

क्राफर्ड के भ्रष्टाचारों की चर्चा पहले आम प्रजा में फैली, और फिर धीरे-धीरे प्रान्तीय सरकार के ऊंचे अफसरों तक भी पहुंच गई। उन दिनों बम्बई प्रान्त के गवर्नर लार्ड रे थे। उस हिरण्यकशिप-राज्य में लार्ड रे को प्रह्लाद भगत ही समझना चाहिए। उनके बारे में बम्बई प्रान्त के बहुत-से भारतीय नेताओं की सम्मति थी कि "वह भारत के उन शासकों में से अन्यतम हैं, जो अत्यन्त ईमानदार और उन्नत विचारोंवाले माने जाते हैं।" जब लार्ड रे को क्राफर्ड के भ्रष्टाचार के समाचार मिले, तो बम्बई सरकार ने तत्काल उसकी छान-बीन करने का निश्चय किया।

क्राफर्ड-जैसे चालाक आदमी कभी अपने हाथ से चोरी नहीं करते। ऐसे कामों के लिए वे दूसरों को औजार बनाते हैं। क्राफर्ड का औजार हनुमन्तराव नाम का एक धूर्त जागीरदार था। वह स्वयं खाता और क्राफर्ड को खिलाता था। केलकर की पुस्तक 'तिलक-चरित' में लिखा है—

"बढ़ती के दिनों में हनुमन्तराव के रंग-ढंग किसी राजा से कम न थे। गर्मी के मौसम में उनकी तीसरी मंजिल से बर्फ के पानी की धाराएं निकलकर गटर में बहा करती थीं। गुलाब शरबत के सिवाय तो उनकी अटारी पर दूसरी कोई वस्तु पी ही नहीं जाती थी। हमें याद पड़ता है कि एक सज्जन ने इनके विषय में कहा था कि खास रेविन्यू कमिश्नर तक को काबू में रखनेवाला यह तांत्रिक जब गद्दों पर पड़ा हुआ आराम करता था, तब खुशामदखोर अथवा लोभी तहसीलदार इसके पैरों-तले बैठकर, मुंह पर कपड़ा ढांप, अदब से बात-चीत करते थे।"

मुख्य रूप से रिश्वत लेने का आरोप क्राफर्ड पर लगाया गया था, परन्तु उस ब्रिटिश युग में एक अंग्रेज अफसर पर सीधा अभियोग लगाना नीति के विरुद्ध माना जाता था। उससे हिन्दुस्तानियों के दिल पर से अंग्रेजों का रोब जो उखड़ जाता। परन्तु भ्रष्टाचार की बात इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी, अतः उसे दबाना असम्भव था, तब सरकार ने चीते के सामने पड़ने की ताब न लाकर उसके बच्चे पर गोली दागने में ही बहादुरी समझी। १६ जुलाई, १८८८ को हनुमन्तराव को गिरफ्तार कर लिया गया और उसपर रिश्वत लेने का मामला चला दिया गया। मामला सिद्ध हो गया और हनुमन्तराव को दो वर्ष की सादी कैद और दो हजार रुपये जुर्माने की सजा हुई।

इस मामले की सफलता के लिए जिन गवाहों का अदालत में पेश

होना आवश्यक था, वे सरकारी नौकर थे। ये या तो तहसीलदार थे या डिपुटी कलक्टर। उन्हें अदालत में जाकर यह कहना पड़ता कि हनुमन्तराव ने हमसे रिश्वत ली। वे घबराते थे कि ऐसी गवाही देने पर रिश्वत लेने के जुर्म में कहीं हम ही न धर लिये जायं। ऐसी स्थिति थी, जब लोकमान्य तिलक ने क्राफर्ड-कांड में अपना हाथ डाला। उन्होंने 'केसरी' में यह प्रश्न उठाया कि भ्रष्टाचार के मामले में गवाही देनेवाले सरकारी कर्मचारियों को अभयदान क्यों न दिया जाय? पहले तो सरकार चुप-सी रही, परन्तु अन्त में उसे यह अलिखित आश्वासन देना पड़ा कि जो कर्मचारी हनुमन्तराव के अभियोग में गवाही देंगे, उनपर कोई मामला न चलाया जायगा। यह आश्वासन मिलने पर लोकमान्य अपनी पूरी शक्ति से गवाहियां इकट्ठी करने में लग गये। सरकार को इस अभियोग में जो सफलता मिली, उसमें लोकमान्य का पूरा हाथ था।

दलाल तो दो साल के लिए जेल में पहुंच गया, परन्तु असली व्यापारी बचा रहा। इसका एक कारण यह था प्रायः सब गवाह सरकारी नौकर थे और उनमें से कोई भी गोरेसाहब का नाम लेने का साहस नहीं कर सकता था। ऊंचे सरकारी अंग्रेज अफसर भी एक अंग्रेज के अपराधी प्रकट होने में शासक जाति की गौरव-हानि मानते थे। हनुमन्तराव तबतक तो अपने अपराधों के विषय में इन्कारी करता रहा जबतक उसे दण्ड नहीं मिला। दण्ड मिलने के दो महीने पीछे वह इकबाली हो गया। उसने स्वीकार कर लिया कि मैंने छोटे अहलकारों से रिश्वत वसूल करके क्राफर्डसाहब की जेब में डाली है।

अब तो क्राफर्ड को बिल्कुल बेलाग छोड़ना अंग्रेजी सरकार के लिए भी कठिन हो गया, परन्तु सरकार ने इतना पक्षपात अवश्य प्रकट किया कि उस-पर मुकदमा न चलाकर जांच-कमीशन बिठाया गया। कमीशन में क्राफर्ड के वकील ने जो सफाई का भाषण दिया, उसके अन्त में कहा गया था—

"इस जांच से सभीको दुःख हुआ है। हमने जहांतक हो सका, क्राफर्डसाहब की सफाई पेश की है। आपने यदि मि० क्राफर्ड को निर्दोष ठहराया तो हमें सन्तोष ही होगा, और आपने यदि यह कहा कि मि० क्राफर्ड अपनी निर्दोषता सिद्ध न कर सके, तो हमें बहुत दुःख होगा। इसमें अकेले क्राफर्ड की ही बदनामी नहीं, सारी अंग्रेज जाति के माथे पर कलंक का टीका लगेगा।"

क्राफर्ड के वकील की यह अन्तिम दलील शायद सफल हो जाती, यदि लार्ड रे जैसा समझदार अंग्रेज बम्बई प्रान्त का गवर्नर न होता। समझदार अंग्रेजों ने यह समझा कि वर्तमान अवस्था में क्राफर्ड को दोषी कहने से

अंग्रेज जाति के माथे पर कलंक का टीका लगे या न लगे, परन्तु उसे निर्दोष कहते ही बहुत मोटा कलंक का टीका अवश्य लग जायगा। तो भी एक अंग्रेज के खुले भ्रष्टाचार पर शब्दों का पर्दा डालने का प्रयत्न तो किया ही गया। फैसला यह दिया गया कि क्राफर्ड ने रिश्वत तो नहीं ली, परन्तु अपने मातहतों से ऋण अवश्य लिया है। इस दोष में क्राफर्ड को नौकरी से अलग करना पर्याप्त समझा गया।

यह काण्ड तो इस प्रकार समाप्त हो गया, परन्तु एक उलझन बाकी रह गई। जिन सरकारी कर्मचारियों ने अभयदान पर भरोसा करके रिश्वत के सम्बन्ध में इकबाली गवाहियां दे दी थीं, वे बेचारे त्रिशंकु की तरह अन्तराल में ही लटकते रह गये। सरकार के अंग्रेज अधिकारी और उनके कुछ भारतीय पिट्ठू यह चाहते थे कि क्राफर्ड के दाह के साथ इकबाली कर्मचारियों को सती करना आवश्यक है। जब तिलक को यह भान हुआ कि बेचारे गरीब कर्मचारियों का बलिदान होनेवाला है तो वह तिलमिला उठे। उन्होंने 'केसरी' में लिखा कि सच्ची गवाही देने की शर्त पर तहसीलदारों को उनके अपराध क्षमा करने का वचन दिया गया था, अतएव जब उन्होंने सच्ची बात कही है तो अवश्य ही उन्हें दोष-मुक्त करना चाहिए। यदि सरकार अपने वचन का पालन न करेगी तो वह विश्वासघाती सिद्ध होगी। सरकार का रुख बहुत आक्षेप-योग्य था। अफवाह फैल रही थी कि या तो गवाही देनेवाले तहसीलदार नौकरी से अलग कर दिये जायंगे, अथवा उनकी तरक्की रोक दी जायगी। लोकमान्य ने इस होनेवाले अन्याय के विरुद्ध अपनी जोरदार कलम उठाई, और 'केसरी' के स्तम्भों में तहसीलदारों को क्षमादान करने का प्रबल समर्थन किया। लोकमान्य तिलक राजनैतिक विवाद में पड़ने पर व्यक्तियों को क्षमा करनेवाले नहीं थे। उनकी विवादात्मक लेखन-प्रणाली का निम्नांकित नमूना केलकर-लिखित 'तिलक-चरित' क्राफर्ड-प्रकरण से लिया गया है। उन्होंने लिखा था—

"राव बहादुर महादेव वासुदेव बर्वे से लेकर अनन्त भंट पालंदे तक और बड़े अधिकारी से लेकर छोटे-से-छोटे कारिन्दे तक, पारसी, ब्राह्मण, कायस्थ, लिंगायत, मराठे, परभु, कुणबी तथा मुसलमान आदि सभी जाति एवं सब प्रकार के जिन लोगों ने यथेष्ट रूप से अपना मतलब बना लिया, उनके लिए क्या किया गया है। अपना हाथ फंस जाने पर दुष्कर्म को प्रकट करने से पीछे हटना, यही नहीं बल्कि पीछे रहकर भी नीतिमत्ता का स्वांग करना अश्लाघ्य है।..."

"मतलब यह कि सारे बिगाड़ का दोष सरकार के सिर पर ही आता है, अतएव इस बात का विचार करके सरकार को अपने वचन

पर कायम रहकर तहसीलदारों से न्याय करना चाहिए।"

'केसरी' के लेखों से सर्वसाधारण जनता और शिक्षित समाज में जो बेचैनी उत्पन्न हुई, वह उस सार्वजनिक सभा में प्रकट हुई, जो १ सितम्बर १८८६ में पूना में हुई। कहा जाता है कि सभा में बेहद भीड़ थी। सभी विचारों के नागरिक सभा में सम्मिलित हुए। सभा के प्रस्तावों और उनपर हुए भाषणों में जहां क्राफर्ड-प्रकरण के सम्बन्ध में बम्बई सरकार की तत्परता की प्रशंसा की गई वहां सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह तहसीलदारों को दिये गए आश्वासन का पालन करे।

जब थोड़े यत्न से सफलता होती दिखाई नहीं दी तो लोकमान्य ने इस मामले को ब्रिटिश पार्लमेण्ट तक पहुंचाने के लिए डिग्बी और ब्रैडला जैसे भारत-हितैषी अंग्रेजों से पत्र-व्यवहार जारी कर दिया। उन लोगों ने मामले में दिलचस्पी तो बहुत दिखाई, परन्तु कुछ कर न सके। तो भी लोकमान्य का प्रयत्न सर्वथा निष्फल नहीं हुआ। सरकार को सचाई के सामने दब जाना पड़ा। आठ तहसीलदारों को छोड़कर शेष नौकरी पर बहाल रक्खे गये। जिन्हें तहसीलदारी से अलग किया, उन्हें भी दूसरी नौकरियां दे दी गईं। इस मामले में लोकमान्य ने जिस दृढ़ता और तत्परता से अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन करके तहसीलदारों को बरबाद होने से बचाया, उसका जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा, और तिलक की लोकमान्यता की जड़ें पाताल में पहुंच गईं। बेचारे तहसीलदार तो उनके बहुत ही आभारी थे। उन लोगों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए स्मृति रूप में लोकमान्य को एक घड़ी भेंट की, जिसे लोकमान्य जीवन-पर्यन्त प्रयोग में लाते रहे।

: १८ :

१८९६ का दुर्भिक्ष

क्राफर्ड-प्रकरण में लोकमान्य ने सरकार की उपेक्षा-नीति के विरुद्ध जो आन्दोलन आरम्भ किया था, उसकी नोक बहुत-कुछ गोल हो गई थी, क्योंकि लार्ड रे की सरकार ने व्यवहार में मामलतदारों के प्रति नरमी की नीति अपना ली थी। १८९६ में दुर्भिक्ष के अवसर पर लोकमान्य ने जो आन्दोलन आरम्भ किया, सरकार के सहानुभूति-शून्य व्यवहार के कारण उसका वेग निरन्तर बढ़ता गया, यहांतक कि उसे सरकारी क्षेत्रों में छिपा हुआ विद्रोह समझा जाने लगा। उस आन्दोलन ने भारत में अंग्रेजी सरकार के प्रति सार्वजनिक क्रांति की बुनियाद डाली और लोकमान्य उस क्रांति के भगीरथ बने।

वह दुर्भिक्ष दुर्भिक्षों की उस लम्बी शृंखला की एक कड़ी था, जो भारत को अंग्रेजी राज्य की एक विशेष देन थी। जिस देश में अन्न की उपज मुख्य रूप से वर्षा पर अवलम्बित हो, वहां छोटी-सी अनावृष्टि भी अकाल की दशा पैदा कर सकती है। उस समय साधारण प्रजा की रक्षा यदि कोई कर सकता है, तो वह राज्य है। उसके लिए आवश्यक है कि राज्य का मन सच्ची सहानुभूति से पूर्ण हो। विदेशी राज्य में उसका अभाव या अन्धभाव ही रहता है। अंग्रेजी राज्य-काल में जो दुर्भिक्ष हुए, उनकी भयंकरता का मुख्य कारण यही था।

१८७६ ई० में जो दुर्भिक्ष पड़ा था, उसने देश के ग्रस्त भागों को अधमुआ-सा कर दिया। दुर्भिक्ष-पीड़ितों के हाहाकार का नाद इतना ऊंचा हुआ कि उसकी गूंज इंग्लैंड तक पहुंच गई, और अंग्रेज सरकार को अपनी भलमनसाहत का प्रमाण देने के लिए एक कानून पास करना पड़ा, जिसका नाम रक्खा गय 'फैमीन रिलीफ़ कोड'। उस कोड की १३७-१४२ धाराओं में विधान किया गया था कि जिन इलाकों में अकाल के कारण रुपये में पांच आने से कम पैदावार हो, उनमें या तो कलक्टर की सिफारिश पर लगान बिल्कुल माफ कर दिया जायगा, अथवा उसमें पर्याप्त कमी कर दी जायगी।

जब १८९६ में दुर्भिक्ष पड़ा तो उचित यह था कि सरकार तुरन्त

'फैमीन कोड' को लागू करके प्रजा के कष्टों को हल्का करने का यत्न करती, परन्तु विदेशी शासन का यह एक बहुत बड़ा दोष होता है कि प्रजा की पीड़ा को शासक वर्ग बहुत समय तक तो अनुभव ही नहीं करता, और जब करता भी है तो उसकी पूरी गहराई तक नहीं पहुंचता। १८९६ के अकाल के समय भी सरकार ने चिरकाल तक परिस्थिति को घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखा। न तो पीड़ितों को सहारा देने के लिए कोई सार्वजनिक योजना बनाई और न लगान की माफी या कमी की घोषणा की। इधर देश की साधारण जनता लम्बी राजनैतिक पराधीनता से ऐसी चेतनाहीन हो चुकी थी कि वह बिना हाथ-पांव मारे या 'त्राहि माम्' की पुकार किये गहरे जल में डूबने को तैयार थी।

ऐसे संकट-काल में जाति को ऐसे नेता की आवश्यकता थी, जिसके दिल में देश के लिए तड़फन हो और मस्तिष्क में इतिकर्तव्या सोचने की शक्ति हो। जिनके दिल तो हो, परन्तु मस्तिष्क न हो वे हवाई किले बनाने में जीवन व्यतीत कर देते हैं और जिनके मस्तिष्क तो हो, परन्तु दिल न हो, वे 'सुधारक' की सीमा से आगे नहीं बढ़ सकते। महाराष्ट्र का सौभाग्य था कि उसमें एक ऐसा व्यक्ति विद्यमान था, जिसमें जनता के दर्द को अनुभव करने के साथ-साथ उस दर्द को दूर करने के उपाय सोचने की शक्ति भी थी। वह व्यक्ति था लोकमान्य तिलक। समय ने लोकमान्य को कार्य-क्षेत्र में कूदने के लिए सर्वथा तैयार पाया। 'केसरी' और सार्वजनिक सभा के हथियारों को लेकर लोकमान्य तिलक जनता के नेता की हैसियत से संघर्ष-के क्षेत्र में उतर आये।

परिस्थिति के अनुसार लोकमान्य ने तिमुखा कार्यक्रम तैयार किया। कार्यक्रम के तीन अंग ये थे—(१) दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्रों की असली स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करना (२) जनता के कष्टों का सही विवरण सरकार तक पहुंचाना (३) और यदि सरकार अपने कर्तव्य का पालन न करे, तो क्या करना चाहिए, इसकी जानकारी सर्वसाधारण जनता को कराना। इनमें से पहले दो कार्यों की पूर्ति के लिए लोकमान्य ने सार्वजनिक सभा का उपयोग किया। सार्वजनिक सभा की ओर से अनेक प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं को गांवों में भेज दिया कि वे जनता के कष्टों का आंखों देखा समाचार लाकर सभा के कार्यालय में प्रस्तुत करें। सभा में उन विवरणों के आधार पर आवेदन-पत्र तैयार किये जाते थे और वे सरकार के पास भेज दिये जाते थे। साथ ही विविध स्थानों से आये हुए विवरण और आवेदन-पत्र 'केसरी' में प्रकाशित कर दिये जाते थे।

उचित यह होता कि दुर्भिक्ष के आरम्भ हो जाने पर सरकार १८७६

के दुर्भिक्ष के पश्चात् प्रचारित 'फैमीन कोड' को लागू करके प्रजा के कष्टों को हल्का करने में सहायक होती, परन्तु वैसा न करके सरकार ने पूरा लगान वसूल करना जारी रक्खा। वसूली में प्रायः सरकारी कर्मचारी जिस प्रकार की सख्तियां बरतते हैं, उनमें कोई कमी नहीं आई और सार्वजनिक सभा की ओर से जो आवेदन-पत्र भेजे गए, उन्हें या तो रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया, अथवा समाधान में लीपा-पोती करने का यत्न किया गया।

भारत-सरकार ने प्रजा के कष्टों की उपेक्षा की, यदि इतनी ही शिकायत होती तो शायद लोकमान्य के मन में बहुत उग्र रोष उत्पन्न न होता, क्योंकि वैसी तो विदेशी सरकार से आशा ही की जा सकती थी। परन्तु सरकार के सबसे बड़े अधिकारी वायसराय का व्यवहार उपेक्षा से बहुत आगे बढ़ा हुआ था और उसे विरोधात्मक कह सकते हैं। जब भयंकर दुर्भिक्ष के समाचार इंग्लैण्ड में पहुंचे तो वहां के कुछ सहृदय लोगों के दिलों में सहानुभूति का भाव उदित हुआ, जिसके फलस्वरूप लन्दन के मेयर की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें भारत के दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए एक सहायता-निधि का आयोजन किया गया। ड्यूक ऑव कनाट ने उसमें विशेष दिलचस्पी ली। भारत-सरकार को अंग्रेजों का इतना सहानुभूति-पूर्ण व्यवहार भी पसन्द नहीं आया और वायसराय लार्ड एल्गिन ने निधि के संयोजकों को सलाह दी कि जबतक अगली फसल का परिणाम न देख लिया जाय तबतक सहायता देने का कार्य स्थागित रक्खा जाय।

लार्ड एल्गिन की हृदयहीनता तो इससे भी आगे बढ़ गई थी। इधर प्रजा भूखों मर रही थी, और उधर वायसराय महोदय रजवाड़ों में घूम-घूमकर जशन मना रहे थे। जहां जाते, वहां धूम-धाम से उनका स्वागत होता, बड़ी-बड़ी पुरतकल्लुफ दावतें की जातीं और आतिशबाजी का प्रदर्शन होता। उन प्रदर्शनों को देखकर कौन व्यक्ति समझ सकता था कि देश के बड़े भाग में घोर अकाल पड़ा हुआ है और करोड़ों लोग अन्न के दाने के लिए तरस रहे हैं। एक-एक रियासत में लाखों रुपये फूंके जा रहे थे, और विलायती शराब में बहाये जा रहे थे।

वायसराय की मनोवृत्ति का असर विलायत के भारत-मन्त्री पर भी पड़ा। पार्लमेण्ट में प्रश्न पूछे जाने पर उसने उत्तर दिया कि दशा चिन्ताजनक नहीं है, इस कारण रिलीफ फण्ड खोलने की आवश्यकता नहीं। देश में कई जगह भुखमरी जोर पकड़ चुकी थी, और दो-एक स्थानों पर दंगे भी हुए थे, परन्तु सरकार के कानों पर जूं भी नहीं रेंग रही थी।

लोकमान्य तिलक के लिए देश की वह दुर्दशा असह्य थी। जब उन्होंने

देखा कि सरकार न प्रजा की बात सुनती है, और न आवेदन-पत्रों की चर्चा करती है तो उन्होंने जनता को जगाना आवश्यक समझा। इस लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने 'केसरी' के लेखों, सार्वजनिक सभा के स्वयंसेवकों, और प्रचार के अन्य साधनों द्वारा सरकार के वनाये हुए 'फैमीन कोड' की धाराओं से जनता को परिचित कराना आरम्भ किया। फैमीन कोड के अनुसार दुर्भिक्ष पड़ने पर जहां एक ओर लगान में छूट देना आवश्यक था, वहां पीड़ित लोगों को काम देने के लिए निर्माण की योजनाएं जारी करना भी कर्तव्य था; परन्तु सरकार कुछ भी नहीं कर रही थी। लोकमान्य तिलक ने फैमीन कोड की जानकारी कराने के लिए अनेक उपाय किये, ताकि जनता को उसके अधिकारों की पूरी जानकारी हो जाय।

सार्वजनिक सभा के कार्यकर्ता महाराष्ट्र में फैल गये। मुख्य रूप से उनके दो कार्य थे। वे दुर्भिक्षग्रस्त क्षेत्रों के सही समाचार सभा-कार्यालय में भेजते थे और सर्वसाधारण जनता को फैमीन कोड की धाराओं से और सरकार की उपेक्षा-वृत्ति से परिचित कराते थे। सरकार को ये दोनों कार्य अप्रिय थे। विदेशी सरकार का सबसे प्रबल आधार-स्तम्भ जनता का अज्ञान होता है। विदेशी शासक जानते हैं कि अन्धकार उनका मित्र और प्रकाश उनका शत्रु है। यदि पराधीन प्रजा को अपनी असली दशा का ज्ञान हो जाय तो विद्रोह का क्षेत्र तैयार हो जाता है। प्रजा सोचती है कि हम अकाल से पीड़ित हैं, सरकार का कर्तव्य है कि हमारी सहायता को आये, वह उलटी हमसे लगान वसूल करती है, तव क्यों न हम लगान देने से इन्कार कर दें। इस प्रकार परिस्थिति के ठीक ज्ञान से कर-बन्दी आन्दोलन की बुनियाद पड़ती है। इन आशंकाओं ने लोकमान्य के आन्दोलन के कारण बम्बई की सरकार को दहला दिया और उन्होंने अनेक उपायों से उसे दबाने का उद्योग जारी कर दिया।

सभा के कार्यकर्ताओं के साथ सरकार के अधिकारी जो सलूक करते थे और उसका जो परिणाम होता था, उसका दिग्दर्शन इस एक दृष्टान्त से लगाया जा सकता है।

ता० १३ दिसम्बर के दिन थाना जिले के खत्तल बाड़ नामक स्थान पर एक सभा हुई, जिसमें लगभग दो हजार व्यक्ति सम्मिलित थे। उपस्थित लोगों में कृषिकारों की प्रधानता थी। जनता पर रोब जमाने के लिए तहसीलदार, फौजदार, असिस्टेंट कलेक्टर आदि छोटे-बड़े अधिकारी भी विद्यमान थे। मुख्य वक्ता अच्युतराव साठे सार्वजनिक सभा के एक विशेष कार्यकर्ता थे। उन्होंने जोश से बोलते हुए यह भी कह डाला कि यदि तुम्हारी फसल नष्ट हो गई हो तो सरकार को लगान की एक पाई भी मत दो। उसी

समय साठे की दृष्टि सरकारी अफसरों पर पड़ी तो उन्होंने कहा, "हम सरकारी अधिकारी की छत्रछाया में बोल रहे हैं।" इसपर असिस्टेंट कलक्टर ने ऊंची आवाज से कहा, "तुम हमारा नाम क्यों व्यर्थ ही बीच में घसीटते हो।" इस सभा का जो विवरण 'केसरी' में छपा, उसका शीर्षक था—

"पुलिस की सुलगी हुई बन्दूक के निशाने में होनेवाली प्रजा की विराट् सभा।"

ऐसी सभाओं और 'केसरी' के फड़कते हुए शीर्षकों तथा लेखों से सरकार बौखला गई और आन्दोलन को कुचलने के लिए हाथ-पांव मारने लगी। १८९६ के अन्त तक सरकार की ओर से सभा के कई कार्यकर्ताओं पर अभियोग चला दिये गए। उनमें प्रो० अच्युतराय साठे और दंतोपंत आप्टे पर चलाये गए अभियोग ने विशेष ख्याति प्राप्त की। उन दोनों पर यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने ग्रामों में प्रचार करते हुए राजद्रोह से पूर्ण भाषण दिये।

जिस समय अभियोग आरम्भ हुआ, लोकमान्य तिलक कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए कलकत्ता गये हुए थे। वहां तार द्वारा अभियोग का समाचार मिलने पर वह एकदम पूना आ गये। इसके लिए लोकमान्य को पैंतीस घण्टों की निरन्तर यात्रा करनी पड़ी। जब वह पूना पहुंचे तो सभा के कार्यकर्ता इतिकर्तव्यता का निश्चय करने के लिए उनकी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। क्षणभर भी विश्राम लिये बिना वह परामर्श में शामिल हो गये। निश्चय हुआ कि मुकदमा पूरे जोर से लड़ा जाय।

'मुकदमों की शोहरत चारों ओर हो जाने से अदालत में बहुत भीड़ हो जाती थी। लोकमान्य स्वयं मुकदमे के स्थान पर उपस्थित होते थे। मुकदमे का परिणाम यह हुआ कि साठे सर्वथा बरी हो गये, परन्तु आप्टे को सजा हो गई। वह सजा भी अपील में रद्द हो गई। जनता पर इस मुकदमे का उससे बिल्कुल विपरीत परिणाम निकला, जो सरकार चाहती थी। प्रजा आतंकित होने के स्थान पर सरकार की नीति का विरोध करने के लिए अधिक उत्साह से उद्यत हो गई।

लोकमान्य ने जनता को दुर्भिक्ष-कोड-सम्बन्धी अधिकार समझाने के लिए एक पुस्तिका प्रकाशित कराई, और उसको ग्रामों में प्रचार करने के लिए कालिजों के छात्रों को प्रेरणा की। छात्र पर्याप्त संख्या में तत्पर हो गये, और चारों ओर फैल गये, जिससे प्रान्त में बिजली-सी दौड़ गई। सरकार ने आन्दोलन को दबाने का जितना यत्न किया, आन्दोलन उतना ही उग्र होता गया। सारे झगड़े की जड़ सार्वजनिक सभा ही है, यह समझकर सरकार ने उसे मान्यता देनी बन्द कर दी। सभा का मामला इतना

महत्वपूर्ण समझा गया कि १८९७ के मार्च मास में बम्बई के गवर्नर की कार्यकारिणी की कार्य-सूची में उसे मुख्य स्थान दिया गया। सरकार ने सभा के सम्बन्ध में जो विज्ञप्ति प्रकाशित की, उसमें कहा गया था कि पूना की वर्तमान सार्वजनिक सभा का यह अधिकार छीन लिया गया है कि वह सरकार को सार्वजनिक विषयों पर आवेदन-पत्रादि भेज सके। सरकार की इस विज्ञप्ति की आलोचना करते हुए तिलक ने 'मराठा' में लिखा था कि सरकार भेजे गये किसी आवेदन-पत्र पर अनुकूलता से विचार करे या न करे, परन्तु वह किसीको भी सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में आवेदन-पत्र भेजने से नहीं रोक सकती। न सरकार ने सार्वजनिक सभा को बनाया था, और न वह उसे तोड़ सकती है।

'केसरी' और सार्वजनिक सभा के आन्दोलन पर सरकार खूब बरसी, परन्तु उससे प्रभावित होने से न बच सकी। तंग आकर वायसराय को दुर्भिक्ष-ग्रस्त प्रान्तों का दौरा करना पड़ा और यह स्वीकार करना पड़ा कि देश के कई भागों में वस्तुतः दुर्भिक्ष है। जब यहां की हवा विलायत पहुंची तो वहां भी सरसराहट पैदा हो गई। लन्दन के मैन्शनहाउस में लार्ड मेयर की प्रधानता में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें लोगों को प्रेरणा की गई कि सब उपायों से दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता करें। उसी समय दुर्भिक्ष-फण्ड की योजना आरम्भ की गई, जिसमें राजवंश के लोगों ने भी कुछ चन्दा दिया।

इधर देश में भी कहीं-कहीं लगान में कुछ छूट दी गई और पीड़ितों को रोजगार देने के लिए कार्य आरम्भ किये गए। ये सहायता के कार्य एक तो बहुत देर में किये गए, और फिर किये भी गये इतनी थोड़ी मात्रा में कि उनसे प्रजा के कष्टों की कोर ही छुई गई, कष्ट दूर नहीं हुए।

इस दुर्भिक्ष-काण्ड का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि लोकमान्य तिलक और 'केसरी' का राजनैतिक स्वर बहुत ऊंचा हो गया। वे जनता के वकील, और निर्भय सेवक माने जाने लगे। उनकी ख्याति पूना से बढ़ती-बढ़ती सारे महाराष्ट्र में छा गई, और तभीसे उनकी देश-व्यापिनी ख्याति और महत्ता की गहरी और दृढ़ नींव पड़ गई।

उस कीर्ति में चार-चांद लग गये, जब लोगों ने यह देखा कि लोकमान्य केवल सरकार की कड़ी और स्पष्ट आचोचना से ही सन्तुष्ट नहीं रहे, उन्होंने दुर्भिक्ष-पीड़ित जनता को राहत देने लिए अनेक रचनात्मक प्रयत्न भी किये। उन प्रयत्नों में से एक मुख्य कार्य यह था कि जुलाहों को घर-बैठे ऐसा काम दिया गया के वे अपने गुजारे-योग्य उपार्जन कर सकें। सरकार की ओर से उन्हें जो काम दिया गया, वह गिट्टी कूटने का था। सार्व-

जनिक सभा तथा सोलापुर में बनी हुई एक और सहायक समिति की ओर से यत्न किया गया कि एक हजार जुलाहों को उनके योग्य काम दिलाया जाय। सरकार से बहुत-सी लिखा पढ़ी भी हुई, परन्तु फल कुछ न निकला। सरकार ने प्रस्तुत योजना को स्वीकार नहीं किया, तब लोकमान्य ने निजी प्रयत्न से ही उपर्युक्त सुझाव को परिमित मात्रा में कार्यान्वित करने का यत्न किया।

: १९ :

प्लेग में कार्य

प्राय: चोट पर ही चोट लगती है यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। १८९६-९७ में देश के साथ ऐसा ही हुआ। दुर्भिक्ष अभी विदा नहीं हुआ था कि एक नये रोग का आक्रमण हो गया। वह रोग देश में बिल्कुल नया था और बहुत ही भयानक था। कई वर्षों तक तो वह असाध्य ही समझा जाता रहा। वह रोग प्लेग, वदियां ज्वर, गांठ का बुखार आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध हुआ।

प्लेग ने सबसे पहले बम्बई में प्रवेश किया। इससे यह तो स्पष्ट ही होता है कि वह आगन्तुक था, उसे किसी अन्य देश के यात्री यहां लेकर आये थे। भारत की उस समय की अवस्थाओं में उसे खूब पनपने का अवसर मिला। अत: वह रोग हवा में धुएं की तरह बड़े वेग से फैल गया और कई वर्षों तक देशवासियों का संहार करता रहा। उस रोग ने सैकड़ों बस्तियां वीरान कर दी थीं, लाखों घर ऐसे तबाह कर दिये थे कि उनमें कोई दीया जलानेवाला भी न रहा, और रोग से मरे हुए व्यक्तियों की संख्या तो करोड़ों तक पहुंच गई थी। उस रोग का लगभग वर्षों तक देश में दौरदौरा रहा।

बम्बई शहर देखनेवालों को बहुत सुन्दर और शानदार दिखाई देता है, परन्तु वस्तुत: उसके दो भाग हैं—एक समृद्ध बम्बई और दूसरा दरिद्र बम्बई। कोई अत्यन्त पिछड़ा हुआ गांव भी उतना गन्दा नहीं हो सकता, जितनी गन्दी बम्बई की दरिद्र बस्तियां हैं। गांव में कम-से-कम धूप और हवा तो है, जो बम्बई या वैसे ही अन्य बड़े शहरों के गंदे भागों को नसीब नहीं होती। बम्बई की अत्यन्त घनी आबादियों में से एक मोडवी है। प्लेग का प्रथमावतार वहीं हुआ। कुछ दिनों तक तो सरकार ने उस नये रोग की प्रतीक्षा की, परन्तु जब प्रतिदिन नगर के अधिकाधिक निवासी उसकी भेंट चढ़ने लगे तो सरकार को चिन्ता हुई। चिन्ता के दो विशेष कारण भी थे। एक तो यह कि भारत से इंग्लैंड जानेवाले व्यापारियों तथा यात्रियों द्वारा रोग के विलायत पहुंच जाने का डर था और इंग्लैंड के निवासी सन् १६६५ के प्लेग को नहीं भूले थे, जिसने सारे लन्दन को लगभग तबाह कर दिया

थी। दूसरा कारण यह भी था कि भारत में रहनेवाले अंग्रेजों को भी प्लेग का भय था ही। इन कारणों से सरकार न केवल चौकन्नी हो गई, अपितु घबरा भी गई और फलस्वरूप अंत्यन्त कठोर उपायों के प्रयोग पर उतारू हो गई।

४ फरवरी, १८९७ को वायसराय की कौंसिल ने 'दि एपीडेमिक डिजीज़ज ऐक्ट' (संक्रामक रोग अधिनियम) नाम का कानून पास किया, जिसके द्वारा वायसराय और गवर्नरों को रोग-निवारण के सम्बन्ध में विशेष अधिकार दिये गए थे। भारत में आने तथा यहां से जानेवाले जहाजों की कड़ी छान-बीन की जा सकती थी, जहाजों की सवारियों को रोका जा सकता था, रेल के मुसाफिरों को किसी भी स्टेशन पर उतारा जा सकता था और उन्हें क्वारेंटीन कैम्पों या अस्पतालों में भेजा जा सकता था। जहां प्लेग पड़ जाय, वहां के अधिकारियों को यह अधिकार दिया जा सकता था कि वे चाहे जिस घर में घुसकर तलाशी ले सकें, जिस सामान को रोग से प्रभावित समझें उसे जला दें अन्यथा नष्ट कर दें, और निवासियों को क्वारेंटीन में भेज दें।

जब बम्बई में रोग से धड़ाधड़ मौतें होने लगीं तो भगदड़ पड़ गई। लोग घर छोड़-छोड़कर भागने लगे। अक्तूबर (१८९६) में बम्बई से आये हुए कुछ रोगी मर गये। एक बार रोग आ गया तो गन्दी हवा की तरह शीघ्र ही शहर-भर में फैल गया।

ऐसे संकट के समय में ही मनुष्यों के आत्मबल की परीक्षा हुआ करती है। पूना में प्लेग के फैल जाने पर नगर के धनी-मानी और अग्रणी समझे जानेवाले बहुत-से प्रमुख नागरिक शहर को छोड़कर भाग निकले। कुछ लोग घरों में दुबककर बैठ गये, परन्तु तिलक न केवल गायकवाड़ बाड़े में ही जमे रहे, प्लेग-पीड़ितों की सेवा और रोग की रोक-थाम के प्रयत्न में पूरी शक्ति से लग गये। उनका यही एक विशेष गुण था, जिसने उन्हें अपने समकालीन अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं से बहुत ऊंचा उठा दिया था।

प्लेग को रोकने के लिए संक्रामक रोग-निवारक कानून का प्रयोग होने पर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' द्वारा जनता को यह परामर्श दिया कि वे सरकार के प्रयत्नों में यथाशक्ति सहायता दें। उन्होंने 'केसरी' में लिखा था—

"सुबह से शाम तक कोई नालियों में गन्दगी, तो कोई चूल्हे की राख और कोई कोने-कुचरे का कूड़ा, बाल-बच्चों का मैला, कपड़ों और चिथड़ों के टुकड़े, रोड़े-पत्थर आदि हरेक वस्तु फेंकते रहते हैं। इस कारण झाड़ू देकर कड़ा-करकट साफ कर सकने का काम म्युनि-

सिपैलिटी के हाथ में रहनेवाले साधनों द्वारा कभी पूरा नहीं हो सकता।"

इस प्रकार नागरिकों को सफाई के काम में कमेटी का हाथ बंटाने का उपदेश देने के साथ-साथ इस बात पर भी जोर देते रहे कि प्लेग के बहुत फैलने से पहले ही रोक देना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा एक बार उसके फैल जाने पर उसे उन्मूलित करना कठिन हो जाता है। बम्बई में प्लेग के विस्तार की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा था—

"प्लेग ऐसा रोग है कि यदि प्रारम्भ में ही उसके निवारण के यथोचित उपाय किये जायं, तो सम्भव है, उसे गर्भावस्था में नष्ट किया जा सके। परन्तु यदि यह एक बार फैल जाय और विशेषतः यदि यह एक से अधिक स्थानों पर फैल जाय तो इसे वश में लाना असम्भव हो जाता है। ठीक उपाय यह है कि जिस जगह इसका असर हो जाय, तो उसका अन्य स्थानों से सम्बन्ध तोड़ दिया जाय, जिसका अभिप्राय यह है कि उस स्थान के मनुष्य और पदार्थ अन्य स्थानों तक न पहुंचने पायें।"

सिद्धान्त रूप में इस व्यवस्था को अंगीकार करके लोकमान्य ने 'केसरी' द्वारा नागरिकों को प्रेरणा की कि वे उन सब नियमों का पालन करें, जो रोग को रोकने के लिए बनाये जायं। जो लोग रोग से डरकर भाग रहे थे, उन्हें कायरता के लिए फटकारते हुए उन्होंने रोका, पर विजय पाने के लिए उत्साहित किया और स्वयं पूरी शक्ति से उस कार्य में लग गये।

यहांतक तो तिलक सरकार के समर्थक रहे, परन्तु जब रोग-निवारक नियमों के प्रयोग का समय आया, तब सरकारी कर्मचारियों की अनुचित कार्रवाइयों ने उनके रुख में परिवर्तन कर दिया। पूना में रोग-निवारण सम्बन्धी कानून को चलाने के लिए सरकार ने रैण्ड नाम के एक अफसर की कमिश्नर-पद पर नियुक्ति की। रैण्ड उससे पहले सतारा में असिस्टेन्ट कलक्टर के पद पर काम करके प्रजा के प्रति कठोरता के लिए सरकारी हल्कों में वाहवाही कमा चुका था। शायद उसीका यह पारितोषिक दिया गया कि उसे पूना जैसे बड़े नगर में विशेष कमिश्नर नियत किया गया। रैण्ड ने संक्रामक रोग-निवारक कानून का प्रयोग बहुत कठोरता से करना आरम्भ किया। अन्य उपायों के प्रयोग में तो कोई विशेष कष्टदायक बात नहीं थी, परन्तु घरों की सफाई और लोगों को क्वारेटीन में भेजने के कार्य में जो अनावश्यक उग्रता बरती गई, उससे नगर में 'त्राहि माम्' की पुकार सुनाई देने लगी।

विशेष कानून ने अधिकारियों को नादिरशाही अधिकार दे दिये थे।

वे जिस घर को या इलाके को चाहें, रोग से प्रभावित घोषित करें। उन्हें अधिकार था कि वहां की मनमानी तलाशी लें, वहां के सामान को रोग के कीटाणुओं से युक्त कहकर फेंक दें, जला दें, या हथिया लें। जिसे चाहें घर से निकालकर क्वारेंटीन के छप्परों में जाने की आज्ञा दे दें। यह काम जोर-जबरदस्ती किया जाता था। जब पुलिस की शक्ति को पर्याप्त न समझा गया तो उसकी सहायता के लिए गोरा फौजियों को बुला लिया गया। इस प्रकार स्पेशल कमिश्नर, उसके अधीन अन्य स्पेशल अफसर, पुलिस और फौज सिपाही—यह चतुरंगिणी सेना पूना की प्रजा पर पिल पड़ी।

लोगों को रोग से बचाने के लिए जो पहला उपाय किया गया, वह था क्वारेंटीन। शहर से दूर छप्पर बना दिये गए थे, जिनमें जबरदस्ती लोगों को परिवार-सहित धकेल दिया जाता था। न वहां रहने की सुविधा थी, और न खाने-पीने की। कभी-कभी तो यात्रियों को स्टेशन से ही सीधा क्वारेंटीन में पहुंचा दिया जाता था। यदि क्वारेंटीन में परिवारों के रहने, खाने-पीने और सुरक्षा की कुछ व्यवस्था होती, तब तो कोई बात न थी। परन्तु स्त्री-पुरुष और बच्चों को बेसरोसामानी की दशा में फूंस के छप्परों में धकेल दिया जाता था तो शिकायतों का ढेर लगना स्वाभाविक था।

जहां किसी प्लेग के रोगी का समाचार मिलता था, वहां चतुरंगिणी सेना धूमधाम से पहुंच जाती थी। अफ़सर तो हुक्म देकर अलग हो जाता था, मैदान पर सिपाहियों का कब्जा हो जाता था। फिर तो अन्धेरगर्दी चलती थी। घरों में घुसकर गोरे सिपाही चारों ओर फैल जाते थे। अन्तःपुरों में रहनेवाली हिन्दु-स्त्रियों को धकेलकर घर से बाहर करना, घर के कीमती सामान को हथिया लेना, आवश्यक कपड़े आदि वस्तुओं को जला देना आदि घटनाएं तो प्रतिदिन ही होती थीं, बीच-बीच में ऐसी चर्चा भी सुनाई देती थी कि किसी स्त्री का अपमान किया गया, या उसपर बलात्कार किया गया। लोकमान्य जहां एक ओर 'केसरी' द्वारा नगर और ग्राम के निवासियों को नीरोगता के उपाय सुझाते थे, वहां साथ ही सरकार के अफसरों और सिपाहियों के हृदयहीन कठोर व्यवहार की कड़ी आलोचना भी करते थे। रैण्ड का नाम तो सारे इलाके में शैतान की तरह बदनाम हो गया था। समझा जाता था कि प्रजा के कष्टों का मुख्य रूप से उत्तरदाता वही है।

लोकमान्य तिलक केवल आलोचना से सन्तुष्ट होनेवाले व्यक्ति नहीं थे, रोगपीड़ितों की सेवा के लिए उन्होंने नगर के बहुत-से धनी व्यक्तियों की सहायता से 'हिन्दू हास्पिटल' का संगठन किया, जिसमें एक समय में पचास के लगभग मरीज रह सकते थे। उन दिनों तिलक रात-दिन नगर-

निवासियों को समझाते, सरकार तक उनकी शिकायतें पहुंचाते और रोगियों की सेवा में व्यस्त रहने के साथ-साथ 'केसरी' का भी सम्पादन करते थे। उनकी कर्मण्यता की कोई सीमा नहीं थी।

पूना-निवासियों की ओर से सरकार के अत्याचारों की शिकायतें भारतीय समाचार-पत्रों में छपने के अतिरिक्त विलायत के समाचार-पत्रों में भी छपती थीं। उन दिनों श्री गोपालकृष्ण गोखले लन्दन में थे। उनकी प्रेरणा पर कई प्रभाव-सम्पन्न अंग्रेजों ने भी पार्लमिण्ट में अत्याचारों की चर्चा की। इस प्रकार बदनामी फैलती देखकर सरकार ने मई के मध्य में घोषणा कर दी कि क्योंकि प्लेग अब काबू में आ गया है, इस कारण निरोधक कार्रवाइयां बीस तारीख से बन्द कर दी जायंगी। क्वारेंटीन और तलाशियों का हंगामा बन्द हो जाने से लोग शान्त हो गये और शहर और ग्राम के जो प्रदेश उजाड़-से हो गये थे, वे फिर से आबाद होने लगे। प्लेग के दिनों में तो पूना के निवासी इतने दुःखी और त्रस्तों हो गये थे कि वे लोग प्लेग-निवारक कानून के प्रयोगों की अपेक्षा प्लेग को अधिक दयालु मानने लगे थे, क्योंकि प्लेग केवल रोगी को दुःख देता था, परन्तु विशेष कानून न केवल उसके सारे कुनबे को, अपितु सारी बस्ती को उजाड़ देता था। प्रजा का वह कोप कभी-कभी भयंकर रूप में प्रकट हो जाता था। ऐसी एक घटना के सम्बन्ध में तिलक ने 'केसरी' में जो सम्पादकीय टिप्पणी लिखी थी, वह घटना पर तो प्रकाश डालती ही है, स्वयं उनकी उस समय की मनोवृत्ति पर भी प्रकाश डालती है। उन्होंने लिखा था—

> "कुछ दिन पूर्व दस-पांच सिपाहियों ने रात के समय रास्ता पेठ में जाकर गड़बड़ मचाई थी। इस कारण उन्हें बेतरह पीटना पड़ा, और सुना है कि उनमें से एक आदमी तो अस्पताल जाकर मर भी गया। किन्तु इसके लिए जिस प्रकार कोई भी जवाबदार नहीं समझा गया, उसी प्रकार अन्य मामलों में भी होगा। अलबत्ता हमें अवश्य कानून के साथ बरतना चाहिए और ऐसा करना कोई कठिन काम भी नहीं है।...इन दिनों जो नादिरशाही अथवा रैण्डशाही मची हुई है, उसका अधिक दिनों तक टिक सकना कभी सम्भव नहीं। लोग भले ही गरीब हों, परन्तु हम नहीं समझते सकते कि वे हर दिन अन्याय सहते रहेंगे।"

यह टिप्पणी लोकमान्य की उस समय की मनोवृत्ति और लेखन-शैली दोनों की सूचक है। वह रैण्डशाही से अत्यन्त परेशान थे। वह चाहते थे कि लोग चुपचाप अत्याचार सहने की आदत को छोड़ें, परन्तु साथ ही वह कानून की सीमा से बाहर नहीं जाना चाहते थे।

प्लेग-सम्बन्धी सरकारी कार्रवाइयों की कठोरता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 'सुधारक' जैसे नर्म विचारों के साप्ताहिक पत्र को भी अपनी सौम्यता का त्याग करना पड़ा था। १६ अप्रैल, १८९७ के पर्चे में, 'सुधारक' के सम्पादक ने लिखा था—

"अबतक तो मामला चोरी पर ही समाप्त हो जाता था, परन्तु अब स्त्रियों के शरीर पर भी हाथ डालने के हौसले बढ़ गये हैं। और यह सब होते हुए भी हम अपने समाज को देखते हैं तो एकदम शान्त प्रतीत होता है। हमें बड़ी लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि सचमुच ही हमारे भाइयों की तरह नामर्द, साहसहीन व्यक्ति दुनिया में कहीं न मिल सकेंगे। लोगों, तुम इतने नामर्द कैसे हो गये? अपने आप्त-जनों की रक्षा कर लो, कुछ तो हिम्मत दिखाओ। अरे, यों औरतों की तरह रोते क्यों हो, उद्दंडों को कानून सिखाओ।"

१० मई के अंक में 'सुधारक' ने लिखा था—

"असल में इन सबका इरादा एक ही है, और कोई नहीं। और जो कुछ बचा है, वह हतवीर्य होकर पड़ा हुआ है। खड़े होकर दो हाथ मारने की भी उनमें शक्ति नहीं। प्लेग-कमेटी के बनाये हुए कानून को एक ओर रख, मनमाने ढंग से घर में घुसकर गड़बड़ मचानेवाले विलायती सोल्जरों से हर तरह चिढ़ाये और संतप्त किये जाने पर भी हम चूं तक नहीं करते। भला यह क्या सूचित करता है?" इसी प्रकार अनेक अत्याचारों की चर्चा करके अन्त में लेखक ने आक्रन्दन किया—

"हर-हर यह कैसी दुरवस्था है।"

: २० :

रैंड की हत्या

पूर्व इसके कि हम उस घटनाचक्र का वृत्तांत आरम्भ करें, जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में लोकमान्य के भावी सार्वजनिक जीवन का निर्माण हुआ, उनके जीवन की दो-तीन महत्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा करना आवश्यक है। पहली घटना उन दिनों की है, जब लोकमान्य सार्वजनिक सभा-सम्बन्धी संघर्ष में पड़े हुए थे। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों का मामला लेकर गांधीजी भारत में आये हुए थे। उस समय वह पूना भी गये। उसके सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा है—

"मैं १८९६ के मध्य में भारत लौटा। इसी यात्रा में मुझे भारत के नेताओं से मिलने का अवसर मिला। मैं सर फीरोजशाह मेहता, जस्टिस बदरुद्दीन तय्यबजी, महादेव गोविन्द रानडे और अन्य नेताओं से बम्बई में, और लोकमान्य तिलक तथा उनकी मण्डली, प्रो० भण्डारकर, गोपालकृष्ण गोखले तथा उनकी मण्डली से पूना में मिला। प्रकरण से पूरी तरह सम्बद्ध न होते हुए भी मैं पूना का एक पावन संस्करण सुनाने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। सार्वजनिक सभा पर लोकमान्य का कब्जा था और मि० गोखले डेकन सभा से सम्बद्ध थे। मैं पहले तिलक महाराज से मिला। जब मैंने उनके सम्मुख पूना में एक सार्वजनिक सभा करने का विचार प्रकट किया, तो उन्होंने पूछा, 'क्या तुम गोपालराव से मिले हो?' मैं यह न समझ सका कि उनका इशारा किसकी ओर है। तब उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या आप मि० गोखले से मिले हो। और उन्हें जानते हो?"

"मैंने उत्तर दिया, 'मैं उनसे नहीं मिला। मैं उन्हें नाम से जानता हूं। मेरी उनसे मिलने की मंशा है।'

"लोकमान्य ने कहा, 'आप भारत की राजनीति से परिचित नहीं हैं।'

"मैंने उत्तर दिया, 'मैं भारत में बहुत थोड़े समय तक रहा था। उसमें मैंने राजनीति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि मैंने उसे अपनी शक्ति से बाहर समझा था।'

"तब लोकमान्य ने कहा, 'तब मैं आपको कुछ जानकारी देना चाहता हूं। पूना में दो दल हैं—एक की प्रतिनिधि सार्वजनिक सभा है और दूसरे की डेकन सभा।'

"मैंने उत्तर दिया, 'इस विषय में कुछ-कुछ जानता हूं।'

"लोकमान्य ने कहा, 'यहां सभा करना बहुत आसान है। परन्तु मैं आपकी बातों से समझा हूं कि आप अपना मामला सब दलों के सामने रखकर उनकी मदद लेना चाहते हैं। मैं आपसे सहमत हूं। परन्तु यदि सार्वजनिक सभा का कोई सदस्य सभा का प्रधान बनाया गया तो डेकन सभा का कोई सदस्य उसमें न आयगा। इसी प्रकार यदि डेकन सभा का व्यक्ति सभापति बनाया गया तो सार्वजनिक सभा के सदस्य अनुपस्थित हो जायंगे। इस कारण आपको कोई ऐसा सभापति चुनना चाहिए, जिसका किसी दल से सम्बन्ध न हो। मैं इस विषय में आपको केवल कुछ परामर्श दे सकता हूं, और कोई सहायता न कर सकूंगा। क्या आप प्रो० भण्डारकर को जानते हो? यदि नहीं भी जानते तो उनसे मिलो। उन्हें निष्पक्ष समझा जाता है। वह राजनीति में भाग नहीं लेते, परन्तु शायद आप उन्हें सभापति बनने के लिए राजी कर सकें। मि० गोखले से मिलकर उनसे परामर्श लो। वह भी शायद यही सलाह देंगे। यदि प्रो० भण्डारकर की हैसियत का व्यक्ति सभा का अध्यक्ष होगा तो दोनों दलों के लोग उसमें उपस्थित हो जायंगे। कम-से-कम आपको मेरी ओर से तो पूरा सहयोग मिलेगा।'

"तब मैं गोखले से मिला...। गोखले ने लोकमान्य के परामर्श को पसन्द किया। पूना में बहुत कामयाब सभा हुई। दोनों दलों के सदस्य उसमें उपस्थित हुए और मेरे समर्थन में बोले।"

इस घटना का विशेष महत्व यह है कि यह लोकमान्य के चरित्र की एक स्मरणीय विशेषता को प्रकट करती है। लोकमान्य अपने विचारों के पक्के थे, और उनका समर्थन पूरे बल से और प्रायः असाधारण उग्रता से करते थे। उसमें वह किसीके व्यक्तित्व की पर्वा करनेवाले नहीं थे, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह अपने से भिन्न सम्मति रखनेवालों का मूल्य नहीं समझते थे। उन दिनों तिलक के मुख्य प्रतिपक्षी गोखले समझे जाते थे और जबतक गोखले जीवित रहे, तबतक दोनों का निरंतर विरोध रहा, परन्तु जब कभी मूल्यांकन का अवसर मिला, तिलक महाराज ने गोखले की उपयोगिता और उत्कृष्टता को स्वीकार किया। गोखले महोदय की मृत्यु के अवसर पर भाषण देते हुए लोकमान्य ने कहा था—

"यह तालियां पीटने का समय नहीं है। यह आंसू बहाने का समय है। यह भारत का हीरा, यह महाराष्ट्र का मोती, यह कार्यकर्ताओं का राजा अतल नींद में सो गया है। उसकी ओर देखो, और उसके चरण-चिह्नों पर चलने का यत्न करो।"

जो मनुष्य अपने वर्षों के प्रतिद्वन्द्वी के गुणों की इन खुले शब्दों में प्रशंसा कर सकता है, उसका हृदय बहुत विशाल और महान् होना चाहिए। लोकमान्य के सिपाहियाना व्यक्तित्व के अन्दर बहुत विशाल और महान् हृदय सन्निहित था, इसमें सन्देह नहीं।

प्लेग का जोर समाप्त होने के पश्चात् लोकमान्य के सामने दो काम आ गये। पहला काम था, बम्बई की व्यवस्थापिका सभा का चुनाव। लोकमान्य खड़े हुए और सफल हो गये।

दूसरा काम शिवाजी-महोत्सव था, जो प्लेग के कारण रुक गया था। महाबलेश्वर पर शिवाजी-उत्सव धूमधाम से मनाया गया। उसमें जोशीले भाषण हुए और शिवाजी के सम्बन्ध में कविताएं पढ़ी गईं। वे वक्तृताएं और कविताएं 'केसरी' में प्रकाशित हुईं। स्वभावतः वह तीव्र देशभक्ति और जनता के उद्बोधन से भरी हुई थीं। उनके सम्बन्ध में 'केसरी' और 'मराठा' के लेख भी सदा की भांति तेजस्विता से पूर्ण थे।

बम्बई के गोरे अखबार पहले से ही तिलक और उनके पत्रों के सम्बन्ध में विष-भरे लेख प्रकाशित करते रहते थे। शिवाजी-उत्सव की कारंवाई को गहरे राजद्रोह का रंग देकर 'जस्टिस', 'टाइम्स ऑव इण्डिया' आदि ऐंग्लो इण्डियन पत्रों ने सरकार को भड़काने का भरसक प्रयत्न किया।

इस प्रकार पूना और बम्बई का वातावरण खूब ज़हरीला हो रहा था कि महारानी विक्टोरिया के जुबिली महोत्सव के अवसर पर प्लेग-युग के कुख्यात तानाशाह रैंड की सनसनीपूर्ण ढंग पर हत्या हो गई। १८९७ के जून मास में सारे देश में महारानी विक्टोरिया का राजतिलक-समारोह मनाया गया। पूना में वह गवर्नमेण्ट हाउस के अहाते में हुआ। कौन्सिल के सदस्य के नाते निमन्त्रण पाकर लोकमान्य तिलक भी उसमें सम्मिलित हुए थे। समारोह २२ जून की रात को आधी रात के समय तक चलता रहा। व्याख्यान, खेलें, आतिशबाजी आदि प्रसन्नता प्रकट करने के सभी उपाय काम में लाये गए। उत्सव की समाप्ति पर अगली गाड़ी में मि० रैंड और पीछे की गाड़ी में लेफ्टिनेंट आयर्स्ट अपनी पत्नी के साथ घर की ओर लौट रहे थे कि एक व्यक्ति ने झाड़ी में से निकलकर रैंड पर पिस्तौल से गोली दाग दी। उसके साथ ही पिछली गाड़ी पर भी गोली चलाई गई, जिससे लेफ्टीनेंट आयर्स्ट का तत्काल ही देहान्त हो गया, लेडी आयर्स्ट बच गईं।

रैंड को उसी समय अस्पताल पहुंचाया गया। बचाने के सभी यत्न किये गए, परन्तु दो दिन बाद रैंड की मृत्यु हो गई।

इस दुःखद घटना से न केवल पूना में, अपितु बम्बई प्रान्त में विकट सनसनी फैल गई। गोरे पत्र सरकार के ऊंचे अधिकारी विक्षोभ में आकर अनाप-शनाप लिखने और बोलने लगे। बम्बई के ऐंग्लो इण्डियन पत्र अपनी तोपों का मुंह विशेष रूप से तिलक और उनके पत्रों की ओर करके शाब्दिक गोलाबारी करने लगे। इस समारोह से पहले लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में कुछ लेख लिखे थे, जिनमें विक्टोरिया के राज्य-काल की कड़ी आलोचना की गई थी। जिन दिनों पूना में रैण्डशाही चल रही थी, उन दिनों 'केसरी' ने जनता को इन शब्दों में फटकारा था—

"षंढातों करितां कसें सहन हे। लावून घ्या दाद हीं—अनपुंसकों की तरह सहन क्यों करते हो। अत्याचार का निवारण करो।"

लोकमान्य के उपदेश का सार यह था कि रोना छोड़कर अपने अधिकारों के लिए लड़ो। शिवाजी-उत्सव में जो भाषण हुए और 'केसरी' में जो लेख प्रकाशित हुए, उनमें गीता के 'युध्यस्य विगत ज्वरः' की ध्वनि आती थी। स्वाभाविक ही था कि एक अंग्रेज अफसर की हत्या का समाचार सुनकर अंग्रेज और उनके पिट्ठू लोकमान्य और 'केसरी' पर बरस पड़ते। वे लोग सारा दोष पूना के चितपावन ब्राह्मणों के सिर मढ़ने लगे।

सरकार आपे से बाहर हो गई। हत्या के दूसरे दिन पूना शहर पर प्युनिटिव पुलिस के रूप में डेढ़ लाख रुपयों का दण्ड लगा दिया गया। यह भी घोषणा की गई कि जो व्यक्ति खूनी का पता लगायगा, उसे बीस हजार रुपये का पारितोषिक दिया जायगा। सरकार और गोरे पत्रों की बौखलाहट से लोकमान्य घबराये नहीं। उन्होंने 'केसरी' में 'क्या सरकार का दिमाग़ फिर गया है?' इस शीर्षक से जो लेख लिखा, उसमें सरकार को बात बढ़ाकर तिल का ताड़ बनाने के लिए खूब फटकारा था।

रैंड-हत्या की गूंज शीघ्र ही बहुत दूर तक पहुंच गई। इंग्लैंड के 'लन्दन टाइम्स' आदि पत्रों ने भारत के गोरे पत्रों का अनुकरण करते हुए सामान्य रूप से पूना के चितपावन ब्राह्मणों और विशेष रूप से लोकमान्य और 'केसरी' को कोसने का उपक्रम कर दिया। बम्बई के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड हैरिस ने तो भारत के नमक का ऋण चुकाते हुए 'लन्दन टाइम्स' में यहांतक लिख दिया कि भारत की बिगड़ती हुई दशा के लिए बम्बई का हाईकोर्ट भी जिम्मेदार है, क्योंकि उसने कुछ राजनैतिक अभियुक्तों की सजा कम कर दी थी। ६ जुलाई को पार्लमिण्ट में दो सदस्यों के पत्रों का उत्तर देते हुए भारत-मन्त्री लार्ड हैमिल्टन ने घोषणा की कि पूना से सचमुच

भारत-सरकार को उलटने का षड्यन्त्र बन गया था। बजट-भाषण में अपने सूत्र की व्याख्या करते हुए भारत-मन्त्री ने फरमाया कि पूना में एक ऐसा गुट है, जिसमें अंग्रेजी सरकार के पुराने शत्रुओं के वंशज सम्मिलित हैं। उन लोगों ने अंग्रेजों से शत्रुता का व्यवहार करना कभी नहीं छोड़ा। यह इशारा सामान्यतः पूना के चितपावन ब्राह्मणों की ओर, विशेषतः तिलक की ओर था। जसे चक्रव्यूह के तोड़ने का यत्न करते हुए अभिमन्यु के चारों ओर कौरवों के दर्जनों महारथी घिर आये थे, वैसे ही इंग्लैंड और भारत के प्रमुख अंग्रेज अधिकारी मानो एका करके पूना, तिलक और 'केसरी' पर घेरा डालने का यत्न कर रहे थे।

इसी प्रसंग में एक और महत्वपूर्ण घटना ऐसी हो गई, जिसने भारत की राजनीति में काम करनेवाले दो प्रमुख दलों की मनोवृत्तियों का पूर्वाभास करा दिया। जिन दिनों रैंड-हत्या का प्रकरण चल रहा था, उन दिनों गोपालकृष्ण गोखले वेल्बी-कमीशन के सामने गवाही देने के सिलसिले में विलायत गये हुए थे। रैण्ड-काण्ड के सम्बन्ध में उनका मत जानने के लिए बहुत-से पत्रकार उनसे भेंट करने गये। उन्हें पूना से कुछ परिचित लोगों ने जो सूचनाएं भेजी थीं, उनके आधार पर गोखले ने संवाददाताओं को बतलाया कि प्लेग के दिनों में रैण्ड और आयर्स्ट ने जनता पर जो अत्याचार किये थे, हत्या उन्हींका परिणाम थी। गोखले ने यह भी कहा कि गोरे सिपाहियों ने स्त्रियों को जबर्दस्ती घरों से निकालकर खुले रास्ते में उनकी जांच-पड़ताल की और उनपर बलात्कार भी किया, जिसके परिणाम स्वरूप एक स्त्री ने आत्म-हत्या भी कर ली थी।

गोखले महोदय के इस वक्तव्य से इंग्लैण्ड में तथा सरकारी क्षेत्रों में सनसनी मच गई। विलायत और भारत-सरकार के बीच बात चीतचली जिसके पश्चात् सरकार ने बलात्कार और आत्महत्या की घटनाओं से साफ-इन्कार कर दिया। तब असलियत का पता लगाने के लिए गोखले भारत के लिए रवाना हो गये। इसी बीच उन भारतीय मित्रों ने, जिनके पत्रों के आधार पर गोखले ने वक्तव्य दिया था, उन्हें लिख दिया कि हमारे पत्र सरकार के सामने गवाही के तौर पर पेश न किये जायं। गोखले के बम्बई पहुंचते ही पुलिस-कमिश्नर ने उनसे भेंट करके वह पत्र मांगे, जिनके आधार पर बलात्कार और आत्महत्या के आरोप किये गए। गोखले ने उन पत्रों को न देने के लिए अपनेको वचनबद्ध पाया। पत्र न देने के कारण आरोपों का पूरा उत्तरदायित्व गोखले पर आ गया।

अब उनके सामने एक धर्म संकट उपस्थित हो गया। वह या तो पत्र लिखनेवालों के नाम पुलिसको बतलाकर अपनी सफाई करें, अथवा उन

आरोपों को सिद्ध करें। उस धर्म-संकट में वह अपने राजनैतिक गुरु महादेव गोविन्द रानडे के पास गये और उन्होंने परामर्श दिया कि जब तुम्हारे पास जो आधार है, उसे तुम प्रकट नहीं करना चाहते और उसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं है तो तुम्हें अपने वक्तव्य को वापस लेकर सरकार से क्षमा मांग लेनी चाहिए। तदनुसार श्रीयुत गोखले ने सरकार से क्षमा मांग ली। जब उनके क्षमा मांगने पर गर्म पत्रों ने आक्षेप किया तो उनके समर्थकों ने उत्तर दिया कि कोल्हापुर-प्रकरण में तिलक ने भी तो क्षमा मांग ली थी। अपनी भूल के लिए क्षमा मांगने में कोई बुराई नहीं।

कहा जाता है कि तिलक महाराज पूना की घटनाओं का पूरा परिचय देने के निमित्त से श्रीयुत गोखले से भेंट करने के लिए पूना से बम्बई गये थे, परन्तु उन्हें भेंट का अवसर नहीं मिला, क्योंकि बम्बई में अपने परममित्र खरेसाहब के बंगले पर जुलाई की २७ तारीख को वह गिरफ्तार कर लिये गए।

: २१ :

अग्नि-परीक्षा

प्रत्येक जन-नेता के जीवन में एक समय आता है, जब उसे अग्नि-परीक्षा में से गुजरना पड़ता है। यदि वह उस परीक्षा में से अधिक चमकदार होकर निकला तो उसके खरा सोना होने में सन्देह नहीं रहता, उसका नेतृत्व प्रमाणित हो जाता है, और वह राष्ट्र के उत्थान का साधन बन जाता है। इसके विपरीत यदि उसमें खोट सिद्ध हुआ तो उसके मार्ग-भ्रष्ट होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है, जो उसे राष्ट्र का अविश्वसनीय बना देती है। लोकमान्य २७ जुलाई, १८९७ के दिन के दस बजे बम्बई में अपने मित्र आनरेबुल मि० डी० ए० खरे के मकान पर राजद्रोह के अभियोग में गिरिफ्तार कर लिये गए। यह उनकी अग्नि-परीक्षा का प्रारम्भ था।

गिरिफ्तार करके पुलिस ने तिलक महाराज को एस्प्लनेड के पुलिस कोर्ट की हिरासत में बन्द कर दिया। मि० खरे ने उनके जमानत पर छोड़े जाने की दर्खास्त दी, जिसे चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने रद्द कर दिया। जब मि० खरे जमानत के स्वीकृत न होने की सूचना देने के लिए हवालात में पहुंचे तो देखा कि बन्दा गहरी नींद में सोया पड़ा है। उसे जमानत पर छूटने की कोई चिन्ता ही नहीं थी। दूसरे दिन पूना में 'केसरी' के प्रकाशन से सम्बन्ध रखने के कारण श्रीयुत बाल और श्रीयुत गोखले की गिरिफ्तारी के वारंट भी जारी कर दिये गए। बाल गिरिफ्तार हो गये। गोखले पूना में नहीं थे, इस कारण पकड़े न जा सके। उसी दिन आर्य भूषण प्रेस की तलाशी ली गई, जिसमें पुलिस ने 'केसरी' और 'मराठा' से सम्बन्ध रखनेवाले बहुत-से कागज-पत्र भी कब्जे में कर लिये। बालासाहब नातू और तात्यासाहब नातू के घर की तलाशी ली गई, जिसमें कुछ पुराने तलवार, भाला आदि हथियार बरामद हुए। इस पर दोनों भाइयों को सन् १८२७ के रेगुलेशन संख्या २५ के अनुसार क्रमशः थाना और साबरमती-जेलों में नजरबन्द कर दिया गया।

दूसरे दिन फिर हाईकोर्ट के सामने लोकमान्य को जमानत पर छोड़े जाने की दर्खास्त पेश हुई। जजों में एक जस्टिस पार्सन्स अंग्रेज थे, और दूसरे जस्टिस महादेव गोविन्द रानडे। जजों ने इस आधार पर दर्खास्त रद्द कर

दी कि मामला शीघ्र ही मजिस्ट्रेट की कचहरी में पेश होनेवाला है, इस कारण ज़मानत पर छोड़ने की आवश्यकता नहीं। यदि मामला पेश होने में देर हुई तो ज़मानत के विषय पर फिर विचार हो सकेगा।

सरकार लोकमान्य को खुला छोड़ने से घबराती थी, इस कारण उसने असाधारण फुर्ती से काम लिया। २ अगस्त को चीफ़ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट ने मुकदमा सेशन सुपुर्द कर दिया। दो धाराएं लगाई गईं, एक १२४ ए और दूसरी १५३ ए। पहली राजद्रोह से सम्बन्ध रखती थी और दूसरी साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाने से।

सेशन कोर्ट के सामने अभियोग उपस्थित होने में कुछ समय लगने की सम्भावना थी, इस कारण ४ अगस्त को हाईकोर्ट के सामने ज़मानत की अर्ज़ी फिर पेश की गई। इस वार मामला जस्टिस तैयवजी के सामने आया। जस्टिस तैयवजी ने ५० हज़ार के जाती मुचलके और पच्चीस-पच्चीस हज़ार की दो ज़मानतों पर लोकमान्य को छोड़ने की आज्ञा दी। श्री अन्नासाहव ने और सेठ द्वारिकादास धर्मसी के ज़मानती वन जाने पर लोकमान्य ज़मानत पर मुक्त हो गये। तिलक की ओर से वैरिस्टर दावर पेश हुए थे।

ज़मानत पर छूटकर लोकमान्य पूना पहुंचे तो उनके लिए एक नई उलझन तैयार हो गई। उन्हें समाचार मिला कि उनके मित्र वावा महाराज पण्डित हैज़े के चंगुल में हैं। तिलक अपने भक्तवत्सल स्वभाव के अनुसार उनकी चिकित्सा में लग गये। वहुत यत्न किया गया, परन्तु वावा महाराज न बचे, मृत्यु से पहले उन्होंने एक वसीयत लिखी, जिसके ट्रस्टियों में तिलक का नाम भी रक्खा गया। लोकमान्य ने बहुत मना किया, परन्तु वावासाहव न माने। उन्होंने अपने संतोष के लिए ट्रस्टियों में वालगंगाधर का नाम रखना आवश्यक समझा।

वावासाहव का मामला यह था कि उनकी पहली पत्नी के सन्तान नहीं हुई, तव उन्होंने सामान्य परिवार की एक नौजवान लड़की से दूसरा विवाह कर लिया। वाद में यह दूसरी स्त्री ताई महाराज के नाम से प्रख्यात हुई। उसके एक कन्या ने जन्म लिया। वावासाहव मर गये, परन्तु तिलक के लिए कांटों की एक सेज विछा गये। इस वसीयत के मामले में उन्हें कई प्रकार के संकटों में पड़ना पडा। मुकदमों में घसीटे गये, वदनामी उठानी पड़ी, और अपनी सफाई के लिए अनेक प्रयत्न करने पड़े।

सितम्वर में मुकदमा आरम्भ होनेवाला था। उससे पूर्व लोकमान्य को एक दिन रानडे महोदय का बुलावा मिला। लोकमान्य रानडे महोदय की मनोवृत्ति से परिचित थे। जमानत के मामले में उनकी मनोवृत्ति का नमूना भी देख चुके थे। शायद इसी कारण वह मिलने नहीं गये। रानडे

महोदय को कलकत्ता से 'अमृतबाजार-पत्रिका' के सम्पादक श्रीयुत मोतीलाल घोष का एक पत्र मिला था, जिसमें उन्होंने लोकमान्य से अनुरोध किया था कि मामले को लम्बा न करके सरकार से समझौता कर लें। उस पत्र का जो उत्तर लोकमान्य ने दिया, वह उनके निर्भीक व्यक्तित्व का एक बढ़िया नमूना है। उन्होंने लिखा था—

"लोगों में मेरी जो प्रतिष्ठा है, उसका आधार मेरा चरित्र है। इस राजनैतिक अभियोग में डर जाना मेरे लिए लज्जास्पद होगा। यदि मैं दब गया तो मेरे लिए पूना में रहूं या अण्डामान में दोनों एक ही से होंगे। यदि हमें राजनीति में भाग लेना है तो ऐसे संकटों के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए। सरकार का उद्देश्य हमें जनता की दृष्टि में गिराना है, परन्तु मुझे विश्वास है कि वह हमें झुकाने में सफल नहीं होगी। वह हमें ऐसा कच्चा बांस न पायगी कि ज़रा से बोझ से टूट जाय। हमें यह भी तो याद रखना चाहिए कि अन्त में हम किसी हद तक जनता के सेवक ही तो हैं। यदि नाजुक समय आने पर हम लोग भाग निकलेंगे तो यह जनता के साथ विश्वासघात और द्रोह ही तो माना जायगा। यदि मुझे सजा हुई तो देशवासियों की जो सहानुभूति मुझे प्राप्त होगी, वही मुझे सहारा देगी।"

यह था फौलाद के समान दृढ़ संकल्प, जिसे मन में रखकर लोकमान्य सार्वजनिक सेवा में प्रवृत्त हुए थे। यही संकल्प था, जिसकी सीढ़ियों पर चढ़ते हुए वह शीघ्र ही नेतृत्व के गगन को छूनेवाली चोटी तक पहुंच गये।

सेशन जज मि० स्ट्रेची की अदालत में तिलक महाराज का अभियोग ८ सितम्बर को आरम्भ हुआ।

अभियोग के चलने पर तिलक और उनके मित्रों को एक बड़ी चिन्ता यह हुई कि अभियोग का खर्च कैसे चलाया जायगा। केवल 'केसरी' की आय का ही सहारा था और वह इतनी नहीं थी कि बम्बई के हाईकोर्ट में मुकदमा लड़ने का बोझ उठा सके। प्रारम्भ में लोकमान्य को मित्रों से ऋण लेकर काम चलाना पड़ा, परन्तु शीघ्र ही कलकत्ता तथा अन्य स्थानों पर सहायता के लिए धन एकत्र होने लगा। महाराष्ट्र से तो आर्थिक सहायता मिली ही, विशेष महत्वपूर्ण सहायता वह थी, जो अन्य प्रान्तों से आई। बंगाल में जो धनराशि एकत्र हुई, उसमें कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की भी राशियां थीं। श्री मोतीलाल घोष ने चन्दा एकत्र करने में मुख्य भाग लिया। सब मिलकर लगभग ४५०००) से कुछ ऊपर चन्दा प्राप्त हुआ। लोगों को अभियोग के दैनिक समाचार नियमित मिल सकें, इस विचार से अभियोग के दिनों में 'केसरी' का दैनिक

संस्करण बम्बई में प्रकाशित होता रहा।

अभियोग में सरकार की ओर से मि० लैंग ने तिलक पर दोषारोपण करते हुए 'केसरी' के लेखों को आपत्तिजनक वतलाया। उन्होंने मुख्य रूप से तीन विषयों पर वल दिया। शिवाजी-उत्सव से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों को भूमिका के रूप में उपस्थित करके मि० लैंग ने 'केसरी' में प्रकाशित एक कविता की ओर अदालत का ध्यान खिंचा, जो शिवाजी-उत्सव पर सुनाई गई थी। उस कविता में शिवाजी की ओर से भारतवासियों को निद्रा त्याग करके स्वाधीन होने की प्रेरणा की गई थी। जब कुछ भारतीय इतिहासज्ञों ने यह सिद्ध करने का सफल यत्न किया था कि शिवाजी ने अफजलखां पर जो प्रहार किया, वह वस्तुतः आत्मरक्षा के लिए था, तो तिलक ने 'केसरी' में उनका जोरदार समर्थन किया था। उसे इस बात के प्रमाण-रूप में पेश किया गया कि तिलक ने जनता को राजनैतिक हत्या के लिए भड़काया। अन्त में 'केसरी' के वे लेख पेश किये गए, जो रैंड-हत्या के बारे में लिखे गये थे। उन लेखों का सारांश यह था कि यद्यपि यह काम अच्छा नहीं हुआ, परन्तु उसके मूल कारण रैंडशाही अत्याचार थे। इस कारण हत्या का असली उत्तरदायित्व स्वयं रैंड पर है।

दोनों अभियुक्तों ने अपनेको निर्दोष वतलाया। जूरी नियत की गई, जिसमें पांच अंग्रेज, एक यहूदी, एक पारसी और दो महाराष्ट्रीय सज्जन थे। जूरी के संगठन से ही प्रतीत हो गया था कि सरकार की मन्शा क्या है?

'केसरी' के लेखों और कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद को प्रमाणित करने के लिए सरकारी अनुवादक मिर्जा आवास अली वेग को लगभग डेढ़ दिन तक गवाही के कठघरे में खड़ा रहना पड़ा। लोकमान्य ने उससे जो जिरह की, वह वहुत ही मार्के की थी। चाहे कानून की दृष्टि से उसका विशेष महत्व नहीं था, तथापि उससे सरकार के अनुवाद-विभाग की अयोग्यता और लोकमान्य की पैनी प्रतिभा और उद्भट योग्यता का परिचय अवश्य मिलता था। जज, सरकारी वकील और जूरी के भी अधिकांश सदस्य मराठी से सर्वथा अनभिज्ञ थे। लेखों के जिस अनुवाद के आधार पर अभियोग चलाया गया था, उसकी अप्रामाणिकता दिखाने के लिए वेगसाहव की योग्यता की गहराई नापना आवश्यक था। तिलक महाराज ने स्वयं जो जिरह की, उसने इतनी वात तो सर्वथा स्पष्ट करदी कि वेगसाहव को मराठी भाषा की पेचीदगियों का ज्ञान नहीं है। वहुत वहस जिस वाक्य पर रही, वह था—'ईश्वर ने म्लेच्छों को भारत के राज्य का ताम्रपत्र लिखकर नहीं भेजा है।' इस वाक्य के लगभग प्रत्येक शब्द पर प्रश्नोत्तर हुए।

'म्लेच्छ' निंदावाचक शब्द है या नहीं ? 'नहीं दिया' का व्यंग्यार्थ क्या है ? इन प्रश्नों के उत्तर देने में सरकारी अनुवादक की जिह्वा कई बार लड़खड़ाई। आगे चलकर लेख में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग था। उसपर भी बहुत विवाद हुआ। 'केसरी' के लेख में था—'छाटून टाका' (साफ कर दो)। साफ करने का अभिप्राय मानसिक शुद्धि करना है या खत्म करना—यह भी काफी बहस का विषय रहा। लोकमान्य को यह सिद्ध करने में अधिक यत्न नहीं करना पड़ा कि मिजसाहब का मराठी ज्ञान बहुत अधूरा है। परन्तु उससे विशेष लाभ नहीं हुआ। एक वार तो चर्चा उठी कि भाषा-सम्बन्धी गुत्थियों को हल करने के लिए अदालत डा० भण्डारकर को साक्षी के रूप में बुलाये, परन्तु अन्त में न्यायमूर्ति महोदय ने यह व्यवस्था देकर संकट को टाल दिया कि मराठी शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में विशेष छान-बीन करने की आवश्यकता नहीं है, शब्दों का अभिप्राय स्पष्ट है, जिससे लेखक के मन का भाव समझा जा सकता है।

११ सितम्बर को सरकार की ओर से एडवोकेट जनरल मि० लैंग ने लगभग पौने दो घण्टे तक बहस की। उसका उत्तर लोकमान्य के वकील बैरिस्टर प्यू ने दिया। यह उस समय की सामान्य परिस्थिति का एक स्थूल प्रमाण था कि अंग्रेज बैरिस्टर को उत्तर देने के लिए अंग्रेज वकील को ही खड़ा करना आवश्यक समझा गया। प्यूसाहब ने दो दिन तक बहस की। १४ सितम्बर के पूर्वार्ध में न्यायाधीश स्ट्रेची ने ज्यूरी के सम्मुख अभियोग के दोनों पक्ष रखने का कार्य आरम्भ किया। मुकदमे के मध्य में ही यह बात स्पष्ट हो गई थी कि दूसरे अभियुक्त वाल को निर्दोष मानकर छोड़ दिया जायगा। न्यायाधीश ने जूरी के सामने अपना यही मत प्रदर्शित किया कि वह लेखों के प्रकाशन के लिए केवल तिलक को दोषी मानते हैं।

न्यायाधीश ने जूरी के सामने दोनों पक्ष रखने में पांच घण्टे लगाये। यद्यपि समझा तो यही जाता था कि वह जूरी के सामने जो कुछ कहेंगे, वह निष्पक्ष होगा, परन्तु निष्पक्षता केवल शब्दों तक परिमित थी, भाव बिल्कुल स्पष्ट था कि वह तिलक को पूर्ण रूप से अपराधी समझते हैं।

अभियोग का मुख्य आधार यह था कि 'केसरी' के लेखों से जनता के हृदयों में सरकार के विरुद्ध विरोध का भाव (डिसअफैक्शन) उत्पन्न किया गया है। सफाई पक्ष की ओर सेयह समाधान दिया गया था कि जिन लेखों को अभियोग का आधार बनाया गया है, उनमें कहीं भी विरोध की भावना को नहीं भड़काया गया। उसपर टिप्पणी करते हुए न्यायाधीश महोदय ने बंगाल के चीफ जस्टिस के इस मत से सहमति प्रकट की कि विरोध (डिसअफेक्शन) कोई भावात्मक चीज नहीं है, प्रेम का अभाव

(अव्सेंस ऑव अफेक्शन) ही विरोध है। अर्थात् क्योंकि 'केसरी' के लेखों में सरकार के प्रति प्रेम प्रदर्शित नहीं किया गया, इस कारण उन्हें विरोधपूर्ण ही मानना चाहिए। शब्दों के अर्थ और व्याकरण के विवाद के सम्बन्ध में न्यायाधीश ने कहा कि आप लोगों को वैयाकरणों के दृष्टिकोण से उन लेखों को नहीं देखना चाहिए, अपितु उन्हें साधारण पाठक बनकर पढ़ना चाहिए और उन असाधारण परिस्थितियों पर भी विचार करना चाहिए, जिनमें लेख प्रकाशित किये गए। असाधारण परिस्थितियों से जज का अभिप्राय रैंड-हत्या आदि से था। लोकमान्य के वकील ने यह दरशाने का यत्न किया था कि न तो शिवाजी-उत्सव मनाना कोई जुर्म है और न अफजल खां की हत्या की घटना के ऐतिहासिक विवेचन को आपत्ति-योग्य समझा जा सकता है। इसपर न्यायाधीश महोदय ने सम्मति देते हुए कहा—

"सामान्य समय पर और अनुकूल परिस्थितियों में शिवाजी के सम्बन्ध की चर्चा पर कोई आक्षेप नहीं हो सकता, परन्तु जब समय असामान्य हो जाय, बात गम्भीर हो जाती है और हमें बड़ी सावधानी से छान-बीन करनी चाहिए कि लेखकों का आशय क्या है?"

दोनों ओर की बहसों का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होंने प्रश्न उठाया—"इस अत्यन्त नाज़ुक और उत्तेजक विषय को, और वैसे ही अन्य उत्तेजक विषयों को इस विशेष अवसर पर क्यों उठाया गया?"

और उसका उत्तर स्वयं दे दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि अभियुक्त का अभिप्राय सरकार के विरुद्ध विद्वेष की भावना उत्पन्न करना था, इस कारण उसे राजद्रोह का अपराधी मानकर धारा १२४ ए के अन्तर्गत दण्डित करना चाहिए।

सायंकाल के ५ बजे न्यायाधीश का उपसंहार-भाषण सुनकर जूरी के सदस्य परामर्श करने के लिए उठ गये, और ५-४० पर वापस आ गये। दूसरे अभियुक्त आर्य भूषण प्रेस के सहायक प्रबन्धकर्त्ता केशवराव बाल को जूरी के सब सदस्यों ने निर्दोष घोषित किया, और उसके छोड़ देने की सिफारिश की। दूसरे अभियुक्त बालगंगाधर तिलक के सम्बन्ध में जूरी में मतभेद था। छह सदस्यों ने तिलक को दोषी और तीन ने निर्दोष ठहराया। न्यायाधीश ने बड़ी उदारता का प्रदर्शन करते हुए लोकमान्य से कहा कि यद्यपि जूरी ने तुम्हें अपराधी करार दिया है तो भी तुम अपनी सफाई में कुछ कहना चाहते हो तो कह सकते हो। लोकमान्य ने उत्तर दिया—

"जूरी भले ही मुझे दोषी ठहराये, परन्तु मैं अपनेको निर्दोष मानता हूं। साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मैंने ये लेख राजद्रोह के उद्देश्य को सामने रखकर नहीं लिखे हैं और मैं नहीं सम-

झता कि उसका परिणाम राजद्रोह उत्पन्न करनेवाला हो सकता था। लेख के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए किसी विद्वान को साक्षी के तौर पर बुलाना चाहिए था। वह उसने नहीं बुलाया। मैं समझता हूं कि मुझे दोषी करार देने का कारण यह है कि मराठी के शब्दों का अर्थ ठीक नहीं समझा गया। गवाहों के कठघरे में एक मराठी जाननेवाला नहीं बुलाया गया।"

न्यायाधीश ने बाल को छोड़ दिया और लोकमान्य को १८ मास के कठोर कारावास का दण्ड दिया। इस प्रकार यह पहला राजद्रोह का अभियोग अंग्रेजी सरकार के अद्भुत न्याय-प्रदर्शन के साथ समाप्त हुआ। इस अभियोग की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि स्वयं न्यायाधीश ने जूरी के सामने मामले के दोनों पक्षों का विवेचन करते हुए सरकारी वकील का काम किया।

अभियोग की गतिविधि और जज का रुख देखकर लोगों ने पहले ही अनुमान लगा लिया था कि सजा अवश्य होगी। इस कारण निर्णय सुनाये जानेवाले दिन हाईकोर्ट के बाहर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई थी। परन्तु अधिकारियों ने निर्णय की घोषणा होते ही लोकमान्य को पिछले दरवाजे से चुपचाप निकालकर अपनी समझ में जनता को भारी चकमा दे दिया। फिर भी अधिकारियों को यह तो मालूम हो ही गया कि अभियोग और दण्ड ने तिलक की लोकप्रियता और प्रभाव को बढ़ाया ही है, घटाया नहीं।

अगले दिन लोकमान्य के वकीलों ने निश्चय किया कि सजा के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल में अपील की आज्ञा लेने के लिए हाईकोर्ट की फुलबेंच के सामने प्रार्थना रखी जाय। वकीलों ने लोकमान्य के पास जेल में सन्देश भेजा कि वह इस विषय में अपने निर्देश भेजें। अगले दिन लोकमान्य के यहां से लिखित निर्देश प्राप्त हुए तो वकील लोग चमत्कृत हो गये। प्रसिद्ध बैरिस्टर मि० जे० चौधरी ने लिखा है—

"मि० प्यू (लोकमान्य के मुख्य वकील) ने तिलक के लिखे हुए निर्देशों को ऊपर से नीचे तक हर्षपूर्वक पढ़ा और उन्हें मि० गर्थ (अपने सहायक वकील) के हाथ में देते हुए कहा कि मैं इस काम को इससे बेहतर नहीं कर सकता था। वे लोग पहले ही तिलक की योग्यता और प्रतिभा के कायल थे, अब तो उनका आदर-भाव और भी अधिक बढ़ गया, और वे कहने लगे कि हमें अपने वकालत के जीवन में, अबतक ऐसा कोई वकील अथवा साधारण व्यक्ति नहीं मिला, जो केवल अदालत में जज द्वारा दिये गए फैसले के आधार पर, अन्य किसी सामग्री के बिना इतना ठीक और सर्वांगपूर्ण अपील-

सम्बन्धी आवेदन-पत्र तैयार कर सके।"

हाईकोर्ट ने आवेदन-पत्र रद्द कर दिया, तो भी तिलक के मित्रों ने प्रिवी कौंसिल में अपील दायर कर दी। मि० खरे अपील-सम्बन्धी सब कागज लेकर विलायत गये और वहां की लिबरल पार्टी के अग्रगण्य नेता मि० एस्क्विथ द्वारा उसे प्रिवी कौंसिल में पेश किया। उस समय की न्याय-पद्धति के अनुसार प्रिवी कौंसिल ने भी तिलक को राजद्रोह का अपराधी मानते हुए अपील रद्द कर दी। अपील तो रद्द हो गई, परन्तु लोकमान्य की सफाई में जो भाषण हुए, उन्होंने संसार के सामने यह बात स्पष्टता से प्रकट कर दी कि राजद्रोह-सम्बन्धी अभियोगों में भारतवासियों को किसी ब्रिटिश न्यायालय से न्याय नहीं मिल सकता।

लोकमान्य का यह राजनैतिक अभियोग देश में अपने ढंग का पहला अभियोग था। उस समय की जेलों की दशा का आज तो अनुमान लगाना भी कठिन है। वे जेलें वस्तुतः भूमिगत नरक थीं। यदि हम उस समय की घटनाओं के रंग-रूप को ठीक प्रकार से समझना चाहें तो हमें उस समय की सब परिस्थितियों की पृष्ठ-भूमि पर रखकर ही देखना होगा। अभियोग जिस प्रकार लड़ा गया, उसपर सम्मति बनाने के लिए १९वीं सदी के अन्तिम वर्षों की राजनैतिक परिस्थिति पर ध्यान रखना आवश्यक है। यदि १८९७ के कामों को १९३६ या आज के दृष्टिकोण से देखा जायगा तो निःसन्देह उनका असली रूप प्रकट नहीं हो सकेगा।

उन्नीसवीं सदी के पढ़े-लिखे देशभक्तों का राजनैतिक दृष्टिकोण क्या था, यह राष्ट्रीय महासभा के प्रस्तावों और उस समय के राष्ट्रीय विचार-वाले समाचारपत्रों से विदित हो सकता है। सामान्य रूप से उस समय की भारतीय राजनीति के मूलभूत तत्व दो थे। एक यह कि महारानी विक्टोरिया ने अपनी सन् १८५८ की घोषणा में भारतवासियों के अधिकारों की जो व्याख्या की है, वह हमें माननीय हैं। अतएव एक प्रकार से वह हमारे राजनैतिक आन्दोलन-रूपी भवन की बुनियाद है। दूसरा तत्व यह था कि ब्रिटिश जाति हृदय से न्यायपरायण है। यदि उसकी न्याय-बुद्धि को उद्बोधित किया जाय तो उसे ठीक मार्ग पर लाना कठिन नहीं है। ये दो तत्व थे, जिनकी घोषणा कांग्रेस के मंच पर से और राष्ट्रीय समझे जानेवाले समाचार-पत्रों में निरन्तर की जाती थी। जब लोकमान्य पर अभियोग चलाया गया, तब बहुत-से राजनैतिक मित्रों ने परामर्श दिया कि सरकार से मिलकर मामला रफा-दफा कर लिया जाय। मोतीलाल घोष का लोकमान्य के नाम भेजा गया परामर्श एक नमूना है। मोतीलाल घोष स्वयं गर्म विचार रखते थे। उनका यह परामर्श कि मामले को रफा-दफा कर लिया जाय, उस समय

की राजनैतिक मनोवृत्ति को सूचित करता है। लोकमान्य का व्यवहार कैसा क्रान्तिमय था, इसका पूरा अनुमान तभी हो सकता है, जब उसे उस समय की राजनैतिक मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि पर रखकर देखा जाय।

लोगों के सामने पूना के ही दूसरे जन-नेता गोपालकृष्ण गोखले का दृष्टान्त भी था। गोखले की देशभक्ति और योग्यता असन्दिग्ध थी। वह न डरनेवाले थे, और न पद या ऐश्वर्य के लोलुप। यह उस समय की सामान्य राजनैतिक मनोवृत्ति का ही परिणाम था कि उन्होंने प्लेग के मामले में ऐसी सस्ती क्षमा मांग ली। लोकमान्य ने अपने व्यवहार से उस दब्बू मनोवृत्ति को जबर्दस्त ठोकर दी। क्षमा मांगना या रफा-दफा करना लोकमान्य के नीति-शास्त्र का भाग नहीं था। वह अनुभव रखते थे कि जिन्हें जनता अपना नेता मानती है, उनकी अणुमात्र निर्बलता सर्वसाधारण पर पहाड़ बनकर गिरेगी, जिससे राष्ट्र का आत्मसम्मान कुचला जायगा।

१९३० में कुछ लोग पूछते थे कि लोकमान्य ने अपने पर लगाये गए अभियोगों की प्रिवी कौंसिल तक पैरवी क्यों की? उस समय के राष्ट्रीय नेताओं को अंग्रेजों की न्याय-परायणता पर अटूट विश्वास था। लोकमान्य उसका खोखलापन सिद्ध करके देशवासियों पर छाये हुए ब्रिटिश जादू को तोड़ना चाहते थे। उन्हें इसमें बहुत-कुछ सफलता भी मिली। दण्ड देने का बहाना तलाश करने में जज स्ट्रैची इतना भटक गया कि उसने राज्य के विरुद्ध असन्तोष की नई व्याख्या कर दी। उसने कहा कि राज्य के प्रति असन्तोष फैलाने का अर्थ है राज्य के प्रति प्रेम का अभाव। यह व्याख्या सुनकर नर्म-से-नर्म भारतीय राष्ट्रवादियों ने भी दांतों तले अंगुली दबा ली। लोकमान्य ने अभियोग लड़कर अंग्रेजी न्यायालयों की सत्यता और अंग्रेज जाति की न्यायपरायणता की पोल खोलकर रख दी।

लोकमान्य के जेल चले जाने पर भी 'केसरी' और 'मराठा' का प्रकाशित होना बन्द नहीं हो सका। श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर तब कानून की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे। उन्होंने सम्पादक का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया और दोनों पत्र दूसरे प्रेसों में छपने लग गये। इतना भारी विक्षेप भी लोकमान्य के समाज-सेवा के यज्ञ को बन्द न कर सका।

: २२ :

कारागार और उससे मुक्ति

कारावास की सजा के पहले कुछ दिनों तक तिलक को डोंगरी जेलखाने में रक्खा गया। यह जेलखाना बहुत छोटा था, इसलिए शायद यह समझकर कि उसमें तिलक जैसे महान् अपराधी की रक्षा कठिन है, थोड़े ही समय बाद उन्हें भायखला-जेल में बदल दिया गया। इसी बीच में लोकमान्य का स्वास्थ्य काफी गिर गया था।

आज उस समय के कारागार के नारकीय रूप को समझना भी कठिन है। राजनैतिक बन्दियों की कोई अलग श्रेणी नहीं मानी जाती थी। सरकार का शत्रु होने के कारण राजनैतिक बन्दियों को अन्यों से कुछ अधिक भयानक ही समझा जाता था। केवल इतना ध्यान रक्खा जाता था कि गोरे कैदियों का वार्ड अन्य कैदियों से साफ-सुथरा और अच्छा हो और उनकी भोजन-वस्त्रादि की व्यवस्था बढ़िया हो।

इस प्रकार लोकमान्य के लिए परिस्थितियां सर्वथा प्रतिकूल थीं और भोजन बिल्कुल रद्दी था। धीरे-धीरे उनकी भूख मर गई, वजन बहुत घट गया, होंठ काले पड़ गये और गले की खुश्की के कारण बोलना भी कठिन हो गया। जब ये समाचार बाहर पहुंचे तो मित्रों में गहरी चिन्ता फैल गई। समाचार-पत्रों ने अधिकारियों का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया और प्रभावशाली भारतीयों ने सरकार के अफसरों से मिलकर भी स्थिति को सुधारने का यत्न किया, परन्तु कोई विशेष फल न हुआ। उस वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन सर शंकर नायर की अध्यक्षता में अमरावती में हुआ था। कांग्रेस उस समय नर्म विचारवाले नेताओं के हाथ में थी। मि० मुधोलकर जैसे प्रभावशाली नर्म नेता के यत्न करने पर भी स्वागतकारिणी समिति ने यह स्वीकार न किया कि पण्डाल में लोकमान्य का चित्र लगाया जाय और न ही उनको दिये गए दण्ड के बारे में निन्दा का प्रस्ताव उपस्थित किया जा सका। समझा गया कि तिलक राजद्रोह के अपराधी सिद्ध हो चुके हैं, इस कारण किसी रूप में भी उनका सीधा समर्थन करना कांग्रेस के लिए हानिकर होगा। तो भी अधिवेशन तिलक-अभियोग की चर्चा से शून्य न रहा। अध्यक्ष श्री शंकर नायर बहुत बड़े वकील थे। उन्होंने अपने अध्य-

क्षीय भाषण में तिलक-अभियोग के सम्बन्ध में दो दोष बतलाये। एक दोष तो यह था कि सभ्य जगत् के नियम के अनुसार जूरी के सब सदस्य भारतीय होने चाहिए थे, जो नहीं रक्खे गये। दूसरा दोष यह था कि यदि विलायत में तिलक को सजा मिली होती तो उनके साथ साधारण कैदियों जैसा सलूक न किया जाता।

बंगाल के शेर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने नातू भाइयों की नजरबन्दी के प्रस्ताव पर बोलते हुए बहुत ही भावुकतापूर्ण शब्दों में कहा—

"तिलक यथार्थ में निरपराध हैं। शरीर से मैं उनके साथ अन्धेरी कोठरी में नहीं बैठ सकता, परन्तु मेरी आत्मा जेल में तिलक के साथ है।"

जेल में लोकमान्य का स्वास्थ्य निरन्तर गिर रहा था। दो महीनों से कम समय में उनका वजन लगभग पच्चीस पौण्ड घट गया था। बम्बई के वकील मि० सटलुर जब जेल में लोकमान्य से मिलने गये तो उनकी शारीरिक दशा देखकर स्तब्ध रह गये। लन्दन में हावर्ड एसोसियेशन नाम की एक संस्था थी, जिसका उद्देश्य जेलों की दशा को सुधारना था। मि० सटलुर ने उस संस्था के मन्त्री को १८९७ के नवम्बर मास में एक पत्र लिखा, जिसमें तिलक के स्वास्थ्य की गिरती हुई दशा का वृत्तान्त लिखा। संस्था के मन्त्री ने मामला भारत-मन्त्री सर जार्ज हेमिल्टन के सामने रक्खा। भारत-मन्त्री ने नौकरशाही सरकार की सम्मत नीति के अनुसार प्रत्यक्ष रूप में आरोप को स्वीकार न किया। परन्तु प्रतीत होता है कि बम्बई सरकार को आज्ञा दी कि वह चिकित्सकों द्वारा तिलक के स्वास्थ्य की दशा की परीक्षा करवाये। परीक्षा की गई। उसका परिणाम यह हुआ कि लोकमान्य को डोंगरी-जेल से भायखला-जेल में भेज दिया गया और दूध और घी की कुछ मात्रा देने की व्यवस्था हुई।

हावर्ड एसोसियेशन के प्रयत्न तो यहीं समाप्त हो गये, परन्तु एक-दूसरे हितैषी-मण्डल की ओर से लोकमान्य को कारागार से मुक्त कराने की चेष्टा जारी हो गई। प्रो० मैक्समूलर १९वीं शताब्दी के पहले पाश्चात्य विद्वान् थे, जिन्होंने भारत और भारतीय वाङ्मय का सहानुभूति के साथ विस्तृत और गम्भीर अनुशीलन किया और अपने विचारों को निःसंकोच भाव से प्रकाशित किया। वह जन्म से जर्मन थे और इंग्लैंड में चिर निवास के कारण अंग्रेज नागरिक बन गये थे। तिलक के 'ओरियन' को पढ़कर वह लोकमान्य की प्रतिभा और योग्यता के कायल हो गये थे। उन्होंने यह जानकर कि तिलक जेल में ऋग्वेद के अनुशीलन को जारी रखना चाहते हैं, अपने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद की एक प्रति जेल के अंग्रेज सुपरिन्टेण्डेंट

की मार्फत उनके पास भेजी। उन दिनों के भारत के अंग्रेजी शासकों की योग्यता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि मैक्समूलर द्वारा पुस्तक भेजे जाने से अंग्रेज अफसर को यह पता चला कि उनकी जेल में कोई विद्वान् भारतीय रहता है। वह स्वयं लोकमान्य से मिला और उनके साथ व्यवहार में कुछ नर्मी लाने की सिफारिश की।

लोकमान्य को राहत दिलाने के शुभ संकल्प को प्रो० मैक्समूलर ने केवल ऋग्वेद का अनुवाद भेजकर ही समाप्त नहीं कर दिया। उन्होंने भारत-मन्त्री के पास एक आवेदन-पत्र भेजा, जिसमें तिलक को जेल से छोड़ने की प्रार्थना की गई थी। आवेदन-पत्र पर मि० विलियम फेन, मि० ए० ए० मैक्डानल, सर विलियम हंटर आदि अंग्रेज तथा मि० दादाभाई, और श्री आर० सी० दत्त आदि भारतीय विद्वानों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें तिलक को छोड़ने के पक्ष में मुख्यरूप से दो युक्तियां दी गई थीं। एक युक्ति तो यह थी कि तिलक जैसे विद्वान को जेल में रखना अंग्रेजी सरकार के लिए अपयश का कारण है, और दूसरी युक्ति यह थी कि यह सिद्ध हो गया था कि चाफेरकर-अभियोग से लोकमान्य का कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐंग्लो इण्डियन समाचार-पत्रों को भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि रैंड की हत्या से तिलक का किसी प्रकार का भी सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हुआ, इस कारण यदि सम्भव हो तो तिलक को कुछ शर्तों पर रिहा कर देना चाहिए।

प्रो० मैक्समूलर द्वारा उद्भावित आवेदन-पत्र का एकदम कोई स्पष्ट परिणाम तो नहीं निकला, परन्तु सरकार के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया। अधिकारियों को यह अनुभव होने लगा कि तिलक अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति है, इसकी बीमारी या मृत्यु साधारण बात नहीं है। उससे अंग्रेजी राज्य की घोर अप्रतिष्ठा होगी। इस कारण उन्होंने लोकमान्य के साथ कड़ा व्यवहार करना छोड़ दिया। उन्हें यरवदा-जेल में बदल दिया गया। समझा गया कि पूना का जलवायु उनके स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होगा। उनका काम बदल दिया गया। कठोर मशक्कत की जगह सूत और ऊन को रंगने का काम दे दिया गया। वह कार्य लोकमान्य को बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ। उन्होंने कई नये प्रयोगों का आविष्कार किया, जिन्हें जेल के अधिकारियों ने बहुत उपयोगी समझा। अब उनके भोजन में दूध और घी की भी कुछ वृद्धि कर दी गई।

इधर लोकमान्य के मित्रों का उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न जारी रहा, और उधर सरकार के रुख में नर्मी आती गई। नर्मी लाने का विशेष श्रेय मैक्स-मूलर आदि विद्वानों के आवेदन-पत्र को है। परिणाम यह हुआ कि सरकार

दो शर्तों पर रिहाई के लिए तैयार हो गई। उन शर्तों का मुख्य रूप से उद्देश्य यह था कि तिलक छूट भी जायं, और सरकार की मूंछ भी नीची न हो। दो शर्तें ये थीं कि रिहा होने पर तिलक स्वागत-अभिनन्दन आदि के किसी कार्यक्रम में भाग न लें और भविष्य में राजनैतिक आन्दोलन से सर्वथा अलग रहें। सरकार की ओर से यह भी प्रकट किया गया कि जेल से मुक्ति के विषय पर तभी विचार हो सकेगा, जब तिलक इस आशय का आवेदन-पत्र देंगे। यह काम आसान नहीं था। लोकमान्य के लिए न आवेदन-पत्र देना रुचिकर था और न किसी शर्त का स्वीकार करना। परन्तु उनके मित्रों का आग्रह था कि स्वास्थ्य की दृष्टि से जेल से मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। फलतः लोकमान्य ने अपनी जेल से रिहाई के लिए एक आवेदन-पत्र दिया। आवेदन-पत्र में वायसराय के नाम लिखा था—

"जैसा कि मैंने अभियोग के प्रसंग में कहा था, मैं हिज एक्सलेंसी को विश्वास दिलाता हूं कि मेरा कभी कानून की सीमा का उल्लंघन करने का अभिप्राय नहीं था, और न यही ख्याल आया था कि मेरे लेख १२४ ए. धारा की मार में आ जायंगे।

... ...

"मैं आपका ध्यान उस घटना-चक्र की ओर भी आकृष्ट करता हूं, जो मुझे दण्ड देने के पश्चात् प्रकट हुआ है। मेरी तुच्छ सम्मति है कि उसने मेरे अभियोग पर नई रोशनी डालकर बहुत-से भ्रमों को निवृत्त कर दिया है।"

इस आवेदन पत्र को पढ़कर ऐसे लोग आश्चर्यान्वित हो सकते हैं, जिन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन का केवल १९१८ के बाद का इतिहास पढ़ा है। वे १९वीं सदी के अन्त की भारतीय मनोवृत्ति को नहीं समझ सकते। १९१८ के पश्चात् की भारतीय मनोवृत्ति को उत्पन्न करने के जो अनेक कारण थे, उनमें से एक प्रमुख कारण लोकमान्य की संघर्ष-शैली भी थी। यदि लोकमान्य उस समय की प्रचलित राजनीति के अनुसार चलते तो अभियोग के प्रारम्भ में क्षमा मांगकर छूट जाते। उन्होंने अभियोग के सम्बन्ध में जितने कदम उठाये, उनका लक्ष्य ब्रिटिश न्याय के ढोल की पोल खोलना ही था। न तिलक-केस होता और न स्ट्रैची द्वारा की हुई 'राज्य के प्रति असन्तोष' की उपहासजनक और अद्भुत व्याख्या संसार के सामने आती। इस आवेदन-पत्र का भी वैसा ही परिणाम हुआ। मित्रों के आग्रह पर लोकमान्य ने रिहाई के लिए जो आवेदन-पत्र दिया, उसे सरकार ने जस्टिस स्ट्रैची के पास भेज दिया। सरकार ने रिहाई पर जो दो शर्तें लगाई थीं, वे स्ट्रैची के सुझाव का ही परिणाम था; जेल से छूटने पर जो स्वागत-समारोह हों,

उनमें भाग न लेने की शर्त तो लोकमान्य ने स्वीकार कर ली, परन्तु दूसरी शर्त, जिसमें उनसे भविष्य में राजनीति में भाग न लेने का अश्वासन मांगा गया था, अस्वीकार कर दी। मित्र लोगों में फिर घबराहट पैदा हो गई। सरकार भी दुविधा में पड़ गई। वह छोड़ना तो चाहती थी, परन्तु तिलक का सिर नीचा करके। वह सिर नीचा न हुआ तो सरकार कुछ झुकी, और केवल इतने आश्वासन पर रिहाई के लिए तैयार हो गई कि "यदि मैं फिर राजद्रोह के अभियोग में दण्डित किया जाऊं, तो इस बार का बचा हुआ दण्डकाल भी उसमें जोड़ दिया जाय।"

इस प्रकार सरकार का घर पूरा हो गया, और ६ सितम्बर, १८९७ को रात के दस बजे लोकमान्य जेल से रिहा हो गये।

दृढ़ता और तपस्या ने लोकमान्य की लोकप्रियता को कितना बढ़ा दिया है, यह सरकार को तब विदित हुआ जब वह छूट कर घर आये। समाचार-पत्रों का अनुमान था ७ सितम्बर को लगभग १० हजार आदमी तिलक से मिलने आये। मन्दिरों में दीपावलि की गई। देश और विदेश से सैंकड़ों पत्र और तार आये। अनेक उत्सव हुए। लोकमान्य वचनबद्ध थे, अतः उत्सवों में समिलित नहीं हुए, परन्तु उनकी अनुपस्थिति से उत्सवों का महत्व घटा नहीं, कुछ बढ़ा ही।

: २३ :

संघर्ष जारी

कारागार से छूटने पर लोकमान्य के सामने सबसे पहला कर्तव्य यह था कि वह अपनी सेहत का सुधार करें। हितैषियों और बन्धुओं ने भी यही परामर्श दिया।

जब इस प्रश्न पर विचार उठा कि स्वास्थ्य-सुधार और विश्राम के लिए कौन-सा स्थान चुना जाय तो तरह-तरह के परामर्श मिलने लगे, और कई स्थानों से निमन्त्रण भी आये, परन्तु लोकमान्य का मन किसीपर न जमा। जिस व्यक्ति ने अपने समाचार-पत्र का नाम 'केसरी' रक्खा हो, भला वह साधारण स्थान पर विश्राम करने कैसे जा सकता था। लोकमान्य ने विश्राम के लिए सिंहगढ़ को चुना। सिंहगड़ छत्रपति शिवाजी का विजय-स्थान और तानाजी जैसे महावीर का अन्तिम विश्राति-स्थान था। लोकमान्य ने दो मास तक सिंहगढ़ के खण्डहरों में महाराष्ट्र के गये हुए गौरव की स्मृतियों को ताजा करके शरीर और मन दोनों को भावी सार्वजनिक जीवन के लिए तैयार किया।

कुछ स्वास्थ्य-लाभ हो जाने पर तिलक ने धीरे-धीरे सार्वजनिक जीवन के केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित करना आरम्भ किया। दिसम्बर के अन्त में वह मद्रास जाकर कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुए, परन्तु मंच पर से बोले नहीं। केवल स्थिति का अध्ययन करते रहे। कांग्रेस की समाप्ति पर अवसर पाकर तिलक रामेश्वरम् आदि होते हुए सीलोन गये। अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन लखनऊ में हुआ। वहां से लोकमान्य कलकत्ता होते हुए बर्मा गये। इन भ्रमणों में लोकमान्य ने देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों और उनके निवासियों से गहरा परिचय प्राप्त किया।

इस प्रकार लगभग दो वर्ष तक स्वास्थ्य-लाभ के साथ-साथ देश की उस समय की परिस्थिति से पूरी अभिज्ञता प्राप्त करके १८९९ के जुलाई मास में लोकमान्य ने फिर अपने सार्वजनिक जीवनरूपी रथ की बागडोर संभाल ली। आपने 'केसरी' का सम्पादन हाथ में लेते हुए 'पुनश्च हरि ओम्' के शीर्षक से जो अग्रलेख लिखा, उसने सारे महाराष्ट्र को सूचना दे दी कि 'केसरी' गुफा से निकलकर मैदान में आ गया है, अब उसकी गर्ज प्रति-

सप्ताह सुनने को मिला करेगी।

तिलक के कार्य-क्षेत्र में उतरने पर विरोधी लोग फिर चौकन्ने होकर उनपर कीचड़ उछालने का यत्न करने लगे। इससे पूर्व रैण्ड की हत्या के प्रकरण में बाल कृष्ण चापेकर पर हत्या का अभियोग चलने और उसके सेशन सुपुर्द होने की चर्चा हो चुकी है। चापेकर के विरुद्ध मुख्य गवाही देने-वाले दो द्राविड भाई थे, जिन्होंने २० हजार रुपये के लोभ में इकवाली बयान दिया था। उन्हें सरकार से केवल १० हजार रुपया मिला था, और वह भी इन्कमटैक्स काटकर। वे अपनी शेष राशि मांग रहे थे। बात यहां-तक बढ़ी कि समाचार-पत्रों में आ गई। लोकमान्य ने 'केसरी' में इसपर टिप्पणी करते हुए सरकार को सलाह दी थी कि उसे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार शेष राशि द्राविड बन्धुओं को देनी चाहिए और साथ ही जो बयान उन्होंने दिया है, उसे प्रकाशित कर देना चाहिए।

७ फरवरी को रैण्ड के हत्याकांड की तहकीकात में अधिक जोश से काम करनेवाले पुलिस के एक अफसर पर किसीने फटनेवाली कोई चीज फेंकी, जिससे उसके कपड़ों का कुछ भाग ही जल गया। दूसरे दिन रात के १ बजे पंजाबी मुसलमान का वेष बनाये हुए दो व्यक्ति द्राविडों के घर पर पहुंचे और उन्होंनेहिन्दुस्तानी में कहा कि तुम्हें पुलिस के बड़े अफसर ने बुलाया है। वे यह समझकर कि शायद उन्हें १० हजार की थैली मिलनेवाली है, तुरन्त तैयार होकर उनके साथ हो लिये। थोड़ी दूर जाकर आगन्तुकों ने द्राविडों पर गोलियां दाग दी, जिनसे वे घायल होकर वहीं गिर गये और अगले दिन अस्पताल में मर गये। पुलिस ने इस हत्या के सम्बन्ध में सन्दिग्ध समझकर बालकृष्ण के छोटे भाई वासुदेव रानडे तथा साठे को गिरफ्तार कर लिया। जब तीनों से पूछताछ हो रही थी तब पुलिस के रामजी पाण्डू नाम के एक सिपाही के अभद्र वाक्य से असंतुष्ट होकर वासु-देव ने झट रिवाल्वर निकाल लिया और गोली चला दी। गोली तो खाली गई, परन्तु पुलिस को द्राविड बन्धुओं की हत्या का अभियोग वासुदेव पर सिद्ध करने में सुगमता हो गई। मई १८९९ में वासुदेव और रानडे को फांसी दे दी गई।

गोरे पत्रों ने इस घटना का आश्रय लेकर फिर अपनी नीच मनोवृत्ति का परिचय दिया। इंग्लैण्ड के अनुदार दल के पत्र 'ग्लोब' में तिलक के विरुद्ध इस प्रकार विष-वमन किया—

"यह छूट नहीं दी जा सकती कि बम्बई या हिन्दुस्तान का कोई दूसरा भाग विरोध, शासन-द्रोह, राजद्रोह और हत्याओं का केन्द्र बन जाय। यह खशी की बात है कि लार्ड स्टैफर्ड नार्थकोट को गवर्नर का

महत्वपूर्ण पद संभालने से पूर्व ही परिस्थिति का पूरा ज्ञान हो गया है। पूर्ववर्ती गवर्नर को वह ज्ञान तब हुआ था जब हत्याओं की वह मुहिम सामने आ गई, जिसका तिलक ने यदि सीधा संगठन नहीं किया तो वह उसका संचालक अवश्य था।"

'ग्लोब' के इस विषैले वाण को वम्बई के गोरे पत्र 'टाइम्स ऑव इण्डिया' ने भी उद्धृत किया। लोकमान्य ने आवश्यक समझा कि उन विदेशी पत्रों को शिक्षा दी जाय। उन्होंने पहले 'ग्लोव पर और फिर 'टाइम्स ऑव इण्डिया' पर मानहानि का दावा कर दिया। दोनों दावों में लोकमान्य को सफलता हुई। 'ग्लोब' और 'टाइम्स ऑव इण्डिया' के सम्पादकों को क्षमा मांगनी पड़ी।

इन्हीं वर्षों में एक और मामला ऐसा हुआ, जिससे संसार को सरकार की विद्वेषपूर्ण मनोवृत्ति का और लोकमान्य की स्वार्थ-भावना से रहित मनोवृत्ति का परिचय मिल गया। मामला एक प्रकार से व्यक्तिगत था, परन्तु उसमें तिलक का हाथ था, इस कारण सरकार ने विशेष दिलचस्पी लेकर उसे उन्हें बदनाम और परेशान करने का साधन बनाना चाहा। यद्यपि सरकार को उस मामले में मुंह की खानी पड़ी तो भी अनेक सार्वजनिक कामों के कारण लोकमान्य को भी कम परेशानी नहीं उठानी पड़ी।

मामला संक्षेप में यह था। लोकमान्य के एक मित्र थे। उन्हें बावा महाराज कहकर पुकारते थे। वह पूना के एक बड़े जागीरदार थे। पहली पत्नी के मर जाने पर उन्होंने दूसरी शादी की। यह नई पत्नी ही बावा महाराज की मृत्यु के वाद ताई महाराज कहलाईं।

बावा महाराज की आयु बड़ी थी, और वह वृद्ध भी थे, इस कारण मित्रों के परामर्श से उन्होंने वसीयत कर दी और वसीयत के ट्रस्टी बना दिये। उन्हें तिलक पर गहरा विश्वास था, अतः इच्छा न रहते हुए भी लोकमान्य को अपना नाम ट्रस्टियों में रखने की अनुमति देनी पड़ी। कुछ समय पीछे बावा महाराज की मृत्यु हो गई। ताई महाराज के एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह भी मर गया। उस समय लोकमान्य जेल में थे। जेल से बाहर आने पर सारी स्थति देखकर ट्रस्टियों ने निश्चय किया कि ताई महाराज किसी होनहार लड़के को गोद ले लें। लड़के की तलाश की गई, और सब ट्रस्टियों ने एक मत होकर २९ जून, १९०१ को औरंगाबाद जाकर जगन्नाथ नाम के एक लड़के को ताई महाराज की गोद में दे दिया। तिलक, खापर्डे और नागपुरकर ट्रस्टी थे। तिलक और खापर्डे ताई महाराज के साथ औरंगाबाद गये थे। नागपुरकर उनके साथ नहीं गये, और उनकी अनुपस्थिति में अपना असहमतिसूचक नोट लिखकर झगड़े की बुनियाद डाल दी।

नागपुरकर ने केवल असहमतिसूचक नोट लिखकर ही संतोष नहीं किया। वह ताई महाराज को लेकर पूना के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के पास गये। एस्टन को जागीरदारों के सम्बन्ध में विशेष अधिकार भी प्राप्त थे। उसने जब मामले में तिलक का नाम सुना तो ऐसा सन्न हो गया, मानो अन्धे को लकड़ी का सहारा मिल गया हो। उसने मामले को खूब बढ़ाया, और तहकीकात के सिलसिले में लोकमान्य पर झूठी गवाही देने, बनावटी दस्तावेज बनाने, ताई महाराज को नजर कैद करने और नागपुरकर पर झूठा दोषारोपण करने के इलजाम लगा दिये और जिस प्रोबेट द्वारा जगन्नाथ को दत्तक बनाया गया था, उसे रद्द कर दिया।

लोकमान्य ने इस फैसले के विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की। हाईकोर्ट ने एस्टन के फैसले को रद्द करके प्रोबेट को कायम रक्खा। सरकार का कोप अभी शान्त नहीं हुआ था, इस कारण उसने तिलक पर फौजदारी मुकद्दमा चलाने के लिए मि० क्लेमेण्टस को स्पेशल मजिस्ट्रेट नियुक्त किया। क्लेमेण्टस ने सरकार के वफादार नौकर की तरह तिलक को अपराधी ठहराकर डेढ़ साल का कठोर कारागार और एक हजार रुपये की जुर्माने की सजा दी। फैसला सुनाये जाने पर लोकमान्य को हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर जेल ले जाया गया। लोकमान्य को पहले ही फैसले का भान हो गया था, इस कारण उन्होंने अपील तैयार कर रखी थी। फैसला होते ही सेशन जज के यहां अपील दायर कर दी गई, फलत: दो घण्टे जेल में रहकर वह जमानत पर छूट आये। ४ जनवरी, १९०४ को सेशन के यहां से अपील का फैसला हुआ, जिसमें डेढ़ वर्ष की सजा घटकर छ: मास रह गई और जब उसके विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की गई तो लोकमान्य साफ बेलाग छूट गये। उनके विरुद्ध लगाये गए सब आरोप झूठे माने गये। कोल्हापुर का दत्तक ग्रहण रद्द करके औरंगाबाद के दत्तक ग्रहण को वैध करार देने के लिए सितम्बर १९०१ में लोकमान्य ने जो दावा किया था, उसका फैसला १९०६ के जुलाई मास में हुआ। जज ने औरंगाबाद के दत्तक ग्रहण के पक्ष में निर्णय दिया। तबतक ताई महाराज का देहान्त हो चुका था। कोल्हापुर के दत्तक बाल महाराज ने निचले कोर्ट के निर्णय के विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील कर दी। अपील की पेशी चार वर्ष के पश्चात जस्टिस चन्दावरकर के सामने हुई। चन्दावरकर ने नौकरशाही के अंग्रेज सदस्य को मात देते हुए अपने फैसले में औरंगाबाद के दत्तक ग्रहण को अवैध ठहराते हुए तिलक पर अधिकार लोलुपता आदि के जघन्य और अनावश्यक आक्षेप भी लगाये। लोकमान्य चन्दावरकर के फैसले के समय जेल में थे। उन्होंने वहीं से प्रिवी कौन्सिल में अपील का मसविदा बनाकर भेज दिया। प्रिवी कौंसिल ने

चन्दावरकर के फैसले को रद्द करते हुए यह भी कहा कि यद्यपि चन्दावरकर भले ही बहुत विद्वान् हों, परन्तु ट्रस्टियों पर उन्होंने जो आरोप लगाये हैं, वे सर्वथा निर्मूल हैं।

इस प्रकार वर्षों तक तिलक महाराज की सार्वजनिक कीर्ति पर घिरे रहकर संकट के बादल अन्त में फट गये और संसार के सामने उनका सत्य और निर्मल चरित्र प्रकाशित हो गया। इस संकट को टालने के लिए लोकमान्य को लगभग ३० हजार रुपये व्यय करने पड़े, और जो मानसिक परिश्रम और खेद उठाना पड़ा, उसकी तो कोई सीमा नहीं। यदि कोई निर्बल इच्छा-शक्ति का व्यक्ति होता, तो इतने प्रतिपक्षियों और सरकार के मिले हुए आक्रमणों के सामने या तो झुक जाता या टूट जाता। यह तिलक महाराज की अदम्य इच्छा-शक्ति और चरित्र की दृढ़ता का ही परिणाम था कि वह इस लम्बे संघर्ष में पूर्णरूप से विजयी हो गये। इस दत्तक-प्रकरण ने जहां देशवासियों के हृदयों पर सरकार की क्षुद्र हृदयता का सिक्का जमा दिया वहां तिलक के प्रति गहरी श्रद्धा उत्पन्न कर दी।

लार्ड कर्ज़न

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत की राजनीति ने नई क्रान्ति के युग में प्रवेश किया। उस कल्याणमय युग के अवतीर्ण होने के कारणों की खोज करें तो परस्पर-विरोधी गुणोंवाले दो अद्भुत व्यक्ति सामने आते हैं। एक है गर्वीला साम्राज्यवादी शासक कर्ज़न, और दूसरा है देशभक्ति की आग का पुतला तपस्वी तिलक। कर्ज़न ने अपने कारनामों से देश-भर में असन्तोष का बारूद बखेरा, तो तिलक ने उस बारूद को एक केन्द्र में इकट्ठा करके क्रान्ति की अग्नि प्रज्वलित की। यदि कर्ज़न जैसा अभिमानी और मुंहजोर अंग्रेज भारत को ठोकरें मारकर न जगा देता तो लोकमान्य देशवासियों को स्वाधीनता के रणक्षेत्र में इतनी आसानी से न ला सकते। भयंकर गर्मी से वायु में जो हलचल उत्पन्न होती है, शीतल जल बरसानेवाले बादलों को जन्म देने के लिए वह अत्यन्त आवश्यक है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में देश की राजनीति अर्धजाग्रत अवस्था में थी। साधारण प्रजा राजनीति की ओर से सर्वथा उदासीन थी, अधिकार-सम्पन्न राजा, नवाब और जागीरदार सन् सत्तावन की चोट खाकर बिल्कुल दबे बैठे थे, और जो शिक्षित भारतवासी सरकार की बड़ी-बड़ी नौकरियों पर आरूढ़ थे, उनमें से अधिकांश लोगों की अंतरात्मा सोई पड़ी थी। कुछ थोड़े-से शिक्षित लोगों में इंग्लैण्ड के दृष्टान्त, और साहित्य के प्रभाव से राजनैतिक जागृति उत्पन्न हुई थी, जो इण्डियन नैशनल कांग्रेस तक परिमित थी। इस समय तक इण्डियन नैशनल कांग्रेस की उड़ान सरकारी नौकरियों में अंग्रेजों के समान अधिकार प्राप्त करने तक ही पहुंची थी, और उसकी सम्मति में इन अधिकारों को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय अपनी आवाज़ इंग्लैण्ड तक पहुंचाना ही था।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संसार में कुछ घटनाएं ऐसी हुईं, जिन्होंने भारत के स्तब्ध वातावरण में क्षुब्धता उत्पन्न कर दी। यूरोप में जो क्रान्तियां हो रही थीं, वे शिक्षित भारतवासियों के मन पर बेचैनी की छाप छोड़ देती थीं। सन् १८६०-६१ में मेजिनी और गैरीबाल्दी के प्रयत्न से इटली स्वाधीन हुआ, १८९६, में अबिसीनिया ने इटली का जुआ कंधे पर से उतारकर फेंकी

दिया। यों तो ऐसी सभी घटनाओं का शिक्षित भारत की मनोवृत्ति पर थोड़ा-बहुत असर पड़ा, परन्तु जिस घटना का देश की साधारण जनता के मन पर बहुत गहरा असर हुआ, वह जापान का रूस पर विजयी होना था। रूस अपने वृहद् आकार और योद्धा जातियों की बहुतायत के कारण सदा ही शक्ति-सम्पन्न माना जाता रहा है। प्रथम नेपोलियन की पराजय के पश्चात् तो वह लगभग अजेय माना जाने लगा था। जापान उसके सामने आकार में नगण्य और शक्ति में सर्वथा बच्चा माना जाता था। परन्तु जब दोनों में युद्ध छिड़ा तो संसार ने चकित आंखों से एशिया के वामन के सामने यूरोप के दैत्य को बिखरते देखा। स्वभावतः प्रत्येक एशियाई के हृदय में जापान की जीत ने अभिमान और आशा की एक लहर दौड़ा दी। उसे अनुभव होने लगा मानो उसीने रूस पर विजय प्राप्त की है। स्वाधीनता का एक धुंधला-सा चित्र उसके सामने आने लगा।

ऐसा चेतना से पूर्ण समय था, जब लार्ड कर्ज़न भारत का वायसराय बनकर यहां आया। लार्ड कर्ज़न इस देश के लिए नया नहीं था। वह अपनी विश्वयात्राओं के प्रसंग में कई बार भारत में आ चुका था। उसने यात्राओं के जो वृतान्त लिखे थे, उनमें इस देश की काफी चर्चा की थी। वह इंग्लैण्ड में भारतमन्त्री का सहायक भी रह चुका था। सन् १८९८ के दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में जब एक ओर मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हो रहा था, तब दूसरी ओर भारत की राजनीति में नया मोड़ उत्पन्न करनेवाला यह असाधारण प्रतिभासम्पन्न अंग्रेज वायसराय की हैसीयत से बम्बई के बन्दरगाह पर जहाज से उतरा। उस अवसर पर एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा था।—

"एक भाग्यपूर्ण घड़ी में, विदेशी कार्यों का चुलबुला सहायक मंत्री जो हाउस ऑव कामन्स का लाड़ला था, एक निर्बल और प्रतिभाहीन वायसराय का उतराधिकारी बनाकर भारत में भेजा गया। वह गुणी व्यक्ति था, परन्तु उसे यह वहम था कि मैं बहुत असाधारण आदमी हूं और मुझसे दुनिया में कोई बहुत बड़ा काम होनेवाला है......वह यहां ऊंचे मन्सूबे लेकर आया, क्योंकि इस विचार ने कि मैं ३० करोड़ आदमियों का शासन करने चला हूं, उसकी कल्पना-शक्ति के मानो पंख लगा दिये थे। उसने बड़ी तत्परता से कार्य आरम्भ किया। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों उसकी तृष्णा भी बढ़ती गई और साथ ही समस्याएं भी बढ़ती गईं, जिन्हें, सरकारी और गैर-सरकारी भारत आश्चर्य-मिश्रित और घबराहट के साथ देखने लगा।"

उसकी प्रतिभा और कार्यतत्परता एकदम अनेक दिशाओं में प्रस्फुटित होने लगी। उसने पुराने ढर्रे के अंग्रेज हाकिमों को भी चक्कर में डाल दिया।

रंगून में अंग्रेजी सेना के कुछ सिपाहियों ने एक भारतीय गरीब स्त्री पर बलात्कार किया,जिससे वह मर गई। जांच करने से अपराधी का पता न लगा सका। इसपर लार्ड कर्जन ने उस सारी अंग्रेजी पलटन को सजा दे दी। सियालकोट में कुछ गोरे सिपाहियों ने एक बावर्ची को अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए कोई स्त्री लाने को कहा। उसने इन्कार किया। इसपर सिपाहियों ने उसे इतना मारा कि वह मर गया। छानबीन की गई, परन्तु असली दोषी न पता लगा सके। इसपर उस सारी पल्टन को दण्डित किया गया। ये काम उस समय की नौकरशाही शासन-पद्धति के अनुसार कुफ्र ही कहे जा सकते थे।

लार्ड कर्जन ने भारतीय दृष्टि से जो कुछेक उपयोगी काम किये, उनमें से एक यह भी था कि देश की पुरानी इमारतों की रक्षा के लिए विशेष कानून बनाया। उस समय तक अंग्रेजी सरकार ने इस देश के पुरानी स्मरणीय इमारतों की सर्वथा उपेक्षा की थी। जो पुराने किले थे, उनमें गोरों की बारगें बना दी थीं, और इन्द्रप्रस्थ के किले और ताज जैसी महत्वपूर्ण इमारतें थीं, उन्हें समय और आंधी-पानी के आघातों के लिए खुला छोड़ रक्खा था। लार्ड कर्जन ने कानून द्वारा उनकी रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर डालकर वस्तुत: एक उपयोगी कार्य किया। परन्तु यह तो उस महत्वाकांक्षी व्यक्ति की लम्बी कर्तव्य-सूची का केवल एक शीर्षक था। उस सूची के अन्य जो बड़े-बड़े शीर्षक थे, उनका उद्देश्य भारतवासियों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं को दबाकर पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ करना और यदि सम्भव हो तो अमर बनाना था। उसने भारत के शासन की बागडोर संभालने पर अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्यारम्भ करने में देर न लगाई।

कलकत्ते का कार्पोरेशन शक्तिशाली बनता जा रहा था। राजनैतिक जागृति और वाग्मिता के कारण उन दिनों शिक्षित बंगाली अंग्रेजी सरकार की आंखों में मिर्च के दाने की तरह खटक रहे थे। लार्ड कर्जन ने उनकी शक्ति की कमर तोड़ने के लिए कारपोरेशन में चुने हुए सदस्यों की संख्या घटा दी। बदले में बहुत-से निर्वाचित सदस्यों ने कार्पोरेशन से त्यागपत्र दे दिया। उससे घबराना तो दूर रहा, लार्ड कर्जन ने बहुत प्रसन्नता प्रकट की कि अधिक परेशान करनेवाले सदस्य स्वयं ही विदा हो गये।

परन्तु इतने से उस गर्वित अंग्रेज का मन सन्तुष्ट न हुआ। उसे ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए बंगाल की शक्ति को तोड़ना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने जो योजना बनाई, उसपर स्वीकृति-सूचक मुहर लगवाने के लिए उसे विलायत जाना पड़ा। उसके

कार्य-काल के पांच वर्ष समाप्त हो चुके थे। अभी वह शक्ति-वाण, जिसके प्रयोग से वह भारत की सिर उठाती हुई जागृति को कुचलना चाहता था, उसके तूणीर में ही पड़ा था। उसे छोड़ने की स्वीकृति लेने के लिए लार्ड एम्पथिल को स्थानापन्न वायसराय बनाकर वह विलायत चला गया।

कार्य-काल के आरम्भ से ही लोकमान्य ने लार्ड कर्ज़न के तानाशाही रंग-ढंग को पहचान लिया था। यह बात उनकी 'केसरी' में दी हुई विविध सम्पादकीय टिप्पणियों से प्रकट होती है। जब लार्ड कर्ज़न ने अपने सन् १९०१ के बजट-सम्बन्धी भाषण में बारह ऐसी समस्याएं गिनाईं, जिन्हें वह हल करना चाहता था, तो तिलक ने लिखा था—

"जिन बारह मुद्दों की चर्चा वायसराय ने की है, उनका उद्देश्य ब्रिटेन की साम्राज्य-कामना को पूरा करना है। उनसे भारत पर पड़े हुए आर्थिक बोझ में भारी वृद्धि होगी और लाभ कुछ भी नहीं होगा।"

'केसरी' का यह लेख कितना सत्य था, यह बात इससे सिद्ध होती है कि जब १८९९-१९०० में भारत के कई भागों में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था, तब लार्ड कर्ज़न ने दिल्ली में शाही दरबार करके मुग़ल बादशाहों की शान को मात देने का यत्न किया।

लार्ड कर्ज़न ने कलकत्ता यूनिवर्सिटी के अपने भाषण में यह कह डाला था कि पूर्व के लोग सत्य का आदर नहीं करते। तब 'झूठा कौन ?' शीर्षक से एक जोरदार लेख में लोकमान्य ने यह दिखलाया था कि लार्ड कर्जन और उनके सदेशीय लोगों ने झूठ और फरेब में सब समयों और सब देशों को मात दे दी है।

कर्ज़न की नीति की आलोचना करते हुए तिलक ने लिखा था—

"लार्ड कर्ज़न के शासन-काल में यह तानाशाही वृत्ति चरम सीमा तक पहुंच गई है। यह बात सही है कि यह वायसराय बहुत होशियार है, परन्तु उनकी सारी होशियारी भारत की जनता की मांगों का दलन करने के काम आ रही है। प्रतीत होता है कि विलायत की टोरी सरकार ने उन्हें मनमानी करने की पूरी छूट दे दी है।"

कर्ज़न ने एक यूनिवर्सिटी-कमीशन का निर्माण किया था। उसका उद्देश्य देश की यूनिवर्सिटियों का सुधार करना बतलाया गया था, परन्तु उसके जिम्मे जो काम डाला गया था, उसपर गहरी दृष्टि डालने से प्रतीत होता था कि उसका असली लक्ष्य भारतवासियों के लिए ऊंची शिक्षा को दुर्लभ बनाना था। उसपर टिप्पणी करते हुए तिलक ने 'केसरी' में लिखा था—

"यूनीवर्सिटी कमीशन आदि जो भी काम कर्ज़न ने अपने हाथ में लिये, उनसे जनता का हित होने की बजाय उसके उत्कर्ष की आशा वरसों के लिए दूर चली गई है। यह सब झंझट 'सरकार के लिए' हुआ है। लोगों के हित की चर्चा उसमें कब होगी, यह पता नहीं। कम-से-कम कर्ज़न के समय में तो उसके होने की कोई आशा नहीं।"

लोकमान्य ने कर्ज़न के भाव और चरित्र को कितना ठीक-ठीक समझ लिया था, यह उनकी निम्नलिखित टिप्पणी से सिद्ध होता है—

"साम्राज्य—अखण्ड साम्राज्य—अप्रतिहत चिरस्थायी साम्राज्य, बस साम्राज्य-ही-साम्राज्य—कर्जन की नीति का मुख्य ध्येय है। उनका विश्वास है कि शौर्य, विद्या, व्यापार एवं सम्पत्ति के विषय में भारत को सदा के लिए ब्रिटेन का आश्रित होकर रहना चाहिए। भारत अपने अंग्रेजी शासकों से स्पर्धा करे, यह उन्हें सह्य नहीं है।"

पहले पांच वर्षों के शासन में लार्ड कर्ज़न ने जो कुछ किया, उससे शिक्षित भारतवासियों ने भली प्रकार समझ लिया था कि इस व्यक्ति से देश का कोई जबर्दस्त अनिष्ट होनेवाला है। पुराने ढंग के विधान-प्रेमी राजनीतिज्ञ सबकुछ देख और समझकर वायसराय के विरुद्ध कड़ा प्रतिवाद उठाना समयोचित नहीं मानते थे, परन्तु तिलक गौ को गौ और गधे को गधा कहना पसन्द करते थे, केवल शिष्टाचार या नीति के कारण गधे को गौ कहना उनकी प्रकृति के खिलाफ था। उन्होंने पांच वर्ष के कर्ज़न के कारनामों को देखकर उपर्युक्त टिप्पणी में उसके चरित्र का जो विवेचन किया था, आगे होनेवाली घटनाओं ने इस सर्वथा सत्य सिद्ध कर दिया।

: २५ :

बंग-विच्छेद की प्रतिक्रिया

लार्ड कर्ज़न ने १८९८ के अन्त में भारत के वायसराय का पद संभाला था। १९०३ में उसके कार्यकाल के पहले पांच वर्ष समाप्त हो गये। अपने अहम्भावी और हठीले स्वभाव के कारण इन पांच वर्षों में विलायत की सरकार से भी उसके कई मतभेद उत्पन्न हो गये थे। परन्तु साथ ही ब्रिटिश सरकार में उसके पोषक भी बहुत थे। कैबिनट का बहुमत उसके कार्यकाल में पांच वर्ष की वृद्धि करने के पक्ष में था। मतभेदों को दूर करने और अपनी योजनाओं पर अनुमति प्राप्त करने के लिए वह लम्बी छुट्टी लेकर विलायत गया। जब वह वहां से लौटा तो उसकी जेब में भारत की उठती हुई राष्ट्रीयता का गला घोंटने की कई योजनाएं तैयार पड़ी थीं। उनमें से जिस योजना को उसने सबसे पहले कार्यान्वित किया, वह बंग-विच्छेद की योजना थी।

बंग-विच्छेद की योजना सरकार की ओर से सन् १९०४ के जुलाई मास में प्रकाशित की गई और उसे १६ अक्तूबर को लागू किया गया। घोषणा के प्रकाशित होते ही बंगाल में उसका घोर विरोध आरम्भ हो गया था। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उन दिनों बंगाल के सर्वमान्य नेता माने जाते थे। वह अंग्रेजी के ओजस्वी वक्ता थे, निर्भय और प्रभावशाली मार्गदर्शक थे। देशभक्त बंगालियों को बंगाल को हिन्दू-मुस्लिम-प्रधान दो टुकड़ों में बांटना माता का अंग-भंग प्रतीत हुआ। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के सिंहनाद ने थोड़े ही समय में न केवल बंगाल में, देश के अन्य प्रान्तों में भी असन्तोष की अग्नि प्रज्वलित कर दी। बंगाल के असन्तोष को व्यक्त करने के साधनों पर विचार करने के लिए कलकत्ता में जो पहली परामर्श-सभा की गई, उसमें कविवर रवीन्द्रनाथ, भगिनी निवेदिता आदि प्रख्यात व्यक्तियों ने भाग लिया। उस सभा ने निश्चय किया कि १६ अक्तूबर का दिन प्रान्त में 'राष्ट्रीय शोक दिवस' के रूप में मनाया जाय। वह दिन बहुत उत्साह से मनाया गया। प्रान्त-भर में स्थान-स्थान पर हड़ताल हुई, बंगमाता की रक्षा के लिए प्रार्थनाएं की गईं और मातमी जलूस निकाले गए। इसपर भारत के सदियों की दासता से स्तब्ध वातावरण में फिर एक बार सामूहिक

उफान जाग उठा और वस्तुतः वही देश के स्वाधीनता-संग्राम का आदिपर्व था। बंग की व्यथा ने सारे देशभक्तों को व्यथित करके यह प्रमाणित कर दिया कि देश में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गई है।

कर्जन की गति-विधि को लोकमान्य ने प्रारम्भ से ही ठीक-ठीक पहचान लिया क्या। उन्होंने कर्जन पर सामन्तशाही का हाईप्रीस्ट होने का आरोप लगाया था। कर्जन ने जब एशियावासियों पर झूठे होने का आरोप लगाया, तब तिलक ने 'केसरी' में एक टिप्पणी में लिखा था—

> "यूरोप के लोगों ने सत्य के मूल्य को तब समझा, जब एशिया से उत्पन्न हुआ ईसाई मत यूरोप में फैला। ईसा, मोहम्मद, बुद्ध, कृष्ण, कन्फ्यूशियस आदि सब धर्मों के प्रवर्तक एशिया में ही उत्पन्न हुए थे।
>
> ... ...
>
> "लार्ड कर्जन ने इस बात को कई बार दुहराया है कि पूर्व की कूटनीति बहुत वक्र है। न जाने क्यों वह 'मैकाइवली की कूटिलनीति' और 'धोखेबाज एल्वियन (अंग्रेज)' जैसे प्रसिद्ध द्योतक पदों को क्यों भूल गये ?"

कर्जन ने बंग का अंग-भंग क्यों किया, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लोकमान्य ने लिखा था कि "लार्ड कर्जन बंगालियों की संघशक्ति को कुचलना चाहता है, क्योंकि उसे डर है कि कहीं वे अंग्रेजी सरकार पर हावी न हो जायं।"

इधर बंग-विच्छेद के विरुद्ध घोर आन्दोलन चल रहा था और उधर अंग्रेजी सरकार ने इंग्लैंड के युवराज को भारत में घुमाने की योजना बनाई। इस योजना का उद्देश्य सम्भवतः यह था कि भारतवासियों की राजभक्ति की भोली भावना को जगाकर बढ़ते हुए आन्दोलन को ठंडा किया जाय। उस पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य ने 'केसरी' में लिखा था—

> "समय की मांग है कि केवल शब्दों का भरोसा न करके हम क्रिया द्वारा अपने भावों को व्यक्त करें। यदि हम अब भी अपने कर्तव्य को भूलकर, अंग्रेजी वेश पहनकर प्रिंस ऑव वेल्ज के चारों ओर नाचने लगेंगे तो हमारे शासक और संसार समझेंगे कि हम और हमारे सब दावे सर्वथा निर्मूल हैं।"

'शब्दों की जगह क्रिया' यह लोकमान्य का राजनैतिक मूलमन्त्र था। यही उनके धर्मशास्त्र और तत्वज्ञान का निचोड़ था। उनके इस मूलमन्त्र को सफल होने में सबसे बड़ी दैवी सहायता बंग-विच्छेद द्वारा लार्ड कर्जन ने की।

वंग-विच्छेद के विरुद्ध आन्दोलन ने भारत की राजनीति में शब्दों का युग समाप्त करके क्रिया का युग आरम्भ कर दिया और यह सर्वसम्मत बात है कि उस क्रिया की पुण्य नदी के भगीरथ लोकमान्य तिलक बने।

वंग-विच्छेद-जनित आन्दोलन शीघ्र ही सभाओं, जलूसों और हड़तालों के आगे बढ़कर स्थूल क्रिया के रूप में परिणत होने लगा। बंगाल के विद्वान् नेता लालमोहन घोष ने रोष को प्रकट करने के लिए ये तीन उपाय प्रस्तुत किये।

१. सरकारी आनरेरी पदों का और उपाधियों का परित्याग कर दिया जाय।

२. प्रान्तीय और केन्द्रीय धारासभाओं के बंगाली सदस्य अपने पदों से त्यागपत्र दे दें।

३. पूरे एक वर्ष तक राष्ट्रीय मातम मनाया जाय।

इनके अतिरिक्त अनेक प्रभावशाली नेताओं की ओर से यह प्रस्ताव भी रक्खा गया कि अंग्रेजी माल का वहिष्कार किया जाय। वहिष्कार को निर्बलों की योगसाधना से उपमा दी।

पहले तो सरकार ने समझा कि अन्य आन्दोलनों की तरह यह भी एक उफान है, जो स्वयं ही बैठ जायगा। परन्तु जब वह आन्दोलन निरन्तर बढ़ता ही गया तो घबराकर वह हाथ-पांव पटकने लगी। इधर पश्चिमी बंगाल में आन्दोलन का नेतृत्व श्री सुरेन्द्रनाथ वनर्जी कर रहे थे और उधर पूर्व बंगाल में अंग्रेजी माल के बहिष्कार की अग्नि श्री अश्विनीकुमार दत्त प्रज्वलित कर रहे थे। उस अग्नि को दवाने का काम नवनिर्मित पूर्व बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर सर बैम्फ्लाईड फुलर ने गोरखा सिपाहियों के हाथों में दे दिया। बारीसाल में एक विराट् सभा हुई, जिसमें युवक छात्रों की संख्या बहुत अधिक थी। सरकारी नियन्त्रण में बंधे हुए गोरखों ने उपस्थित लोगों पर निर्दयता से लाठी-प्रहार किया। जैसाकि ऐसी दशा में हुआ करता है, भड़की हुई आग पर लाठी मारने से आग और भी अधिक भड़क उठती है। जनता का असंतोष न केवल अधिक विस्तृत हो गया, वह गहराई में चला गया। बंगाल में आतंकवाद का जन्म सरकार द्वारा किये गए अत्याचारों की प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था।

छात्रों को आन्दोलन से दूर रखने के लिए पश्चिमी और पूर्वी दोनों ही बंगालों में सरकार की ओर से एक घोषणा-पत्र जारी किया गया, जिसका आशय यह था कि जो विद्यार्थी राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेंगे, उनपर जुर्माने होंगे, और उनकी छात्रवृत्तियां बन्द कर दी जायंगी। यह भी आदेश दिया गया कि जिन शिक्षणालयों के छात्र राजनैतिक आन्दोलन में भाग

लेंगे, उन्हें सहायता देना बन्द कर दिया जायगा। सरकार समझती थी कि ऐसी आज्ञा प्रचारित करने से आन्दोलन रुक जायगा, परन्तु हुआ उल्टा ही। छात्र सरकारी आज्ञा तोड़कर दण्ड का स्वागत करने लगे, और जब स्वतन्त्र शिक्षण-संस्थाओं को सरकारी सहायता मिलनी बन्द होने लगी तो बंगाल के अनेक प्रमुख नेताओं और समृद्ध महानुभावों ने मिलकर 'नैशनल कौंसिल ऑव एजुकेशन' के नाम की एक संस्था संगठित की और उसकी ओर से एक नैशनल कॉलेज की स्थापना की गई। उन दिनों श्री अरविन्द घोष बड़ौदा रियासत में एक ऊंचे पद पर काम कर रहे थे। उसे छोड़कर उन्होंने निर्वाह मात्र पर नैशनल कॉलेज के प्रिंसिपल बनना स्वीकार कर लिया। श्री अरविन्द के इस शोभन दृष्टांत से बंगाल के सार्वजनिक जीवन को बहुत भारी प्रेरणा मिली।

राजनैतिक जागृति के इन उग्र चिह्नों के सम्बन्ध में उस समय देश में तीन प्रकार के मत थे। पुराने देश-नेता, जिनकी कांग्रेस में प्रमुखता थी, इन्हें परिहेय समझते थे। इनकी सम्मति थी कि उग्र उपायों के अवलम्बन से अंग्रेजी सरकार और भारत की जनता में संघर्ष उत्पन्न हो जायगा, जो देश के लिए हानिकारक होगा। सर्वश्री दादाभाई, फीरोजशाह मेहता, गोपाल-कृष्ण गोखले आदि नेता इस कोटि में थे। दूसरी श्रेणी उन नौजवानों की थी, जिन्हें यह विश्वास हो गया था कि जबतक अंग्रेज भारत में रहेंगे तबतक देश की दुर्दशा रहेगी, और जबतक आतंककारी उपायों के प्रयोग से अंग्रेजों को बाधित न किया जायगा, तबतक वे इस देश को नहीं छोड़ेंगे। ऐसे विचारवाले नौजवान बंकिमबाबू के 'आनन्द मठ' से प्रेरणा लेकर षड्यन्त्रों और हत्याओं की योजनाएं बनाने लगे थे।

तीसरी श्रेणी के नेता और विचारक वे थे, जो कांग्रेस की तत्कालीन ठंडी नीति से असन्तुष्ट थे। उन्हें निश्चय हो गया था कि केवल प्रस्तावों और शाब्दिक प्रतिवादों से देश की दासता दूर नहीं हो सकती। आतंकवाद को वे रोग की निवृत्ति का उपाय तो नहीं मानते थे, परन्तु उसे प्रजा के उग्र असंतोष का लक्षण अवश्य समझते थे। वे उन दिनों की परिभाषा में नर्म-दल और आतंकवादी दल के मध्य में गर्म दलवाले कहलाने लगे थे। ऐसा विचार रखनेवाले देशभक्तों के नेता लोकमान्य तिलक थे।

'केसरी' के निम्नलिखित उद्धरण लोकमान्य के मत को स्पष्ट कर देंगे। कांग्रेस के नर्म विचारवाले नेताओं की विचार-धारा की आलोचना करते हुए आपने लिखा था—

"सफलता दो प्रकार से प्राप्त होती है—या तो स्वाधीनता के लिए यत्न करनेवालों को किसी उदार और प्रबल शक्ति की सहा-

थता मिल जाय अथवा जब वे अपनी सारी शक्ति को लक्ष्य के प्राप्त करने में लगा दें। इतिहास बतलाता है कि तत्काल या कुछ विलम्ब में लक्ष्य की प्राप्ति के लिए बल-प्रयोग (डण्डे का प्रयोग) आवश्यक हो जाता है। न्याय-युक्त अधिकार प्राप्त करने के लिए जाति को प्राणों तक की आहुति देवे के लिए उद्यत होना चाहिए।"

परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं था कि लोकमान्य देश-भक्तों को षड्यन्त्रकारी या आतंकवादी बनने की प्रेरणा करते थे। उन्होंने २५ सितम्बर, १९०४ के 'केसरी' में लिखा था—

"हम ऐसी मूर्खता की बात में विश्वास नहीं रखते और हमें विश्वास है कि काल का सम्पादक भी ऐसा विश्वास नहीं रखता कि लार्ड कर्जन जैसे एक व्यक्ति की हत्या से अंग्रेजी शासन के दमनकारी रूप में कोई विशेष कमी आ जायगी।...हत्या होने से वह निन्दा के योग्य है। अंग्रेजी राज्य किसी एक व्यक्ति के मनमाने शासन की विशेषताओं से युक्त नहीं है, इस कारण किसी व्यक्ति की हत्या के लिए भड़काना बहादुरी का चिह्न नहीं है।"

लोकमान्य यह मानते थे कि केवल प्रस्ताव पास करने और भीख मांगने से स्वाधीनता नहीं मिल सकती। स्वाधीनता पाने के लिए उनका मूल मन्त्र था—"केवल शब्द नहीं, अपितु क्रिया।"

परन्तु वह राजनैतिक हत्या को 'क्रिया' शब्द के अन्तर्गत नहीं मानते थे। वह आतंकवाद तथा राजनैतिक हत्या को रोग का उपाय नहीं, रोग का लक्षण मानते थे। उन लक्षणों से सिद्ध होता था कि देश की प्रजा में उग्र असन्तोष है। 'केसरी' में राजनैतिक हत्याओं अथवा वैसी अन्य प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में लोकमान्य ने जितने लेख लिखे. उनका यही अभिप्राय रहता था।

अब हम राष्ट्रीय जीवन के जिस मोड़ पर पहुंच गए हैं, उसमें लोकमान्य का प्रभाव और यश महाराष्ट्र से आगे बढ़कर सारे देश में फैल चुका था। देश के युवक उन्हें अपनी आशाओं का केन्द्र मानने लगे थे। बंगाल, मद्रास और उत्तर भारत के घरों में उनके मराठा लाल पगड़ी और अंगरखेवाले चित्र लटकते दिखाई देते थे। 'केसरी' के लेख अंग्रेजी तथा देशी भाषाओं के अनेक पत्रों में अनूदित करके प्रकाशित किये जाते थे। देश में अन्य सब भाषाओं से अधिक समझी जानेवाली हिन्दी भाषा में तो नागपुर से 'हिन्दी केसरी' नाम का साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगा था, जो हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में राजनीति की गीता के समान उत्सुकता और भक्ति

से पढ़ा जाता था। उस पत्र का सम्पादन हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठा लेखक श्री माधवराव सप्रे करते थे। उस पत्र ने विशेषतः उत्तर भारत के नवयुवक-मण्डल में ओजस्विनी देशभक्ति को जाग्रत करने का अद्‌भुत कार्य किया था।

: २६ :

बनारस और कलकत्ता

बंग-विच्छेद के पश्चात्, विदेशी शासन से मोक्ष की ओर राष्ट्र की यात्रा बढ़ते हुए वेग से होने लगी थी और कांग्रेस के अधिवेशन उस यात्रा में पड़ाव के समान हो गये थे। कांग्रेस का प्रत्येक अधिवेशन नया सन्देश लेकर आता था और नई स्फूर्ति उत्पन्न करता था। १९०५ में कांग्रेस का अधिवेशन बनारस में होनेवाला था। उसके अध्यक्ष-पद के लिए माननीय श्री गोपालकृष्ण गोखले चुने गए। गोखले ने उस वर्ष इंग्लैंड में भारत के पक्ष में प्रचार करके अंग्रेजी सरकार के गढ़ में तहलका-सा मचा दिया था। भारत के शिक्षित समाज में उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। कांग्रेस के अध्यक्ष-पद के लिए उनका चुनाव सिद्ध करता था कि भारत का राष्ट्रवादी समाज उन्हें देश की महत्वाकांक्षाओं और भावनाओं का प्रतीक मानता था।

लोकमान्य बनारस के कांग्रेस-अधिवेशन में सपरिवार गये थे। बनारस धार्मिक दृष्टि से महान् तीर्थ-स्थान होने के साथ-साथ उन दिनों राष्ट्रीयता का भी तीर्थ-स्थान बन गया था। देश के सभी प्रान्तों से प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। सर फीरोजशाह मेहता को छोड़कर सभी प्रमुख नेता उपस्थित थे। अध्यक्ष महोदय का स्टेशन पर धूमधाम से स्वागत हुआ। लोकमान्य तिलक भी स्टेशन पर पहुंचे थे। वहां एक बहुत रोचक घटना हुई, जिससे लोकमान्य की विस्तृत ख्याति का पता चलता था। भगिनी निवेदिता उन पाश्चात्य महिलाओं में से थीं, जिन्होंने सेवा-कार्य के लिए भारत को ही अपना केन्द्र बना लिया था। वह भी स्टेशन पर थीं। जब उन्होंने सुना कि तिलक भी स्टेशन पर विद्यमान हैं तो उन्होंने कहा, "मैंने मि० तिलक का नाम बहुत सुना है, मैं उन्हें देखना चाहती हूं।" इसपर लोग लोकमान्य को उनके पास ले गये। समीप जाकर भगिनी निवेदिता ने लोकमान्य से सादर हाथ मिलाते हुए कहा—

"मि० तिलक, हम अबतक अमरीका में आपको आपकी वेद-सम्बन्धी 'ओरियन' तथा 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' नाम की जगत्प्रसिद्ध पुस्तकों द्वारा जानते थे, परन्तु आज मुझे व्यक्तिगत रूप से आपसे भेंट करके बहुत हर्ष हुआ है। आज का दिन अवश्यमेव

स्मरणीय और मेरे लिए एक हर्षपूर्ण दिन है, जिसे मैं जीवन में कभी नहीं भूलूंगी।"

कांग्रेस का बनारस-अधिवेशन अपने ढंग का अनूठा था। उसमें भारतीय राष्ट्र के उत्थानकाल के दो उदीयमान नक्षत्र एक-दूसरे के समीप आते दिखाई दिये थे। वे नक्षत्र तिलक और गोखले थे। दोनों का उद्भव दक्षिण में हुआ था। दोनों के हृदय में देशभक्ति की तीव्र अग्नि प्रज्वलित थी। यह भाग्यों का फेर था कि दोनों का एक लक्ष्य होते हुए भी मनोवृत्तियों के भेद के कारण कार्य-नीति प्रायः अलग रही और बहुत बार तो दोनों के मार्ग एक-दूसरे काटते रहे। बनारस के अधिवेशन का समय अपवाद रूप था, उससे कुछ महीने पहले से लोकमान्य 'केसरी' के स्तम्भों में गोखले की प्रशंसा करते रहे थे। इन्होंने इंग्लैण्ड में बंग-विच्छेद के विरुद्ध और बहिष्कार के समर्थन में जो भाषण दिये, उनसे तिलक बहुत प्रसन्न हुए थे। इधर बनारस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने जो विचार प्रकट किये थे, वे तिलक की नीति से बहुत मेल खाते थे। लोग यह कहने लगे थे कि अब तिलक और गोखले में मेल हो जायगा।

गोखले का बनारसवाला भाषण भाषा, भाव और आवेश की दृष्टि से अपूर्व था। उसमें उन्होंने कर्ज़न की मुगल बादशाहों से तुलना करते हुए बंग-विच्छेद की बहुत ही मार्मिक शब्दों में आलोचना की थी और उसके कारण विशेषतः बंगाल और सारे देश में जो भीषण आन्दोलन उत्पन्न हुआ, उसे कर्ज़न की उग्र नीति का परिणाम बतलाया था।

वह भाषण नर्म और गर्म दल के बीच खुदी हुई खाई को पाटने का साधन बन जाता, यदि विषय-निर्धारिणी-समिति में दो प्रस्तावों पर तनातनी न हो जाती। एक प्रस्ताव था इंग्लैंड के युवराज (प्रिंस ऑव वेल्स) के स्वागत के सम्बन्ध में और दूसरा था, अंग्रेजी माल के बहिष्कार के सम्बन्ध में। युवराज के स्वागत का प्रस्ताव श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने पेश किया था और मालवीयजी ने उसका अनुमोदन किया था। बंगाल के नौजवान दल की ओर से अंग्रेजी माल के बहिष्कार का समर्थक प्रस्ताव उपस्थित किया गया था। युवराज-सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध गर्म दल के सदस्य और बहिष्कार-विषयक प्रस्ताव का विरोध नर्म दल के सदस्य कर रहे थे। लोकमान्य ने अपनी सम्मति का बोझ पहले प्रस्ताव के विरोध और दूसरे प्रस्ताव के पक्ष में डाला। युवराज के स्वागत-सम्बन्धी प्रस्ताव के पक्ष में यह युक्ति दी जाती थी कि क्योंकि कांग्रेस अपने पहले अधिवेशन में युवराज के भारत-आगमन का स्वागत कर चुकी है और उन्हें कांग्रेस में आने का निमन्त्रण भी दिया जा चुका है (यद्यपि वह निमन्त्रण स्वीकृत नहीं

हुआ था) अतः अब स्वागत-सम्बन्धी प्रस्ताव अवश्य स्वीकार होना चाहिए। लोकमान्य ने प्रस्ताव का प्रत्यक्ष शब्दों में विरोध किया, परन्तु निजी तौर पर यह प्रकट कर दिया कि यदि गर्मदल के लोग ब्रिटिश माल के बहिष्कार-सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध जारी रक्खेंगे तो युवराज के स्वागत-सम्बन्धी प्रस्ताव का खुली कांग्रेस में विरोध करेंगे।

वह बल-परीक्षा का समय था। कांग्रेस पर प्रत्यक्ष में नर्म दल का प्रभुत्व था। गर्म दल की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ रही थी। बनारस में बंगाल के श्री अरविन्द घोष तथा श्री विपिनचन्द्र पाल, पंजाब के लाला लाजपतराय और दक्षिण के लोकमान्य तिलक और उनके साथी गर्मदल के नेता माने जाते थे। लोकमान्य ने अपनी शक्ति को दुगुना करने के लिए बंगाल से 'अमृतबाजार पत्रिका' के कर्णधार श्री मोतीलाल घोष को भी बुला लिया, ताकि कांग्रेस के प्रस्तावों को नया रूप देने के लिए पूरी शक्ति लगाई जा सके।

ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी में दोनों पक्षों का देर तक संघर्ष चला। गोखले महोदय ने लाला लाजपतराय को बीच में डालकर लोकमान्य तिलक को युवराज के स्वागत-प्रस्ताव के पक्ष में लाने का यत्न किया, परन्तु लोकमान्य टस-से-मस न हुए। उनका कथन था कि जबतक अंग्रेजी माल के बहिष्कार का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया जायगा तबतक युवराज के स्वागत के प्रस्ताव की खुले अधिवेशन में निर्विरोध स्वीकृति नहीं हो सकेगी। अन्त में नर्म दल के नेताओं ने झुकना ही समयोचित समझा। युवराज के स्वागत को वे लोग इतना आवश्यक समझते थे कि अपनी राय में उसके लिए थोड़ी-सी कुर्बानी करना आवश्यक समझा।

इतना करने पर बंगाल के जोशीले नौजवान सन्तुष्ट नहीं हुए। वे युवराज-सम्बन्धी प्रस्ताव के विरोध का प्रदर्शन अवश्य करना चाहते थे। लोकमान्य और लाला लाजपतराय ने उस प्रदर्शन को रोकने के लिए एक युक्ति का प्रयोग किया। जिस समय खुले पण्डाल में अध्यक्ष महोदय की ओर से वह प्रस्ताव उपस्थित होनेवाला था, उस समय लाला लाजपतराय ने बंगाल के नौजवानों को वाद-विवाद में लगाये रक्खा। प्रस्ताव अध्यक्ष द्वारा उपस्थित होकर तत्काल स्वीकृत हो गया। जब विरोध-प्रदर्शन करने की इच्छा रखनेवाले प्रतिनिधि पण्डाल में पहुंचे तो प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था। इस प्रकार बनारस के विचार-संघर्ष से लोकमान्य तिलक और उनके नेतृत्व में अग्रगामी दल के प्रभाव में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई।

अगले वर्ष कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। उसमें संघर्ष की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ गई। अध्यक्ष के चुनाव पर ऐसी तनातनी

हुई कि उससे वचने के लिए ८१ वर्ष के देशभक्त दादाभाई नौरोजी को इंग्लेंड से बुलाना पड़ा। दादाभाई को सभी देशभक्त आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्हें देशवासियों ने 'ग्राण्ड ओल्ड मैन'—महान वृद्ध पुरुष की उपाधि प्रदान की थी। लोकमान्य ने 'केसरी' में उनके नाम के समर्थन में एक जोरदार नोट लिखा था। आपने लिखा था—

> "दादाभाई के बारे में एक बात खास तौर से याद रखनी चाहिए। वह फुर्सत के वक्त काम करनेवाले नेता नहीं हैं। सब लोगों का सहयोग प्राप्त करके तथा सभीके सहयोग को ध्यान में रखकर देशकार्य करना ही उनका जीवन-व्रत है। देश में पैदा हुई वर्तमान जागृति पर वह कभी ठंडा पानी नहीं डालेंगे। राष्ट्रीय आन्दोलन को दादाभाई के आगमन से पुष्टि ही मिलेगी।"

दादाभाई के अध्यक्ष चुने जाने से चुनाव-सम्बन्धी विवाद तो शान्त हो गया, परन्तु देश में वर्षभर में जो नई घटनाएं घटित हुई थीं, उनकी प्रतिक्रिया हुए विना न रही। उसने राष्ट्र-सेवियों के दोनों दलों को फिर एक दूसरे से दूर कर दिया।

घटनाचक्र इस प्रकार चला। इंग्लैण्ड में पार्लमिण्ट का नया चुनाव हुआ, जिसमें लिवरल दल को वहुमत प्राप्त हो गया। नये मन्त्रिमण्डल में भारत-मन्त्री का पद मि० मोर्ले को दिया गया। मि० मोर्ले भारत में उदार विचार-वाले लेखक के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्हें उनके उदार और वेलाग लेखों के कारण 'आनस्ट मोर्ले' (इमानदार मोर्ले) के नाम से निर्दिष्ट किया जाता था। भारत के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। जव उन्हें भारत-मन्त्री की गद्दी पर विठाया गया तो भारत के नर्म विचारोंवाले राजनीतिज्ञों के दिल वांसों उछलने लगे। उनकी श्रद्धा इतनी वढ़ी हुई थी कि जव पार्लमिण्ट में एक प्रश्न के उत्तर में मोर्ले ने निम्नलिखित घोषणा की तव भी वह श्रद्धा धुंधली न हुई।

> "बंगाल का पुनर्विभाजन (वंग-विच्छेद) अव एक अमिट सचाई हो चुकी है। इस समय पुनर्विभाजन के विरुद्ध घोर असन्तोष उभर रहा है। उसे देखते हुए कह सकते हैं कि उन प्रदेशों में दूसरी बार पुनर्विभाजन किया जाय।"

इसकी जगह कि भारत के माडरेट इंग्लैण्ड के माडरेटों से निराश होते, वे वंगच्छेद के विरुद्ध आन्दोलन से उपराम होने लगे। उनकी मनोवृत्ति यह बन गई कि ऐसा कोई काम न करना चाहिए, जिससे इंग्लैण्ड के माडरेट अप्रसन्न हों। उन्हें मि० मोर्ले से वड़ी-वड़ी आशाएं थी; परिणाम यह हुआ कि वे कांग्रेस में उन सव प्रस्तावों को लाने के विरोधी हो गये, जिनसे

इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल के बिदकने का अन्देशा था। फलतः सर्वसम्मानित श्री दादाभाई के अध्यक्ष बन जाने पर भी दोनों दलों का संघर्ष कम होने के स्थान पर अधिक बढ़ गया।

इसी वर्ष एक विशेष महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि बंगाल में भी शिवाजी-महोत्सव मनाया गया। बंगाल में इस उत्सव का विशेष महत्व यह था कि चिरकाल से बंगाल में मराठा राज्य के विरुद्ध कई प्रकार के अपवाद प्रचलित थे। मराठा सेनाएं विरोधी शक्तियों की बस्तियों पर प्रायः छापे मारती रहती थीं। बंगाल भी ऐसे ही सूबों में था, जिनपर मुग़लों की हुकूमत थी। मराठा सेनाएं छापे मारती हुई कभी-कभी बंगाल के मध्यभाग तब घुस जाती थीं। अंग्रेजी राज्यकाल में अंग्रेज लेखकों ने अपनी कल्पना-शक्ति के बल से बात का बतंगड़ बनाकर बंगालियों के हृदयों में महाराष्ट्र निवासियों के प्रति काफी मैल उत्पन्न कर दिया था। राष्ट्रीय जागृति के जल ने उस मैल को धो दिया और कलकत्ते के नागरिकों ने जून के महीने में न केवल धूमधाम से शिवाजी-उत्सव मनाया, उसके उद्घाटन के लिए महाराष्ट्र के नेता लोकमान्य तिलक को निमंत्रित किया। लोकमान्य ने कलकत्ते जाकर न केवल शिवाजी-उत्सव का उद्घाटन किया, अपने व्याख्यानों और व्यक्तित्व के प्रभाव से राष्ट्रभक्त बंगालियों का हृदय जीत लिया। बंगाल का युवक दल लोकमान्य का अनुयायी हो गया।

इस प्रकार, जहां लार्ड कर्जन के वायसराय-पद से त्यागपत्र और उस-पद पर लार्ड मिण्टो की नियुक्ति से तथा मि० मोर्ले के भारत-मन्त्री बनने से भारत का नर्मदल सरकार की ओर को झुक गया वहां गर्मदल लोकमान्य के नेतृत्व को स्वीकार करके उनसे कुछ और दूर हट गया। फलतः बनारस की कांग्रेस के समय दोनों दलों के आपस में समीप आने की जो आशा उत्पन्न हुई थी, वह अंकुरावस्था में ही नष्ट हो गई। दोनों दलों के मध्य की खाई अधिक विस्तृत हो गई।

दादाभाई का अध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण बहुत महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने नर्म भाषा में भारतीय युवकों के गर्म विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा—

> "हम (अंग्रेजों से) कोई भीख नहीं मांगते, हम न्याय चाहते हैं। अपने ब्रिटेन का नागरिक होने के अधिकारों के झगड़े में न पड़कर हम संक्षेप में वह वस्तु मांगते हैं, जो इंग्लैण्ड या उपनिवेशों के सदृश स्व-शासन या स्वराज्य शब्द के अन्तर्गत है।...हमसे जो वादे किये गए थे, उन्हें तोड़ा गया, जिसका परिणाम यह हुआ है कि पढ़े-लिखे भारतवासियों के विचार बदल गये हैं। मैं अपने अनुभव की

बात कहता हूं। मुझे इतनी निराशाएं हुई हैं कि वे किसी मनुष्य के हृदय को तोड़ने, उसे विचलित करने और विद्रोही बनाने तक के लिए पर्याप्त हैं।...हमारी आशा, हमारी शक्ति और हमारा गौरव यह सबकुछ केवल स्वराज्य-प्राप्ति पर आश्रित है।"

भाषण के अन्त में देश के वृद्ध सेनानी कहा—

"एक हो जाओ, लगन से काम करो और स्वराज्य प्राप्त करो। उसके द्वारा ही हम गरीबी, अकाल, महामारी तथा भुखमरी से लोगों की रक्षा कर सकेंगे और दुनिया की स्वतन्त्र और श्रेष्ठ जातियों में अपने उचित स्थान को प्राप्त कर सकेंगे।"

दादाभाई के ये विचार वस्तुतः देश की उठती हुई उमंगों के प्रतिनिधि थे। यदि इनपर गम्भीरता से विचार किया जाता तो उनका "एक हो जाओ" यह उपदेश सफल हो सकता था। दादाभाई के निर्भय सत्य से भरे हुए शब्दों पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य ने लिखा था—

"दादाभाई ने जब निश्चयपूर्वक, स्पष्टता से सीधी-सादी भाषा में गद्गद् होकर यह कहा कि स्वराज्य के सिवा हमारे उद्धार का दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है, तब क्षणभर के लिए तो ऐसा आभास हुआ मानो कोई देवदूत हमारी वृद्ध पीढ़ी को आखिरी सन्देश देने के लिए अवतार लेकर आया है।"

इस प्रकार अधिवेशन का मंगलाचरण अच्छा हुआ, परन्तु न अग्रगामी दल केवल अध्यक्षीय घोषणा से सन्तुष्ट हुआ और न 'वृद्ध पीढ़ी' के लोग उस सन्देश से प्रभावित हुए। जिन चार प्रस्तावों पर दोनों पक्षों में डटकर मुकाबला हुआ वे थे—१. स्वदेशी आन्दोलन २. बंग-विच्छेद ३. अंग्रेज माल का बहिष्कार और ४. राष्ट्रीय शिक्षा।

कलकत्ते में बहिष्कार का प्रस्ताव स्वीकार हुआ था। कांग्रेस के फीरोजशाह मेहता, श्रीयुत गोखले तथा अन्य नर्म विचारकों की इच्छा थी कि कलकत्ते में वह प्रस्ताव स्वीकार न किया जाय। इसपर तनातनी हुई। उसका नर्म दल के कट्टर समर्थक श्री सी० वाई० चिन्तामणि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

"उन (दादाभाई) की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन कलकत्ते में मनाया गया, वह बहुत शानदार था। परन्तु उसकी ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी की बैठक में जैसा शोर मचा, और जैसे लगभग विद्रोह के दृश्य दिखाई दिये—वे मेरे अनुभव में अपूर्व थे। पुराने नेताओं के प्रति जो अशिष्टता का व्यवहार किया गया, वह अत्यन्त क्लेशजनक था। असहिष्णुता का दौरदौरा था, और पुराने-से-पुराने

नेता भी या तो अपनी बात सुना ही नहीं सके, और यदि सुना भी सके तो अत्यन्त धैर्य और दृढ़ता के कारण। अन्त में फैसला समझौते द्वारा हुआ, और वह भी राष्ट्रीय सभा के पितामह दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता के प्रभाव से।"

नर्म विचार के पत्रों ने तो यहांतक लिखा था कि युवकदल ने अपने व्यवहार से अध्यक्ष का भी अपमान किया।

जो प्रस्ताव समझौते के रूप में स्वीकृत हुए उन्हें अग्रगामी दल ने अपनी जीत समझा, क्योंकि उसमें वहिष्कार के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था।

पुराने नेताओं को उन प्रस्तावों के स्वीकृत होने पर जो चोट पहुंची, वह फीरोजशाह मेहता और तिलक की इस बातचीत से प्रकट होती है। यह बातचीत इतिहास-लेखक बापट ने उद्धृत की है—

> सर फीरोजशाह मेहता ने मि० तिलक से कहा, "बम्बई में न आप मुझसे ऐसा सलूक करते और न कर सकते थे।"
>
> लोकमान्य ने उत्तर दिया—"यदि हमें इसी प्रकार उत्तेजित किया जाय तो हम बम्बई में भी इसका नमूना दिखा सकते हैं।"

कहते हैं कि दूसरे अवसर पर तिलक को सफलता पर वधाई देते हुए श्री मेहता ने कहा था—

> "तिलक, बम्बई में तुम ऐसी सफलता का श्रेय नहीं प्राप्त कर सकते थे।"

यह ध्यान में रखना चाहिए कि फीरोजशाह मेहता तिलक से आयु में काफी बड़े थे।

उस समय वहां गोखले भी उपस्थित थे। उन्होंने कहा—

> "मि० मेहता, आपका विचार ठीक नहीं। इस अद्भुत् व्यक्ति की शक्ति का अन्दाजा पहले नहीं लगाया जा सकता।"

इस प्रकार, सबसे बड़े दो प्रतिद्वंद्वियों ने स्वीकार कर लिया कि कलकत्ता की कांग्रेस में तिलक और उनके दल को सफलता प्राप्त हुई। हम कह सकते हैं कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की यात्रा में कांग्रेस बनारस की अपेक्षा कलकत्ते में एकदम आगे बढ़ गई, और यह भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि राष्ट्र की उस प्रगति का नेतृत्व लोकमान्य ने किया।

: २७ :

लोकमान्य की राजनीति

लोकमान्य तिलक का सम्पूर्ण सार्वजनिक जीवन दुहरी लड़ाई करने में व्यतीत हुआ। जहां एक ओर वह नौकरशाही से लड़ते रहे, वहां दूसरी ओर अपने देशवासियों के एक प्रबल और प्रतिष्ठित दल से उनका संघर्ष भी निरन्तर जारी रहा। वह 'युद्धस्व विगत ज्वरः' के जाज्वल्यमान दृष्टान्त थे। इस प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी तो उनका युद्ध चौमुखा हो जाता था।

उनके जीवन-काल में विरोधी लोग उनपर यह दोष लगाते थे कि वह स्वभाव से झगड़ालू हैं, इस कारण किसीसे मिलकर कार्य नहीं कर सकते। जिससे एक समय मिलकर काम करते थे, दूसरे समय उसकी कड़ी आलोचना में तत्पर हो जाते थे। 'केसरी' के पैने दांत विरोधी के लिए तैयार रहते थे।

लोकमान्य तिलक के तत्कालीन आलोचक उनपर दूसरा आरोप यह करते थे कि वह अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अच्छे-बुरे सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करते थे। कलकत्ते में ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के समय जो हंगामा हुआ, उसे आलोचक लोग लोकमान्य की ही कृति समझते थे। माडरेट दल के अन्यतम नेता मि० सी० वाई० चिन्तामणि ने अपनी 'इण्डियन पॉलिटिक्स सिन्स दि म्यूटिनी' नाम की पुस्तक में लोकमान्य की सूर्य के समान चमकती हुई देशभक्ति को मानते हुए निम्नलिखित सम्मति दी थी—

> "मि० तिलक जन्मजात योद्धा और असली मराठा थे। स्वाधीनता का उत्कट प्रेम उनके जीवन का स्थायी भाव था। उनका यह विचार था कि सरकार का काम चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, भारतवासियों को उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उससे (स्वाधीनता के) आन्दोलन की नोक खुण्डी हो जायगी। इसी कारण, वह सार्वजनिक रूप में जो सम्मति प्रकट करते थे, वह अपनी निजी हैसियत से प्रकट की गई असली सम्मति से पृथक् होती थी।"

इस प्रकार की प्रतिकूल आलोचनाओं का विस्तृत या अलग-अलग उत्तर देने की अपेक्षा यह अधिक उपयोगी होगा कि हम लोकमान्य के जीवन की मुख्य प्रेरणा को समझने के साथ-साथ यह भी जान लें कि उनके राजनैतिक विचारों की विशेषता क्या थी ? माडरेट नेताओं से उनके मतभेद की तह में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद भी थे, या मतभेद केवल वयक्तिक थे ? उन सब प्रश्नों के उत्तर लेने के अतिरिक्त हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि लोकमान्य का व्यक्तित्व स्वभाव से ही तेजस्वी था। उनके चिन्तन, भाषणों और लेखों पर तेजस्वी स्वभाव की छाप रहती थी। उस समय के राजनैतिक नेताओं में केवल तिलक ही विचारों के प्रकट करने में उग्र हों, यह बात नहीं है। माडरेट पार्टी के सर फीरोजशाह मेहता की भाषा भी कुछ कम उग्र या नुकीली नहीं होती थी। भेद केवल इतना ही था कि वह उग्र नर्म थे, और लोकमान्य उग्र गर्म।

पहले इस प्रश्न पर विचार कीजिये कि लोकमान्य के जीवन की मुख्य प्रेरणा क्या थी ? यह सर्वसम्मत बात है कि उनके जीवन की मुख्य प्रेरणा और उनकी सब सार्वजनिक क्रियाओं का चरम लक्ष्य देश की पूर्ण स्वाधीनता थी। देश की पूर्ण स्वाधीनता का ही दूसरा नाम स्वराज्य है। वह स्वराज्य से किसी कम वस्तु को अपना अन्तिम लक्ष्य मानने को उद्यत नहीं थे। उनके कट्टर आलोचक सी० वाई० चिन्तामणि को भी मानना पड़ा है कि स्वाधीनता का उत्कट प्रेम उनके जीवन का स्थायी भाव था।

लोकमान्य ने अपने समान विचार रखनेवाले देशभक्तों के लक्ष्य का वर्णन करते हुए कहा था—

"हम, जो कि नये विचार के लोग हैं, अपना झण्डा स्वराज्य से एक इंच भी नीचे नहीं गाड़ेंगे।"

अपने एक लेख में उन्होंने लिखा था—

"स्वराज के बिना हमारी जिन्दगी और हमारा धर्म व्यर्थ है।"

लोकमान्य के ये अमर वाक्य उनके हृदय के सच्चे उद्गार थे—

"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हम उसे लेकर रहेंगे।"

यदि किसीको 'स्वराज्य' शब्द के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में सन्देह था तो वह स्वाधीनता-संग्राम के भीष्म पितामह दादाभाई नौरोजी के कलकत्ता-कांग्रेस में दिये भाषण से निवृत्त हो जाना चाहिए था। लोकमान्य का मत था कि देश की पूर्ण स्वाधीनता से नीचे की कोई वस्तु स्वराज्य नहीं समझी जा सकती।

दूसरी ओर कांग्रेस के पुराने नेता पूर्ण स्वाधीनता के आदर्श से कोसों

दूर थे। माडरेट दल के सबसे अधिक तेजस्वी नेता श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था—

"चाहे अच्छे के लिए या बुरे के लिए हो, अब हमारे भाग्य इंग्लैण्ड के साथ बंध गये हैं और कांग्रेस मानती है कि हम जितने भी राजनैतिक अधिकार मांगते हैं, वे (ब्रिटिश) साम्राज्य के अन्तर्गत ही होने चाहिए। वह उन्नति क्रमशः होगी और हमें आगे प्राप्ति करने से पूर्व हरेक पड़ाव पर कुछ समय तक शागिर्द-पेशा बनकर रहना पड़ेगा, क्योंकि यह स्थापना ठीक ही है कि पूर्व के लोगों को पश्चिम की राजनैतिक संस्थाओं का प्रयोग करने से पूर्व उत्तरदायित्व की भावना पैदा करनी होगी।"

गोखले के इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह कि वह निकट भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे और दूसरी यह कि उस अपने परिमित लक्ष्य तक पहुंचने के लिए भी वह धीरे-धीरे और ठहर-ठहरकर आगे बढ़ना पसन्द करते थे। तिलक और गोखले का मतभेद चरम लक्ष्य तक परिमित नहीं था, दोनों की कार्यनीति भी भिन्न थी।

कांग्रेस के पुराने नेता सरकार से प्रार्थना करके, मिलकर, और शिष्टमण्डल विलायत में भेजकर साम्राज्य के अन्तर्गत कुछ राजनैतिक अधिकार लेने के पक्ष में थे, और लोकमान्य तिलक स्वराज्य को प्रजा-मत पैदा करके, आवश्यकता पड़े तो सरकार पर दबाव डालकर और लड़कर भी स्वराज्य का अधिकार प्राप्त करने के पक्ष में थे। दोनों के अन्तिम लक्ष्य भी भिन्न थे। दादाभाई नौरोजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था—

"वैधानिक आन्दोलन के बारे में मैं बिल्कुल निराश हुआ हूं। अगर मेरी जगह कोई और होता तो वह बलवा शुरू कर देता। हम किसीसे मेहरबानी नहीं चाहते, हमें न्याय चाहिए। हमें जो कुछ चाहिए वह एक शब्द 'स्वराज्य' शब्द में आ जाता है।"

तिलक दादाभाई की निराश हुई आत्मा थी। वह स्वराज्य चाहती थी और उसकी प्राप्ति के लिए भीख मांगने से मर-मिटना पसन्द करती थी।

लोकमान्य ने ११ दिसम्बर, १९०६ के 'केसरी' में लिखा था, "हमें अपने अधिकारों के लिए संग्राम करना पड़ेगा।" वह कांग्रेस को राजनैतिक अधिकारों की भीख मांगने का साधन न बनाकर उसे स्वराज्य की लड़ाई की सैन्य बनाना चाहते थे।

अब लक्ष्य और कार्यनीति के सम्बन्ध में इतना मतभेद था तो उसके

साधनों के बारे में मतभेद होना भी आवश्यक था। कांग्रेस के पुराने नेता मुख्य रूप से दो उपायों का प्रयोग करते थे। वे अपने देश में सभाओं में प्रस्ताव करते थे और इंग्लैंड में समय-समय पर प्रसिद्ध भारतीय नेताओं के व्याख्यानों द्वारा अपने पक्ष का प्रचार करते थे। जैसा उन लोगों का विश्वास था, उसके अनुसार इन साधनों का प्रयोग उचित ही था। उनका विश्वास था कि भारत पर इंग्लैंड का शासन दैवेच्छा का फल है। वे ऐसा भी मानते थे कि जानबुल (अंग्रेज जाति) के दिल में खोट नहीं, वह स्वाधीनता से प्रेम करती है। जरूरत केवल इतनी है कि सच्ची बात उनके कानों तक पहुंचा दी जाय। इस काम के लिए उन्हें कांग्रेस के प्रस्ताव और विलायत में भारतीय शिष्टमण्डल के भाषण पर्याप्त प्रतीत होते थे।

परन्तु लोकमान्य और उनके अनुयायियों को पुराने नेताओं का विचार केवल सुख-स्वप्न प्रतीत होता था। उनका मत था कांग्रेस के प्रस्तावों का तबतक कोई सम्मान न होगा जबतक उनकी छाती में जनता का बल न होगा। साधारण जनता की उपेक्षा करके कोई आन्दोलन नहीं चल सकता। उनकी सम्मति थी कि सदियों से पराधीनता की नींद में सोई हुई जनता को जगाकर राजनैतिक अधिकारों के रणक्षेत्र में खड़ा किये बिना राजनीति के क्षेत्र में हमारे आन्दोलन का एक कौड़ी दाम भी नहीं उठेगा। लोकमान्य के गणपति-उत्सव, शिवाजी-महोत्सव, बहिष्कार-आन्दोलन और सबसे बढ़-कर साप्ताहिक 'केसरी' आदि सब आयोजनों का उद्देश्य नींद में पड़ी हुई जनता में जागृति की बेचैनी पैदा करना था।

पुराने कांग्रेसी नेताओं से लोकमान्य के दृष्टिकोण में एक बहुत मौलिक भेद था। पुराने कांग्रेसी नेताओं की दृष्टि पश्चिम की ओर थी और लोक-मान्य की दृष्टि पूर्व की ओर। पुराने नेताओं के विचार-भवन की बुनियाद ग्लाडस्टन और मोर्ले, ब्राइट और शैरिडन के भाषण से चुनी गई थी, परन्तु लोकमान्य के मन्तव्यों का मूलाधार भारत की प्राचीन संस्कृति और मान्यताओं पर आश्रित था। लोकमान्य ने लिखा था—

> "हमारी धर्म और ज्ञान की परम्पराएं अत्यन्त प्राचीन हैं। धर्म और ज्ञान के सम्बन्ध में हमारी परम्पराएं अन्य किसी भी देश से घटिया नहीं, अपितु उत्कृष्ट ही होंगी। यदि हम उन परम्पराओं को छोड़ दें तो हमारी जाति को परस्पर जोडने का कोई साधन न रहेगा। प्राचीन मान्यताओं को तोड़ने का परिणाम यह होगा कि जाति का शीराज़ा बिखर जायगा। हमें सदा यह बातें याद रखनी चाहिए।"

१९०५ में 'केसरी' के एक सम्पादकीय लेख में उन्होंने लिखा था—

> "चाहे कितनी ही बहादुरी और दृढ़ इच्छा-शक्ति से काम लें—

तबतक हमें सफलता नहीं मिल सकती, जबतक हमें यह विश्वास न हो कि हम जो कार्य कर रहे हैं, वह अच्छा काम है और भगवान् उसमें हमारी सहायता कर रहे हैं और धार्मिक भावना महात्माओं के आशीर्वाद हमारे साथ हैं।"

लोकमान्य की देश-भक्ति मांगी हुई नहीं थी। वह विलायत के गुरुओं की देन नहीं थी, अपितु अपने देश के धर्म, संस्कृति, साहित्य और इतिहास से अनुप्राणित थी।

माडरेट दल के अधिकतर नेता अपनी मांग का आधार रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को मानते थे। लोकमान्य के न्याय की मांग 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', इस घोषणा पर अवलम्बित थी। पुराने नेता मनसा, वाचा, कर्मणा, ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते थे, जिससे ब्रिटिश सरकार अप्रसन्न हो। लोकमान्य जानते थे कि स्वराज्य की मांग ही ब्रिटिश सरकार को अप्रसन्न करनेवाली है, हम उसको प्राप्त करने के लिए जो उपाय करेंगे, उनसे अंग्रेजों का अप्रसन्न होना अवश्यम्भावी है।

उनपर यह आरोप भी कि वह लक्ष्य-सिद्धि के लिए अच्छे-बुरे सभी उपायों का अवलम्बन करते थे, वस्तुतः सर्वथा निर्मूल था। वह किसी गुप्त शस्त्र का वार नहीं करते थे और न भाषा में छल का प्रयोग करते थे। उनकी स्पष्टवादिता पराकाष्ठा तक पहुंची हुई थी। देशभक्तों की दृष्टि में यही उनका गुण था और विरोधियों की दृष्टि में वही उनका दोष था। कार्यनीति के सम्बन्ध में वह भगवद्गीता के इस उपदेश को मानते थे—

ये यथा मांप्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो मनुष्य मुझसे जैसा व्यवहार करते हैं, मैं उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता हूं। उनकी नीति थी 'साधु को गले लगाओ और चोर को हथकड़ी पहनाओ'। विरोधियों की दुष्ट भावनाओं को जबर्दस्ती अच्छा मानते जाना और केवल दिखावे के लिए मीठी बात बनाना लोकमान्य के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कांग्रेस के पुराने कांग्रेसी नेताओं का और लोकमान्य का मतभेद बहुत मौलिक था। लक्ष्य, स्वभाव, सोचने की पद्धति और कार्य-पद्धति इन सभी चीजों में उनका मार्ग भिन्न था। तब यह स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस के अन्तर्गत दोनों दलों का परस्पर संघर्ष बढ़ता जाता। गोखले और तिलक, फीरोजशाह मेहता और अरविन्द घोष एक मंच पर बहुत देर तक इकट्ठे काम नहीं कर सकते थे।

: २८ :

नये और पुराने की टक्कर

कलकत्ता-कांग्रेस के बाद दोनों पक्ष अपने-अपने विचारों के अनुसार कार्य में जुट गये। अग्रगामी दल को आन्दोलन के लिए स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के विशाल क्षेत्र प्राप्त हो गये, और 'स्वराज्य' का एक जादूभरा शब्द मिल गया, जो उनकी भावनाओं को पूरी तरह प्रकट करता था। लोकमान्य तिलक, अरविन्द घोष और उनके समान विचार रखने वाले अन्य नेता व्याख्यानों, लेखों और संगठनों द्वारा कांग्रेस द्वारा स्वीकृत चौमुखे प्रस्तावों के प्रचार में लग गये।

कांग्रेस के नये प्रस्तावों से इंग्लैंड में जो बेचैनी फैल गई, उसका अनुमान लन्दन के वज्रधारी (लन्दन टाइम्स) की इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है। उसने कांग्रेसियों को धमकी देते हुए लिखा था—

> "हमने हिन्दुस्तान को तलवार से जीता है, और वस्तुतः हम उसपर तलवार से अधिकार जमाये हुए हैं। जो ये मुट्ठीभर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग कांग्रेस में प्रतिनिधि बनकर बैठते हैं, उन्हें याद रखना चाहिए कि उन्हें उनके शत्रु हिन्दुस्तानियों से बचानेवाली ब्रिटिश तलवार ही है।

ये शब्द सूचित करते हैं कि कलकत्ता-कांग्रेस के प्रस्ताव अंग्रेजों के हृदयों पर वज्र की तरह गिरे थे।

दूसरी ओर माडरेट विचारों के नेता अपने किले की रक्षा का उपाय करने में लग गये। उन्हें अनुभव हो रहा था कि उनका अबतक कांग्रेस पर जो अटल प्रभुत्व था, वह टलनेवाला है। ब्रिटिश साम्राज्य के बराबरी के हिस्सेदार बनना उनका चरम लक्ष्य था और वैधानिकता को वे देवता की तरह पूजते थे। पूर्ण स्वाधीनता या कानून भंग पुराने नेताओं को सर्वथा कुफ्र मालूम देते थे। कांग्रेस के अधिवेशन के पश्चात् वे यह सोचने में लग गये कि इस बढ़ती हुई कुफ्र की प्रवृत्ति को कैसे रोका जाय। माडरेट दल की मनोवृत्ति का परिचय सूरत-कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष डा० रासबिहारी घोष के उस भाषण की निम्नांकित पंक्तियों से मिलता है, जो कांग्रेस-भंग के कारण पढ़ा नहीं जा सकता था। अग्रगामी दल के बारे में डा० घोष ने

कहा था—

"गर्म दल एक मुसीबत है। उसकी अमंगल छाया सारे देश पर छाई दिखाई देती है। कांग्रेस की राजनीति में उसके लिए कोई स्थान नहीं। उसके लिए एक ही मार्ग है, और वह मार्ग है कि वे कांग्रेस को छोड़कर चले जायं। सम्भव है, आप लोग इसे स्वीकार न करें, परन्तु मेरा निश्चित विचार है कि आप लोग (यदि सावधान न रहेंगे, तो राजद्रोह के गढ़े में गिर जायंगे।"

इस प्रकार १६०७ के वर्ष के प्रारम्भ में हम अग्रगामी दल चतुःसूची योजना को कार्य में परिणत करने का यत्न करते हुए और माडरेट दल को कांग्रेस की तबतक सम्मानित नीति को सुरक्षित रखने की चेष्टा में लगा हुआ देखते हैं। तिलक और अरविन्द ने न केवल कांग्रेस के बाद कलकत्ते में, उसके पश्चात् अन्य स्थानों पर भी चतुःसूची योजना के सम्बन्ध में भाषण दिये।

स्वदेशी को लोकमान्य बहुत अधिक महत्व देते थे। महात्मा गांधी ने उनके स्वदेशी-प्रेम की चर्चा करते हुए लिखा था—

"तिलक-गीता का पूर्वार्द्ध है 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है', और उसका उत्तरार्ध है स्वदेशी हमारा जन्मसिद्ध कर्तव्य है।"

स्वदेशी को लोकमान्य बहिष्कार से भी ऊंचा स्थान देते थे। बहिष्कार एक राजनैतिक शस्त्र है, परन्तु स्वदेशी का पालन देशभक्त का आवश्यक अंग है। बहिष्कार केवल उस देश तक ही परिमित हो सकता है, जिससे हमारा विरोध हो, परन्तु स्वदेशी का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह प्रत्येक विदेशी वस्तु और प्रत्येक विदेश को छूता है। लोकमान्य ने न केवल 'केसरी' और 'मराठा' द्वारा स्वदेशी का प्रबल प्रचार किया, दियासलाई, पेंसिल, साबुन आदि बनानेवाले अनेक कारखानों को प्रोत्साहन भी दिया।

बहिष्कार का जन्म बंग-विच्छेद से हुआ था। लोकमान्य और उनके सहयोगियों की सम्मति थी कि अंग्रेजी माल का बहिष्कार व्यापार-बुद्धि रखनेवाली अंग्रेज जाति के दिमाग को सीधा करने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। कलकत्ता-कांग्रेस के पीछे बाल (बालगंगाधर तिलक) लाल (लाजपत-राय) और पाल (विपिनचन्द्र पाल) की त्रिमूर्ति ने बहिष्कार के सन्देश को देश के कोने-कोने में फैला दिया।

राष्ट्रीय शिक्षा की आधार-भूत भावनाएं दो थीं। एक थी अपनी संस्कृति और सभ्यता से प्रेम और दूसरी थी अंग्रेज सरकार की दिमागी गुलामी सिखानेवाली शिक्षा का विरोध। लोकमान्य ने आगरकर और चिपलूणकर के साथ मिलकर सबसे पहला सार्वजनिक कार्य यही किया था। उन्होंने

भारतीय भावना से ओत-प्रोत स्कूल की स्थापना की थी। जब पं० मदन-मोहन मालवीय ने हिन्दू यूनिवर्सिटी की योजना प्रकाशित की तब लोकमान्य ने यह मानकर उसका जोरदार समर्थन किया था कि वह विश्वविद्यालय राष्ट्रीय शिक्षा देने का उपयुक्त साधन होगा।

इधर यह विचार-संघर्ष चल रहा था, और उधर नागपुर में होनेवाले कांग्रेस के भावी अधिवेशन के सम्बन्ध में दोनों दलों में रस्साकशी शुरू हो गई थी। माडरेट नेता कांग्रेस पर अपना कब्जा ढीला नहीं होने देना चाहते थे। जब उन्होंने देखा कि नागपुर में कांग्रेस के लिए जो स्वागतकारिणी समिति बनी, उसमें भर्ती हुए सदस्यों में बहुत अधिक संख्या अग्रगामी दल की है, तो वे घबरा गये। पहले उन्होंने सभासदी का चन्दा १००) नियत करके गर्म विचारवालों को सभासद बनने से रोकने की चेष्टा की, परन्तु उन्हें सफलता न मिली। क्योंकि सभासदी का चन्दा केवल २५) ही रक्खा गया। तब उन्होंने अपनी मुसीबत को जड़-मूल से काटने का ही निश्चय किया। बम्बई में ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का जो अधिवेशन हुआ, उसमें सर फीरोजशाह मेहता, श्रीयुत गोखले आदि ने जोर डालकर यह निश्चय करा दिया—क्योंकि नागपुर में कांग्रेस का अधिवेशन होने में कई कठिनाइयां हैं, इस कारण कांग्रेस का भावी अधिवेशन सूरत में हो।

जिन महीनों में कांग्रेस पर प्रभुत्व पाने के लिए यह खेंचातानी हो रही थी, उन्हीं महीनों में पंजाब और बंगाल में ऐसी घटनाएं घट रही थीं, जो राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर रही थीं।

पंजाब की सरकार भूमि के सम्बन्ध में बिल पास कराना चाहती थी, जिसे वहां की कृषिकार जनता पसन्द नहीं करती थी। लाहौर के राष्ट्रीय विचारों का प्रचारक समाचार-पत्र 'पंजाबी' सरकार की दमन नीति की कड़ी आलोचना करता था और अंग्रेजों द्वारा गरीब कुलियों को बूट की ठोकरों से जो मृत्यु-दण्ड दिया जाता था, उसकी निन्दा करता था। इसपर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया और दण्ड दिया गया। ऐसी घटनाओं से पंजाब में बेचैनी की बहुत उग्र लहर फैल गई, जिसके निर्देशक और नेता लाला लाजपतराय बने।

पंजाब लड़ाकू जातियों का प्रदेश है। अंग्रेजों के राज्य-काल में पंजाब को सिपाहियों की नर्सरी माना जाता था। लाला लाजपतराय के साथ सरदार अजीतसिंह नाम का एक सिख नौजवान भी कार्य करता था। उसकी आगभरी वक्तृताएं और गाने सुनकर गांव की जनता का तापमान बहुत बढ़ जाता था।

पंजाब को जागता देखकर अंग्रेजों के दिल दहल गये। लाहौर के

अंग्रेज शेरों में तो ऐसी भगदड़ पड़ी कि बहुत-से अंग्रेज-परिवार रात के समय किले में जाकर सोने लगे। प्रदेश के गवर्नरसाहब इतने घबरा गये कि भारत-मन्त्री लार्ड मोर्ले से लाला लाजपतराय और सरदार अजीत-सिंह को नजरबन्द करने की आज्ञा ले ली। १९०७ मई मास में लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को अचानक पकड़कर बर्मा की माडले-जेल में बन्द कर दिया गया।

लालाजी के निर्वासन का देश पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका परिचय गोखले के उस पत्र से मिलता है, जो उन्होंने सर विलियम वैडर्बर्न को लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा था—

"लाला लाजपतराय के निर्वासन ने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक विक्षुब्ध कर दिया है। मि० मोर्ले के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कही जाती हैं, और दूसरी ओर से कहने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं। यह बहुत ही दुखदायी है—अवर्णनीय दुखदायी है—परन्तु इस समय और कुछ हो भी नहीं सकता।"

बंगाल में अरविन्द घोष की गिरफ्तारी का लगभग वैसा ही असर हुआ, जैसा पंजाब में लाला लाजपतराय की गिरफ्तारी का हुआ था। परिणाम यह हुआ कि बंगाली युवक भड़क उठे और पुलिस से उनकी कई स्थानों पर मुठभेड़ें हो गईं। इन्हीं दिनों सरकार ने सडीशस मीटिंग्ज ऐक्ट (राजद्रोही सभा कानून) स्वीकार करके राजनैतिक आन्दोलन का गला घोटना भी आरम्भ कर दिया।

देशभर में इस प्रकार असन्तोष की आंधी चल रही थी, जिसके मध्य में मि० मोर्ले ने अपने और भारत के वायसराय के नाम से एक शासन-सुधार की योजना बनाकर यह यत्न किया कि देश के नर्म विचार के लोगों को सन्तुष्ट करके आन्दोलन को ठंडा किया जाय, परन्तु उस विक्षुब्ध वातावरण में सुधारों की वह लंगड़ी योजना नक्कारखाने में तूती की आवाज से अधिक मूल्य नहीं रखती थी।

इस प्रकार जब माडरेट नेताओं ने कांग्रेस के अधिवेशन को नागपुर से सूरत ले जाने का निर्णय किया, तब ऐसा गरम वातावरण देश का बन गया था।

: २९ :

विस्फोट

पुराने नेता यह सोचकर कांग्रेस को सूरत ले गये थे कि वहां अग्रगामी दल की चिन्ता नहीं रहेगी, परन्तु वह चिन्ता तो कांग्रेस के साथ-ही-साथ, वहां पहुंच गई। पहली झपट तो अध्यक्ष के चुनाव पर ही हो गई। माडरेट पार्टी ने अध्यक्ष-पद के लिए कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील डा० रासबिहारी घोष का नाम प्रस्तुत किया था। सरकार ने जनता के असन्तोष को हल्का करने के लिए लाला लाजपतराय को कांग्रेस के अधिवेशन से पहले ही मुक्त कर दिया था। अग्रगामी दल ने उनका नाम अध्यक्ष-पद के लिए प्रस्तुत कर दिया। लालाजी की लोकप्रियता उस समय चोटी पर थी। उनके नाम को प्रस्तुत देखकर पुराने महारथी घबरा गये। गोखले के प्रति लालाजी का गहरा आदरभाव था। उन्हें धर्म-संकट में से बचाने के लिए लालीजी ने अपना नाम वापस ले लिया। फलतः डा० रासबिहारी घोष अध्यक्ष निर्वाचित हो गये।

लोकमान्य इस प्रारम्भिक असफलता से घबराये नहीं। सूरत में अग्रगामी दल (जिसे उस समय 'नैशनलिस्ट' अर्थात् राष्ट्रवादी दल कहा जाता था) की स्थिति को मजबूत बनाने के लिए उन्होंने विशाल रूप में योजना बना दी। उनके मुख्य सेनानी दादासाहब खापर्डे अधिवेशन से दस दिन पहले ही सूरत पहुंच गये थे, और महीधरपुरा में अपना केन्द्र बना लिया था। बम्बई के सहायकों ने धीकानवाड़ी दूसरा अड्डा बना लिया। इस प्रकार अधिवेशन से पूर्व ही अग्रगामी दल ने पूरी मोर्चाबन्दी कर ली।

लोकमान्य तिलक २३ दिसम्बर को सूरत पहुंच गये। स्टेशन पर उनका शानदार स्वागत हुआ। नागरिक और स्वयंसेवक बहुत बड़ी संख्या में पहुंचे हुए थे। यह बात विशेष रूप में खटकती थी कि जहां अन्य कई नेताओं के स्वागत की व्यवस्था स्वागतकारिणी की ओर से हुई, वहां तिलक के स्वागत में उसने कोई सहयोग नहीं दिया।

मतभेद का मुख्य विषय यह था कि कलकत्ते की कांग्रेस में जो चार प्रस्ताव स्वीकार किये गए थे, उन्हें सूरत में उसी रूप में पास किया जाय या कुछ नर्म किया जाय। माडरेट दल के नेता उन प्रस्तावों को यदि

स्वीकार भी करना चाहते थे तो नर्म करके, यों वे उन्हें सर्वथा छोड़ देना ही अधिक पसन्द करते थे। अग्रगामी दल, जिसके सर्व-सम्मत नेता लोकमान्य तिलक थे, उन्हें उनके मूल रूप में ही स्वीकार करना चाहते थे।

स्वागत-कारिणी समिति में प्रधानता नर्म दल की थी। तिलक के सूरत में पहुंचने पर, स्वागतकारिणी के अधिकारियों की अनुमति से तिलक, महाराष्ट्र, और आग्रगामी दल के विरुद्ध लेखों और पत्रिकाओं द्वारा जोरदार आन्दोलन आरम्भ हो गया। लोकमान्य पर यह आरोप लगाया गया कि वह 'केसरी' में गुजरातियों की निन्दा कर चुके हैं और महाराष्ट्र-निवासियों के विरुद्ध यह कहा गया था कि शिवाजी मराठा ने जिस सूरत को लूटा था, उसपर मराठे फिर चढ़कर आ रहे हैं। अग्रगामी दल की ओर से व्याख्यानों और हैंडबिलों द्वारा उन आरोपों के उत्तर दिये गए। इस प्रकार अधिवेशन से पहले ही सूरत का वातावरण खूब गर्मागर्म हो गया। नर्मदल अन्दर की मोर्चाबन्दी में लग गया, और गर्मदलवाले सार्वजनिक सभाओं द्वारा आन्दोलन करने लगे। दिल्ली के सैयद हैदररज़ा और सरदार अजीतसिंह के गर्मागर्म व्याख्यानों ने जनता में खूब जोश भर दिया। लोकमान्य ने भी कई व्याख्यान दिये, जिनमें इस बात पर जोर दिया कि बहिष्कार और स्वराज्य के बारे में कलकत्ते में जो प्रस्ताव स्वीकार किये गए थे, उनका सूरत में स्वीकार होना अत्यावश्यक है। अग्रगामी दल उन्हें हल्का किया जाना सहन नहीं करेगा।

यह विचार-संघर्ष चल ही रहा था कि बंगाल से एक बहुत सनसनीपूर्ण समाचार पहुंचा। ढाका के मजिस्ट्रेट मि० एलन की पीठ पर किसी अज्ञात व्यक्ति ने रिवाल्वर से कई गोलियां दाग दीं। इस समाचार ने गर्म दल के नेताओं को इस चिन्ता में डाल दिया कि माडरेट लोग कहीं इस समाचार को अग्रगामी दल के विरोध का साधन न बनायें। बंगाल के प्रतिनिधियों का क्षोभ इतना बढ़ गया कि वे गर्म नेताओं को भी अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे। लोकमान्य ने इन सबको समझा-बुझाकर और यह आश्वासन देकर शान्त किया कि कलकत्ते के चारों प्रस्तावों को उनके उसी रूप में स्वीकृत कराने का पूरा यत्न किया जायगा।

अधिवेशन से एक दिन पहले लाला लाजपतराय सूरत पहुंचे तो उन्हें तनातनी का समाचार सुनकर दुःख हुआ। वह उभय मित्र थे। श्री गोखले से उनका प्रेम था, तो लोकमान्य में उनकी भक्ति थी। उन्होंने दोनों पक्षों में समझौता कराने का बीड़ा उठाया। दोनों से मिलकर यह समझौता पेश किया कि दोनों ओर के पांच-पांच प्रतिनिधि मिलकर बात-चीत करें, और प्रस्तावों के सम्बन्ध में एक सम्मति बनायें। इस प्रस्ताव का गोखले ने यद्

उत्तर दिया कि पांच व्यक्तियों को क्या अधिकार है कि वे विषयनिर्वाचिनी समिति के अधिकार को छीनें। अध्यक्ष के भाषण के उपरांत जिस विषय-निर्वाचिनी समिति का अधिवेशन होगा, वही प्रस्तावों का निर्णय करेगी। फलतः लालाजी के प्रयत्नों का कोई फल न निकला और अगले दिन एक बजे कांग्रेस के खुले अधिवेशन का समय आ पहुंचा। इस बीच में तिलक और उनके साथियों ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को बीच में डालकर समझौते का यत्न किया, परन्तु उसमें भी सफलता न हुई। स्वागतकारिणी के सभापति श्री मालवी ने बातचीत के लिए बुलाये जाने पर उत्तर भेजा कि पूजा में लगे रहने पर उनका घर से बाहर जाना सम्भव नहीं।

इस प्रकार समझौते के प्रयत्नों से निराश होकर लोकमान्य तिलक ने निश्चय किया कि आरम्भ में अध्यक्ष के चुनाव का ही वैधानिक रीति से विरोध किया जाये। सिन्ध के एक प्रतिनिधि की मृत्यु के कारण अधिवेशन कुछ देर में प्रारम्भ हुआ। लोकमान्य अपने मित्रों के साथ यथासमय सभा-मण्डप में पहुंचकर महाराष्ट्र के प्रतिनिधियों में बैठ गये। उन्हें मंचपर ले जाने के लिए जो व्यक्ति आये, उन्हें लोकमान्य ने वापस भेज दिया।

लगभग सवा दो बजे लाला लाजपतराय ने पण्डाल में प्रवेश किया। लालाजी थोड़े ही दिन पहले मांडला-जेल से छूटकर आये थे। प्रत्येक भारत-वासी के हृदय में उनके प्रति भक्ति का स्रोत बह रहा था। उनके पण्डाल में प्रविष्ट होने पर सारा जन-समूह खड़ा हो गया और बहुत देर तक जय-कारों और करतलध्वनि से पण्डाल गूंजता रहा। अढ़ाई बजे के लगभग अध्यक्षीय जलूस आया। उसमें स्वागताध्यक्ष श्री मालवी और कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ० घोष के अतिरिक्त सर्वश्री गोखले, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्र-नाथ आदि पुराने नेता भी थे। मण्डप में उपस्थित प्रतिनिधियों और दर्शकों ने विधि के अनुसार उन सबका खड़े होकर करतल-ध्वनि से अभिनन्दन किया।

अधिवेशन आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में स्वागताध्यक्ष ने अपना सुदीर्घ भाषण पढ़कर सुनाया। उसके पश्चात् स्वागत-समिति के जनरल सेक्रेटरी श्री अम्बालाल सरकारलाल लालदेसाई ने अध्यक्ष-पद के लिए डॉ० घोष का नाम उपस्थित किया। यह सब काम तो शांति से हो गये, परन्तु जब अध्यक्ष-पदकेप्रस्ताव का अनुमोदन करने के लिए बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी खड़े हुए,तब मानो तूफान फट पड़ा। उनके खड़े होते ही पहले बंगाल के प्रतिनिधियों ने और फिर उनकी सहानुभूति में महाराष्ट्र के प्रतिनिधियों ने तरह-तरह के अधिक्षेपजनक वाक्यों की बौछार शुरू कर दी। किसीने कहा 'मिदनापुर की याद करो' किसीने कहा, 'नागपुर को न भूलना' इस प्रकार के नारों

और 'बैठ जाओ' के शोर से बंगाल के शेर की गर्जना दब गई। सुरेन्द्रबाबू ने अपनी गर्जना को यथाशक्ति ऊंचा किया। तब भी शोर को दबाने में सफलता न मिली तो वह मेज पर खड़े होकर बोलने लगे, परन्तु तूफान शान्त न हुआ। अन्त में थककर सुरेन्द्रबाबू बैठ गये। उनके बैठते ही तूफान शान्त हो गया। तब यह समझकर कि अन्धड़ निकल गया, सुरेन्द्रबाबू फिर बोलने के लिए खड़े हुए। असन्तुष्ट प्रतिनिधि एक बार जीत चुके थे, इस कारण उनका साहस बढ़ गया था। ज्योंही सुरेन्द्रबाबू बोलने के लिए खड़े हुए कि फिर कोलाहल आरम्भ हो गया। परिस्थिति को बहुत बिगड़ते देखकर श्री मालवी ने जोर-जोर से घंटी बजाई। जब उसका भी कोई असर न हुआ तो अधिवेशन दूसरे दिन के लिए स्थगित कर दिया गया।

उस दिन जो काण्ड हुआ, लोकमान्य उसके पक्ष में नहीं थे। जो प्रभावशाली लोग अधिवेशन के पश्चात् उनसे मिले, उन्हें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि तिलक अब भी समझौते के पक्ष में थे। उनका मत था कि दोनों ही पक्ष कांग्रेस में रहें और अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकार हों, वे दोनों के समझौते का परिणाम हों। प्रो० गज्जर जैसे प्रभावशाली निष्पक्ष व्यक्ति ने बहुत यत्न किया कि किसी तरह श्रीयुत गोखले और लोकमान्य तिलक को एक-दूसरे के सम्मुख बिठाकर मध्यम मार्ग निकालने का यत्न करें। लोकमान्य बातचीत करने के लिए तैयार हो गये, परन्तु माडरेट नेताओं को अपने बहुमत का इतना अधिक विश्वास था कि वे न तो प्रो० गज्जर के यहां आने को तैयार हुए और न लोकमान्य के घर पर आने पर उनसे मिले। ऐसी दशा में दूसरे दिन के अधिवेशन में लोकमान्य ने जो कुछ किया, उसके सिवाय एक आत्मसम्मानी वीर पुरुष के लिए कोई मार्ग हो ही नहीं सकता था।

दूसरे दिन मध्याह्न के समय अधिवेशन की कार्रवाई वहीं से आरम्भ हुई, जहां पहले दिन स्थगित हुई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी अपना भाषण करने के लिए उठे। यद्यपि उनका स्वागत कुछ नर्म हुआ, परन्तु उन्हें बोलने से किसीने नहीं रोका। मण्डप-भर में चुपचाप शान्ति से उनका भाषण सुना गया। इसी बीच में लोकमान्य तिलक ने स्वागताध्यक्ष के पास यह लिखकर भेज दिया था कि जब अध्यक्ष के नाम का प्रस्ताव तथा अनुमोदन हो चुके, तब अधिवेशन को स्थगित करके मुझे संशोधन का प्रस्ताव उपस्थित करने का समय दिया जाय। सुरेन्द्रबाबू के पश्चात् पं० मोतीलाल नेहरू समर्थन करने के लिए खड़े हुए। उन्होंने थोड़े-से शब्दों में डा० घोष के नाम का अनुमोदन किया। उनका भाषण समाप्त होते ही प्रतिनिधियों से सम्मति लिये बिना ही, स्वागताध्यक्ष ने डॉ० घोष से अध्यक्ष की कुर्सी पर बैठकर भाषण प्रारम्भ

करने की प्रार्थना कर दी।

स्वागताध्यक्ष और नर्म दल के अन्य नेताओं ने समझा कि हमने बड़ी चतुराई से तिलक के वार को बचा लिया और अब कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जायगा, परन्तु उन्हें मालूम नहीं था कि जिस व्यक्ति से उन्हें वास्ता पड़ा है, वह मोम का बना नहीं है। वह फौलाद है, जो न आसानी से झुक सकता है, और न टूट सकता है। इससे पूर्व कि डॉ० घोष अध्यक्षीय आसन के सामने खड़े होकर 'लेडीज एण्ड जेन्टलमेन' से आगे कुछ कहते कि लोकमान्य उनकी मेज के सामने खड़े हो गये। रोशनी रुकती देखकर डॉ० घोष ने आंखें ऊपर उठाईं तो मेज के दूसरी ओर और अध्यक्ष की ओर पीठ किये लोकमान्य की महाराष्ट्र के ब्राह्मणों की परम्परागत लाल पगड़ी दिखाई दी। वह स्तब्ध रह गये। लोकमान्य तिलक ने अवसर पाकर बोलना आरम्भ कर दिया—

"प्रतिनिधि भाइयो, मैंने एक संशोधन उपस्थित करने की सूचना दी थी। मैं उसे उपस्थित करने आया हूं।"

स्वागताध्यक्ष मि० मालवी आवेशपूर्ण स्वर में बोले, "आपका इस समय बोलना नियम-विरुद्ध है।"

लोकमान्य ने उत्तर दिया—"आप इस समय सभापति नहीं हैं।" इसपर विधानाचार्य डॉ० घोष ने यह समझकर कि यदि मि० मालवी सभापति नहीं, तो मैं तो हूं, लोकमान्य से कहा, "मैं व्यवस्था देता हूं कि आपका बोलना नियम-विरुद्ध है।"

लोकमान्य ने तुरन्त उत्तर दिया, "आप नियमपूर्वक अध्यक्ष नहीं चुने गये।"

इधर यह उत्तर-प्रत्युत्तर हो रहे थे और उधर सारे मण्डप में तूफान मच रहा था। इंग्लैंड के प्रसिद्ध पत्रकार मि० नैविन्सन मंच पर बैठे सब दृश्य देख रहे थे। उन्होंने उसका इन शब्दों में वर्णन किया है—

"इससे आगे जो कुछ हुआ, वह शोर के नीचे दब गया। छाती पर दोनों भुजाएं जमाये हुए लोकमान्य श्रोताओं के सामने खड़े थे। उनके दोनों ओर से जोशीले नौजवान माडरेट, मुक्के दिखाते हुए मानो उन्हें मंच से उठा फेंकने के लिए बढ़ रहे थे। उनके पीछे मेज पर खड़े होकर डॉ० घोष जोर-जोर से घंटी बजा रहे थे और लोगों को तीखे और घबराये हुए स्वर से शान्त रहने का उपदेश दे रहे थे।"

इसी समय किसीने तिलक को लक्ष्य करके एक कुर्सी फेंकी। यह चिनगारी, आग लगाने को काफी थी। कुर्सी लोकमान्य के नहीं लगी, परन्तु राष्ट्रीय मण्डल के बहुत-से नवयुवक कुर्सियों पर से कूदते हुए एकदम मंच

पर चढ़ आये और लोकमान्य के चारों ओर सुरक्षा के लिए घेरा डाल लिया। साथ ही एक सनसनीपूर्ण बात हुई। एक मराठी जूता, प्रतिनिधियों की ओर से आया और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की गाल पर लगकर फीरोजशाह मेहता पर पड़ा। यह तो मानो युद्ध की घोषणा थी। सब बड़े-बड़े माडरेट नेता पीछे के रास्ते से बचकर निकल गये। मंच पर केवल दो प्रमुख व्यक्ति रह गये। एक स्थिर मूर्ति लोकमान्य तिलक और दूसदे लाला लाजपतराय, जो बड़ी चिन्तायुक्त गम्भीर मुद्रा में कुर्सी पर बैठे राष्ट्रीय महासभा के भंग के अमंगल दृश्य को देख रहे थे।

देखने में वह दृश्य अमंगल प्रतीत होता था, परन्तु इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध पत्रकार मि० नेविन्सन को उसी होहल्ले और उत्पात में भारत की पुरानी राजनीति का अन्त और नई राष्ट्रीयता का अभ्युदय दिखाई दे रहा था। मि० नेविन्सन ने अपनी 'न्यू स्पिरिट इन इण्डिया' नाम की पुस्तक में लिखा है—

> "मेज पर खड़े हुए अध्यक्ष (डा० घोष) की कांपती हुई टांगों के बीच में मुझे भारत में नई भावनाओं का सूर्योदय दृष्टिगोचर हो रहा था।"

माडरेट नेताओं के पृष्ठ द्वार से निकल जाने के बाद स्वागत-समिति द्वारा पहले से तैयार किये हुए गुण्डों ने गर्मदल के प्रतिनिधियों को डंडों से मारने का उपक्रम कर दिया। कुर्सियां, छड़ियां और जूते तो खुले तौर पर चलने लगे। लोकमान्य तिलक मंच पर से यह आदेश देते सुने गए कि महिलाओं को सुरक्षित रूप से पण्डाल के बाहर कर देना चाहिए। उनपर चारों ओर से आक्रमण हो रहे थे, और वह शान्ति से खड़े सुपारी चबा रहे थे। न उन्हें भय था और न घबराहट।

इतने में पुलिस आ पहुंची। उसने टूटी-फूटी कुर्सियों से भरे हुए पण्डाल को लोगों से खाली करा दिया और लोकमान्य तिलक को उनके विश्राम-स्थान पर पहुंचा दिया।

इस प्रकार नवीन राष्ट्रीयता के प्रबल प्रवाह की टक्कर खाकर उस आधे घण्टे में बाईस साल की पुरानी और बोसीदा राजनीति का महल गिरकर चकनाचूर हो गया।

: ३० :

लोकमान्य की गिरफ्तारी

उस समय सामान्य रूप से यह समझा गया कि कांग्रेस के दो दलों ने स्वतः आपस में लड़कर कांग्रेस को तोड़-फोड़ दिया, परन्तु पीछे से प्रकाशित बहुत-से पत्रों से यह स्पष्ट हो गया है कि वह सारा काण्ड अंग्रेजी सरकार की कटनीति का परिणाम था। कई वर्षों से राजनैतिक दलों के मतभेद चले आते थे, परन्तु कांग्रेस के भंग का अवसर नहीं आया था, क्योंकि पुराने कांग्रेसी अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए राष्ट्रीय दल को साथ रखना आवश्यक समझते थे। वे जानते थे कि युवकवर्ग के भय के बिना सरकार नर्म-से-नर्म मांगों को भी स्वीकार नहीं करेगी। इंग्लैण्ड में लिबरल कहलानेवाले दल के अधिकार-सम्पन्न हो जाने और मि० मोर्ले के भारत-मन्त्री नियुक्त हो जाने पर भारत के माडरेट नेताओं की मानसिक वृत्ति बदल गई। उनके मन में इस आशा का संचार हो गया कि यदि अब अग्रगामी दल से सम्बन्ध तोड़कर अंग्रेजी सरकार के सामने नर्म मांगें पेश की गईं तो वे स्वीकार कर ली जायंगी। कांग्रेस के नर्म नेताओं को बातचीत और पत्र-व्यवहार में अंग्रेज अधिकारियों ने यही आशा दिलाई थी। कलकत्ते में उन महानुभावों ने समझौते के अनुकूल जैसी मनोवृत्ति दिखलाई थी, सूरत में उसके अभाव का यही मुख्य कारण था। अंग्रेज अधिकारियों की लोरियों से माडरेट नेता इतने प्रभावित हो गये थे कि डा० घोष ने उग्र राष्ट्रीय विचारों के भारत-वासियों को एक मुसीबत बतलाकर कांग्रेस से अलग हो जाने का आदेश दे दिया था। यह स्पष्ट है कि लोकमान्य तिलक और उनके साथी कांग्रेस से अलग नहीं होना चाहते। सूरत में और उसके बाद वे इसी यत्न में लगे रहे कि सम्मिलित कांग्रेस का अधिवेशन किया जाय। परस्पर सम्बन्ध-विच्छेद की भावना माडरेट नेताओं के मन में ही घर कर गई थी और उसका मूल कारण था उनकी यह आशा कि यदि कांग्रेस से अग्रगामी दल अलग हो जायगा तो अंग्रेजी सरकार द्वारा कांग्रेस की मांगों के स्वीकार होने की सम्भावना बढ़ जायगी। देश का दुर्भाग्य था कि सरकार की कूटनीति सफल हो गई।

कांग्रेस का भंग २७ दिसम्बर के मध्याह्नोत्तरकाल में हुआ था। उस

रात और दूसरे दिन भी समझौते पर पहुंचने के यत्न जारी रहे। 'अमृत बाजार पत्रिका' के सम्पादक श्री मोतीलाल घोष ने भी दिनभर प्रयत्न किया, परन्तु कोई निश्चित परिणाम नहीं निकला। माडरेट दल के नेता अब सम्मिलित कांग्रेस से डरने लगे थे। उन्हें अनुभव हो रहा था कि समय की धारा उनके विपरीत दिशा में वह रही है। नर्म नेताओं की इस मनोवृत्ति का परिचय इससे मिलता है कि २८ दिसम्बर को ही उन्होंने एक कन्वेनशन (विशेष सम्मेलन) किया, जिसमें केवल उन्हींको प्रवेश का अधिकार दिया गया, जो पुराने नेताओं से पूर्णरूप से सहमत हों। डा० घोष ने उस कन्वेनशन के अध्यक्ष की हैसियत से परिस्थितियों के अनुसार अपना संशोधित भाषण पढ़कर मनस्तोष कर लिया। इस प्रकार अग्रगामी दल को कांग्रेस से अलग करने में सफल न होकर नये विचार के लोग स्वयं ही उनसे अलग हो गये।

राष्ट्रीय दल की सभा में, उसी दिन यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस को जीवित रखा जाय और उसके कलकत्ता में स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित किया जाय। कांग्रेस का सम्मिलित अधिवेशन करने के सम्बन्ध में नर्म नेताओं से बातचीत जारी रखने के लिए एक उपसमिति भी नियुक्त की गई।

कांग्रेस के भंग को ऊंचे अंग्रेज अधिकारियों ने जिस दृष्टि से देखा, यह उस पत्र से प्रकट होता है, जो भारत-मंत्री मि० मोर्ले ने लार्ड मिण्टो को लिखा था। उस पत्र की ये पंक्तियां महत्वपूर्ण हैं—

> "अभी समाचार आया है कि कांग्रेस निस्सार होने के स्थान पर बिल्कुल टूट-फूट गई है। इसमें सन्देह नहीं कि यह निस्सार होने से बिल्कुल उलटी बात है। मेरा अनुमान है कि यद्यपि इस समय तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि गर्मों को नर्मों पर विजय प्राप्त हुई है, परन्तु लक्षणों से प्रतीत होता है कि आगे चलकर कांग्रेस पर गर्म दल का कब्जा हो जायगा।"

सरकार चाहती थी कि कांग्रेस माडरेट लोगों के हाथ में रहे और अग्रगामी दल के लोग उससे अलग हो जायं, परन्तु हुआ उसके विपरीत ही। माडरेटों के द्वारा अपना पृथक् संगठन बनाना पड़ा।

लोकमान्य तिलक और उनके साथी कलकत्ता-कांग्रेस के प्रस्तावों के सक्रिय प्रचार में पूरे जोर से लग गये। लोकमान्य के साथ कार्य करनेवालों में श्री अरविन्द घोष, बाबू विपिनचन्द्र पाल, श्रीयुत खापर्डे आदि प्रमुख थे, लाला लाजपतराय ने कन्वेनशन का प्रतिज्ञा-पत्र भर दिया था।

नये वर्ष के आरम्भिक महीनों में लोकमान्य ने जिन राष्ट्रीय प्रवृत्तियों

में भाग लिया, उनमें मुख्य था 'नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी नाम' की संस्था की स्थापना। यह संस्था पचास हजार के मूलधन से स्थापित की गई और उसकी ओर से 'राष्ट्रमत' नामक दैनिक-पत्र निकाला गया। पत्र के मूल-मंत्र थे—स्वदेश, स्वराज्य, स्वधर्म और स्वावलम्वन। लोकमान्य कम्पनी के मुख्य उद्भावकों में से थे।

इन महीनों में तीन राजनैतिक कांफ्रेंसें हुईं। मार्च में पूना ज़िला परिषद्, में अखिल बंगाल प्रान्तीय परिषद् और धूलिया में महाराष्ट्र प्रान्तीय परिषद् के अधिवेशन सम्पन्न हुए। इनमें से पहले और तीसरे सम्मेलनों में लोकमान्य ने स्वयं मुख्य भाग लिया। बंगाल की प्रान्तीय परिषद् के अध्यक्ष डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। इन सभी परिषदों में इस आशय के प्रस्ताव स्वीकार किये गए कि राष्ट्रीय प्रोग्राम को कार्यान्वित करने का पूरा प्रयत्न किया जाय और कांग्रेस के अधिकारियों से आग्रह किया जाय कि वे कांग्रेस का सम्मिलित अधिवेशन यथासम्भव शीघ्र ही बुलायें।

पूना के राजनैतिक सम्मेलन में लोकमान्य ने एक भाषण में यह प्रस्ताव रक्खा था कि यदि अंग्रेजी सरकार हमारी मांगों को पूरा न करे तो असहयोग और अड़ंगे की नीति का अवलम्वन करके भारत के शासन को असम्भव वना दिया जाय। यह उस असहयोग की पूर्वपीठिका थी, जिसका वारह वर्ष वाद पूर्ण विकास हुआ। उसी सम्मेलन में लोकमान्य ने शराब की दूकानों पर भी पिकेटिंग करने का भी प्रस्ताव रक्खा, जिसे भावी सत्याग्रह का बीज रूप कहना चाहिए। शराववन्दी और शराव के पिकेटिंग की बात श्रोताओं के हृदयों में घुसती चली गईं। मद्य-विरोध का सन्देश मानो पर लगाकर शहर में फैल गया। इस आन्दोलन के सम्वन्ध में जो सभाएं हुईं, उनमें मि० जी० बी० जोशी, सर आर० जी० भंडारकर जैसे प्रमुख नागरिकों ने अध्यक्षता की। पूना के प्रसिद्ध ईसाई मिश्नरी रेवरेण्ड मि० मैक्निकोल ने तो आगे बढ़कर आन्दोलन को हार्दिक पुष्टि प्रदान की। प्रारम्भ में कई सरकारी अधिकारियों ने भी शराववन्दी के विचार का समर्थन किया, परन्तु नौजवानों के नये रक्त ने आन्दोलन में जान डाल दी तो सरकार घबरा गई और सरकारी अफसर पहले उदासीन और फिर आन्दोलन के विरोधी बन गये।

नौजवानों ने शराव की दूकानों पर पिकेटिंग लगा दिया। कुछ दिनों तक पुलिस ने उपेक्षा की, फिर गिरफ्तारियों शुरू कर दीं और दण्ड रूप में बड़े-बड़े जुर्माने वसूल किये जाने लगे। उस समय लोकमान्य का असली नेता रूप प्रकट हुआ। वह प्रत्येक कष्ट में स्वयंसेवकों के पास पहुंचते, स्वयं

उनका कार्यक्रम बनाते और उसे पूरा कराते। ऐसा प्रतीत होता था कि पूना शहर लोकमान्य तिलक की अंगुली के इशारे पर नाच रहा है। पूना से बम्बई के गवर्नर के पास जो रिपोर्टें भेजी गईं, उनमें यह प्रकट किया जा रहा था कि पूना में इस समय बालगंगाधर तिलक की हुकूमत है, अंग्रेजी सरकार को कोई नहीं पूछता।

इस प्रकार जब पूना और महाराष्ट्र में तिलक का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था और सरकार उससे भयभीत हो रही थी, तभी बंगाल में एक सनसनीपूर्ण दुर्घटना हो गई। बंग-विच्छेद से बंगाल में जो असन्तोष की आग लगी थी, वह निरन्तर जोर पकड़ती गई। सरकार ने उसे दबाने के लिए दमन-चक्र का खुला प्रयोग किया, किन्तु उससे आग दबने की जगह अधिक उग्र होती गई। 'युगान्तर', 'सन्ध्या', ''नवशक्ति', 'वन्देमातरम्' इत्यादि राष्ट्रीय पत्रों पर अभियोग चलाये गए और उनके सम्पादकों को कठोर दण्ड दिये गए। जितना दमन हुआ उसने घी का काम किया। तब सरकार ने प्रेस-सम्बन्धी नया कानून बनाया, जो तबतक के सब प्रेस-कानूनों से कड़ा था। उसके द्वारा उन समाचार-पत्रों को, जिनसे सरकार असन्तुष्ट थी, बन्द कर दिया गया और प्रेसों को, जिनमें वे छपते थे, बन्द कर दिया गया।

अनुभव ने सिद्ध किया कि यदि प्रजा के असन्तोष का दमन किया जाय तो वह आतंकवाद का रूप धारण कर लेता है। बंगाल में भी यही हुआ। असन्तोष ने आतंक का शरीर धारण कर लिया। उसका विस्फोट मुजफ्फरपुर में हुआ। ३० अप्रैल के दिन, खुदीराम बोस नाम के बंगाली नवयुवक ने मुजफ्फरपुर के सेशन जज मि० कैनड़ी की गाड़ी पर बम का प्रहार किया, जिससे मि० कैनड़ी तो बच गये, परन्तु उनकी पत्नी और लड़की को गहरी चोटें आईं, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। किंग्जफोर्ड से आतंकवादी दल तबसे नाराज था, जब वह कलकत्ते के चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट थे। वहां उन्होंने बहुत-से नौजवानों को गिरफ्तार कराया और दण्डित किया था।

इस पहले सशब्द बम-विस्फोट से देश-भर में एक सनसनी-सी फैल गई। नवयुवक दल के रक्त की गति तेज हो गई और सरकार के पांव डगमगाने लगे। बम-विस्फोट के सम्बन्ध में भारतवासियों में भी तीन प्रकार की विचारधाराएं उत्पन्न हो गई थीं। माडरेट विचार के लोग आतंकवादियों को देश का घोर शत्रु मानते थे। उग्र विचार के लोगों ने बम का स्वागत किया था और राष्ट्रीय दल के विचारकों ने उसे परिस्थिति का चिह्न माना था। उनकी राय थी कि जहां बम-प्रयोग से स्वराज्य प्राप्ति

नहीं हो सकती, और मुजफ्फरपुर-काण्ड जैसी घटनाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है, क्योंकि विरोधियों को स्त्री-वध के कारण राष्ट्रीय दल को बदनाम करने का अवसर मिलता है वहां वह इस बात का चिह्न अवश्य है कि देश वर्तमान राजनैतिक गुलामी से इतना असन्तुष्ट है कि यदि उसमें शीघ्र ही सुधार न किया गया तो देश के नवयुवक धैर्य खो बैठेंगे। लोकमान्य तिलक उन्हींमें से थे।

लोकमान्य अकोला में थे, जब उन्हें मुजफ्फरपुर की घटना का समाचार मिला। वह शीघ्र ही पूना पहुंच गये और सारी परिस्थिति पर विचार किया। बम-काण्ड के सम्बन्ध में उनके जो प्रथम विचार थे, वे उन्होंने 'केसरी' में 'देश का दुर्भाग्य' शीर्षक लेख में प्रकाशित किये। उस लेख का निम्नलिखित उद्धरण लोकमान्य की विचारधारा को भली प्रकार सूचित करता है—

"मुजफ्फरपुर-काण्ड एक बहुत गम्भीर दुर्घटना है। हम इसकी निन्दा करते हैं और उसके विरुद्ध अपना मत प्रकट करते हैं। परन्तु हम यह नहीं समझते कि सरकार तक केवल इतने भाव प्रकाशित करने से हमारे कर्तव्य का पूरा पालन हो जाता है। इस विषय में सब एकमत हैं कि ऐसी घटनाएं घटित न हों और हमारे देश का कोई निवासी ऐसे दुःसाहसपूर्ण कार्य करने के लिए मजबूर न हो। किन्तु ऐसे अवसरों पर यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि अधिकार-सम्पन्न लोग देशवासियों की अभिलाषाओं की कहांतक उपेक्षा कर सकते हैं और किस सीमा के आगे प्रजा के धैर्य की प्रतीक्षा न करनी चाहिए। यदि इन बातों पर ध्यान दिया जाय तो शासकों और प्रजा में प्रेम-सम्बन्धों का कायम रहना असम्भव है :"

यह प्रारम्भिक लेख था। इसी प्रसंग में 'केसरी' में कई सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुए। उनमें उसी युक्ति-श्रृंखला का समर्थन किया गया था, जो पहले लेख में निर्दिष्ट की गई थी। उनमें आतंकवाद की निन्दा थी, पर उनके लिए सरकार की अनुदार नीति को जिम्मेदार ठहराया गया था। रूस आदि देशों के दृष्टान्त देकर समझाया गया था कि सरकारी तानाशाही ही आतंकवाद को जन्म देती है।

सरकार बहुत पहले से लोकमान्य तिलक पर खार खाये बैठी थी। वह उन्हें भारत में उत्पन्न हुई नवचेतना का जन्मदाता मानती थी। सूरत में कांग्रेस भंग हो जाने से सरकार की घबराहट तढ़ गई, क्योंकि उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगा कि राष्ट्रीय आन्दोलन माडरेट नेताओं के हाथ से निकल

रहा है। मुजफ्फरपुर-काण्ड और 'केसरी' के लेखों ने सरकार को अपनी मनोवांछित अभिलाषा को पूरा करने का अवसर दे दिया। २२ जून, १९०८ के दिन 'केसरी' के सम्पादक की हैसियत से लोकमान्य तिलक गिरफ्तार कर लिये गए।

: ३१ :

'अविस्मरणीय अभियोग

लोकमान्य की गिरफ्तारी सायंकाल के समय की गई। लगभग उसी समय पूना में 'केसरी'-कार्यालय पर छापा मारकर और तिलक-परिवार के लोगों को बाहर निकालकर पुलिस ने कमरों पर ताले लगा दिये। दूसरे दिन प्रातःकाल पुलिस के अफसर तीन घण्टे तक सारे मकान की तलाशी लेते रहे। उन्होंने घर और दफ्तर का कोना-कोना छान मारा और मोटर में बहुत-से काग़ज़ के ढेर डालकर बम्बई वापस चले गये।

उसी सिलसिले में पुलिस तिलक के सिंहगढ़ के निवास-स्थान में भी जा पहुंची और वहां भी राजद्रोही मसाले की और शायद बमों की बहुत तलाश की, परन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता न मिली।

२५ जून को साढ़े ग्यारह बजे लोकमान्य को चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट मि० एस्टन की अदालत में उपस्थित किया गया। सरकारी वकील ने अदालत को सूचना दी कि तिलक पर इण्डियन पीनल कोड की धारा १२४ ए और १५३ ए के मातहत अभियोग चलाया गया है। अभियोग सेशन में जानेवाला था, इस कारण उस समय स्थगित कर दिया गया। मामला सेशन जज जस्टिस दिनशा दावर के सामने जानेवाला था। उसका पुत्र मि० जे० डी० दावर चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट की अदालत में तिलक महाराज का वकील था। उसने तिलक को जमानत पर छोड़ने की मांग की, परन्तु सरकारी वकील ने डटकर विरोध किया। अपील इस कारण नामंजूर हो गई। अभियुक्त की ओर से दूसरी मांग यह की गई कि अभियोग के दौरान में उसे हाईकोर्ट के किसी कक्ष में कैद रखा जाय, ताकि वकीलों से और कानून की किताबों से सहायता लेने में सुविधा रहे। यह मांग भी नामंजूर की गई, क्योंकि पुलिस ने हाईकोर्ट में व्यवस्था करने से इन्कार कर दिया। अदालत ने उन्हें डोंगरी-जेल में भेजते हुए इतनी सुविधा दे दी कि आज शाम तक और कल सुबह कुछ समय तक वकील लोग उनसे मिल सकेंगे।

लोकमान्य की गिरफ्तारी, तलाशी और पहली पेशी का जनता पर जो असर हुआ, उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पूना और

बम्बई दोनों ही स्थानों पर तत्काल कारोबार बन्द हो गया था और रोष में भरे हुए जनसमूह 'केसरी'-कार्यालय और अदालत को घेरने लगे। तिलक की गिरफ्तारी का सारे देश पर भी बहुत गहरा असर हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि अपने ढंग का यह पहला राजनैतिक अभियोग था, जिसमें एक सर्वसम्मानित नेता को अभियुक्त बनाया गया।

लोकमान्य २२ जून को गिरफ्तार किये गए थे। सैशन की अदालत में उनका अभियोग २६ जून को दोपहर के समय आरम्भ हुआ और उसकी समाप्ति २२ जुलाई को गिरफ्तारी के ठीक एक महीने बाद हुई। इस एक महीने की अभियोग-सम्बन्धी सब घटनाओं को देखकर कहा जा सकता है कि वह अभियोग कई दृष्टियों से अविस्मरणीय था। देश में अपनी शान का यह पहला राजनैतिक अभियोग था। उसमें लोकमान्य ने सरकारी गवाहों से बहस भी स्वयं की, और सफाई का भाषण भी स्वयं दिया। लोकमान्य ने अपने साप्ताहिक का नाम 'केसरी' रक्खा था और 'केसरी' की आदत है कि वह कभी दूसरे के मारे हुए शिकार को नहीं खाता। उचित ही था कि लोकमान्य ने अपनी पैरवी स्वयं ही की। उन्होंने सरकारी अनुवादक मि० जोशी से अपने लेखों के अनुवाद के सम्बन्ध में घण्टों तक ऐसे जटिल प्रश्न किये कि वह भौंचक्का हो गया। उसकी हालत ऐसी हो गई, जैसी श्रेणी में अध्यापक के प्रश्नों के उत्तर न दे सकने पर छात्र की हुआ करती है। उसे अनुवाद की बहुत-सी भूलें स्वीकार करनी पड़ीं। सरकारी वकील अंग्रेज थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के सबसे बड़े शत्रु को कठोर दण्ड दिलवाने लिए जान लड़ा दी थी। उनके लगाये हुए आरोपों के उत्तर में लोकमान्य ने लिखित भाषण दिया था। वह सारा भाषण अदालत ने छः दिनों में बाईस घण्टे का समय देकर सुना। स्वयं अभियुक्त द्वारा युक्तियों और प्रमाणों से युक्त इतना लम्बा भाषण कानून के इतिहास में अभूतपूर्व घटना थी।

न्यायाधीश जस्टिस दावर का रुख पहले से ही सरकार की ओर झुका हुआ था। अभियोग के आरम्भ में मि० मुहम्मदअली जिन्ना ने लोकमान्य तिलक के वकील की हैसियत से जमानत की दरख्वास्त पेश की। सरकारी वकील ने इसका प्रबल विरोध किया। फलतः जमानत मंजूर नहीं की गई।

अभियोग के आरम्भ में सरकारी वकील ने जज से स्पेशल जूरी नियुक्त करने की अपील की। स्पेशल जूरी में सरकारी आदमियों की संख्या अधिक रहती है, इस कारण तिलक के वकीलों ने उसका विरोध किया, परन्तु जज महोदय ने यहां भी स्पेशल जूरी के पक्ष में ही निर्णय दिया। फलतः जो जूरी नियुक्त की गई, उसमें छः अंग्रेज थे और तीन भारतीय थे। अभियोग ग्द

था कि 'केसरी' के लेखों से अंग्रेजों के विरोध की भावना उत्पन्न होती है और इसपर जूरी में अंग्रेजों का बहुमत था, ऐसी जूरी से यह आशा कैसे रक्खी जा सकती थी कि वह जज को न्यायपूर्ण सलाह देगी।

अभियोग को सिद्ध करने के लिए पेश किये गए गवाह भी सरकारी ही थे। एक ने कहा कि मैंने अभियुक्त को गिरफ्तार किया है और दूसरे ने वतलाया कि मैंने तलाशी ली है। अभियोग के मुख्य आधार 'केसरी' के दो मराठी लेखों का अंग्रेजी अनुवाद था। जब सरकारी अनुवादक मि०जोशी गवाह के कठघरे में आया तो लोकमान्य ने उसके किये हुए अनुवाद की धज्जियां उड़ा दीं। कई बार उसे अपनी अयोग्यता माननी पड़ी और और कई वार चुप होना पड़ा। सरकारी वकील के प्रारम्भिक भाषण में सरकारी गवाहियों के पश्चात् लोकमान्य से पूछा गया कि वह अपने अपराधी होने के बारे में क्या कहते हैं। उन्होंने अपना एक लिखित बयान देने के अतिरिक्त उस शहादत की प्रतिलिपि भी अदालत में पेश की, जो उन्होंने 'सेण्ट्रलाइजेशन कमीशन' के सामने पेश की थी। उस वक्तव्य से वह यह दर्शाना चाहते थे कि वह सरकार के आलोचक अवश्य हैं, परन्तु उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाना निर्मूल है।

लोकमान्य ने आरोपों के उत्तर में जो भाषण दिया, वह कानूनी प्रमाणों से युक्त तो था ही, साथ ही भाषा-सम्बन्धी असाधारण योग्यता का भी परिचायक था। उसमें उन्होंने यह दिखाने का यत्न किया कि लेखों में कहीं भी आंतकवाद का समर्थन नहीं है। उसकी स्पष्ट निन्दा की गई है। यदि कुछ और कहा गया है तो यह कि भारत में हो या अन्य देशों में हो, आतंकवाद का जन्म सरकार के दमन और अत्याचार के कारण होता है। इसी आधार पर 'केसरी' के लेखों में सरकार को चेतावनी दी गई थी कि वह दमन के मार्ग को त्याग दे और भारतवासियों को उनके न्यायोचित अधिकार देकर देश में शान्ति स्थापित कर दे। भाषण के अन्त में लोकमान्य ने जरी के सदस्यों से इंग्लैण्ड के दृष्टान्त देकर न्याय और मानवता के नाम पर अपील की कि वे सरकारी दबाव में न आकर निर्भयता से न्यायानुकूल फैसला दें।

सरकारी वकील ने लोकमान्य का उत्तर देते हुए अपने भाषण में जितना युक्तियों का प्रयोग किया लगभग उतना ही दुर्वाक्यों का भी प्रयोग किया। 'अभियुक्त ने आंखों में धूल झोंकने का यत्न किया है', अभियुक्त ने जूरी की टांगों को टुहकने में कोई कसर नहीं छोड़ी', इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करके जूरी के अंग्रेज सदस्यों के हृदयों में अभियुक्त के विरोध में भाव उत्पन्न करने की भरसक कोशिश की।

सरकारी वकील के भाषण के पश्चात् जज ने जूरी को समझाने के लिए अभियोग की युक्तियों का उपसंहार किया। उस उपसंहार में जज ने शब्दों द्वारा निष्पक्ष रहने की चेष्टा करते हुए भाव द्वारा यह यत्न किया कि यदि जूरी के सदस्यों पर लोकमान्य के भाषण का कोई प्रभाव हुआ हो तो वह धुल जाय ! इसके पश्चात् जूरी के सदस्य वहां से उठकर एकान्त में परामर्श के लिए चले गए। दो घंटे के पश्चात् अदालत में आकर उन्होंने जज को सूचना दी कि खेद है कि जूरी के सदस्य सहमत नहीं हो सके, नौ में से सात ने अभियुक्त को दोषी और दो ने निर्दोष ठहराया है। वे दो सदस्य पारसी थे,

जूरी के निर्णय की सूचना मिलने के पश्चात् सरकारी वकील ने जज का ध्यान अभियुक्त के पहले राजद्रोह के अभियोग की ओर खींचा। जज के पूछने पर लोकमान्य ने उसे स्वीकार किया।

तब जज ने लोकमान्य से कहा कि क्या तुम कुछ और कहना चाहते हो। इस प्रश्न के उत्तर में लोकमान्य ने जो शब्द कहे, वे भारत की स्वाधीनता के इतिहास में अमर हो गये हैं। उन्होंने कहा—

"मैं केवल इतना कहना चाहता हूं कि यद्यपि जूरी ने मुझे दोषी ठहरा दिया है, फिर भी मैं दृढ़तापूर्वक कहता हूं कि मैं निर्दोष हूं। संसार का शासन करनेवाली शक्ति इस अदालत से बहुत ऊंची है और सम्भवतः भगवान् की यही इच्छा है कि मैं जिस ध्येय का प्रतिनिधि हूं, वह मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरे जेल के दुःख उठाने से अधिक फल-फूल सकेगा।"

ये वाक्य ऐसे थे कि यदि उस न्यायभवन में कहीं हृदय का निवास होता तो वह प्रभावित हुए बिना न रहता। इसके पश्चात् जज महोदय अपना पहले से लिखा हुआ फैसला सुनाने खड़े हुए। यही वह दावर महोदय थे, जिन्होंने पहले राजद्रोह के अभियोग में लोकमान्य की सफाई पेश की थी। जज की कुर्सी पर बैठकर मानों उनका दिल, दिमाग़ और वाणी सबकुछ बदल गया। आपने अपने फैसले में जो सूक्तियां कहीं, उनके कुछ नमूने ये हैं—

"अभियुक्त को ब्रिटिश शासन से जो घृणा है, वह पिछले दस सालों में घटने की जगह बढ़ गई है।"

"उस आदमी को उन्माद का रोग ही होना चाहिए, जो यह कहे कि जो लेख उसने लिखे हैं, वे राजनैतिक आन्दोलन के उचित साधन हैं। वे राजद्रोह से भरे हुए हैं। वे हिंसा का प्रचार करते हैं, हत्याओं का समर्थन करते हैं...।" अन्त में दंड की घोषणा करते

हुएँ जज ने कहा—

"मैं छः वर्षों के देश-निर्वासन और एक हजार रुपये के जुर्माने का जो दण्ड दे रहा हूं, उसे अपात्र के प्रति दिखलाई गई दया ही माना जायगा।"

इन वाक्यों से अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद दावर महोदय की दृष्टि में पूरा न्याय तब होता यदि अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया जाता और 'केसरी'-कार्यालय को हथिया लिया जाता।

जिस समय अदालत के कमरे में न्याय का यह उपहास हो रहा था, उस समय बाहर मूसलधार पानी बरस रहा था, जिससे फैसला सुनने के लिए उत्सुक भीड़ बहुत-कुछ छंट गई थी। आधी रात का समय था, जब पुलिस के सिपाहियों ने एक चोर दरवाजे से नीचे उतारकर लोकमान्य को पुलिस की गाड़ी में बिठाया और बी० बी० सी० आई० के एक छोटे स्टेशन से स्पेशल ट्रेन में बिठाकर साबरमती-जेल में बन्द कर दिया। साबरमती-जेल को देश के स्वाधीनता युद्ध के मुख्य सेनानी का निवासस्थान होने का जो श्रेय उस समय प्राप्त हुआ, वह दुगना हो गया, जब कई वर्षों के पश्चात् सरकार ने लोकमान्य के उत्तराधिकारी महात्मा गांधी का निवास-स्थान भी उसीको बनाया।

सरकार की अत्यन्त सतर्कता के बावजूद भी भयानक दण्ड के समाचार की सरसराहट तो रात ही को शहर में फैल गई थी, परन्तु प्रातःकाल तो बम्बई के कोने-कोने में वह विस्तीर्ण हो गई। २३ जुलाई को उस बड़े शहर में अनायास ही क्रोध का बवंडर-सा उठ खड़ा हुआ। शेयर बाजार, मूलजी जेठा मार्केट, दूकानें, होटल, कालिज, स्कूल आदि संस्थाएं बन्द हो गईं। मिलों के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। पुलिस ने डरा-धमकाकर और जबर्दस्ती से हड़ताल तोड़ने के यत्न किये तो उनका नगर-निवासियों का संघर्ष आवश्यक था। पुलिस ने कई जगह लाठियां बरसाईं और गोलियां भी चलाईं।

बम्बई की हवा समाचार-पत्रों के साथ अन्यत्र भी पहुंची। कलकत्ता, कराची, अहमदाबाद, नागपुर आदि नगरों और अनेक ग्रामों में भी सभाएं हुईं, जलूस निकाले गए और कई स्थानों पर हड़ताल भी हुई। इस प्रकार लोकमान्य के जेल जाने के साथ भारत के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास का वह हलचलपूर्ण अध्याय प्रारंभ हो गया, जिसकी समाप्ति स्वराज्य-प्राप्ति के साथ हुई।

: ३२ :

मांडले के किले में

मांडले का किला लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के दिनों में काफी कुख्याति पा चुका था। कुख्याति की दृष्टि से वह भारत का वैस्टाईल समझा जा सकता है। ३० सितम्बर, १६०८ के प्रातःकाल लोकमान्य तिलक ने एक अंग्रेज अफसर, एक जमादार और सात सिपाहियों के पहरे में उसमें प्रवेश किया।

साबरमती में कुछ दिन रखकर बम्बई सरकार ने यह प्रतीक्षा की कि देखें, तिलक के मित्र उनके छुड़ाने का क्या कानूनी प्रयत्न करते हैं। उसे यह भी भय था कि शायद लिबरल भारत-मन्त्री मि० मोर्ले उदारता की लहर में बहकर तिलक की सजा माफ कर दें। परन्तु उनकी दोनों की अपेक्षाएं शीघ्र ही निर्मूल हो गईं। लोकमान्य के मित्रों ने प्रिवी कौंसिल में अपील करने के लिए बम्बई हाईकोर्ट से जो आज्ञा मांगी, उसका केवल इतना ही परिणाम हुआ कि सजा सख्त से नरम हो गई, और जुर्माना हट गया। प्रिवी कौंसिल की अपील की आज्ञा नहीं मिली। उदार मि० मोर्ले की उदारता यहीं तक पहुंची कि निजी पत्र-व्यवहार में कठोर दण्डों पर उन्होंने अत्यन्त असन्तोष प्रकट किया। भारत की नौकरशाही सरकार का डंडा इतना जबर्दस्त था कि उसके सामने मोर्ले की उदारता ने भी सिर झुका दिया।

साबरमती-जेल में कुछ दिनों तक लोकमान्य को बन्द हवा और निकृष्ट भोजन के कारण बहुत कष्ट रहा। दस दिनों में उनका दस पौण्ड वजन घट गया। जब मिलाई करनेवालों ने पत्रों में तथा सरकार से इसकी चर्चा की और बम्बई सरकार को यह डर हुआ कि शायद पार्लमेंट में प्रश्न पूछे जाने लगें, तो उसने भोजन में दो पौंड दूध, दो औंस घी, एक समय गेहूं की रोटी और एक समय चावल देने की व्यवस्था कर दी।

शायद बम्बई सरकार ने यह भी सोचा होगा कि अपने कार्य-क्षेत्र के पास रहने से तिलक निरन्तर सार्वजनिक आन्दोलन के केन्द्र बने रहेंगे और उनके ज़रा-से कष्ट की प्रतिध्वनि विलायत तक सुनाई देगी। इस कारण सरकार ने बर्मा के सुरक्षित मांडला के किले की शरण ली और अपनी समझ

में अंग्रेजी सरकार के सबसे बड़े शत्रु बालगंगाधर तिलक को अत्यन्त गुप्त रूप से हार्डिग नाम के जहाज द्वारा, बम्बई से रंगून और रेल द्वारा रंगून से मांडला पहुंचा दिया। उनके साथ एक गुजराती ब्राह्मण रसोइया भी भेजा गया था।

जहाज में उन्हें काफी क्लेश की दशा में रक्खा गया। जहाज काफी बड़ा था, तो भी उन्हें डेक के नीचे के कमरे में बन्द रक्खा जाता था, जहां वह कभी लेटकर और कभी हवा के लिए बनाये हुए गोल सूराखों में से सांस लेकर समय काटते थे। केवल प्रातः और सायं एक-एक घंटे के लिए पुलिस के अंग्रेज अफसर के पहरे में डेक पर घूमने की छुट्टी मिलती थी।

मांडले के किले में, लोकमान्य के लिए, एक बड़ी बैरक में पार्टीशन लगाकर रहने का स्थान बनाया गया था। मांडले का मौसम अपनी उग्रता के लिए प्रसिद्ध है। सर्दियों में कड़ी सर्दी पड़ती है, गर्मियों में आकाश भट्टी की तरह तपता है, और बरसात में भारी वर्षा होती है। तिलक डायबटीज के मरीज थे। गर्मी उनके बहुत प्रतिकूल पड़ती थी। जिस कमरे में उन्हें रक्खा गया था, वह लकड़ी का बना था। सर्दी, गर्मी और पानी—तीनों का ही कमरे पर प्रवेश सुलभ था। जेल में जाने के समय लोकमान्य की आयु बावन वर्ष की थी और उनका स्वास्थ्य ढीला हो चुका था। अपने घोर शत्रु को पूरा कष्ट देने और राजद्रोह का मजा चखाने के लिए ही शायद बम्बई सरकार ने उन्हें मांडले में भेजा था। परन्तु लोकमान्य ने अपने अद्भुत व्यक्तित्व से मांडले की जेल को मुनि की कुटिया बना दिया। वह लगभग छः वर्षों तक उस नरक-कुण्ड में रहे, परन्तु जेल के सुपरिंटेंडेंट से लेकर समीप में रहनेवाले कैदियों तक ने अनुभव किया कि तिलक के व्यक्तिगत प्रभाव ने वहां के पशुओं और वनस्पतियों तक पर सात्विक प्रभाव डाल दिया था। सुपरिंटेंडेंट कुलकर्णी ने बाद में बताया कि एक दिन लोकमान्य के कमरे में अकस्मात् जाकर देखा तो उनके चारों ओर बहुत-से छोटे-छोटे पक्षी मजे में दाने चुग रहे हैं, और फुदकते फिरते हैं। आश्चर्यचकित होकर कुलकर्णी ने इनका कारण पूछा तो लोकमान्य ने उत्तर दिया कि इन्हें निश्चय है कि मैं इन्हें क्लेश नहीं दूंगा, इसलिए ये मेरे दोस्त बन गये हैं और अन्न के दाने मैं इनके लिए डालता हूं, ये उन्हें खाते रहते हैं।

हाईकोर्ट की बेंच ने लोकमान्य की सजा सख्त की जगह नरम कर दी थी। इस कारण उन्हें अपने कपड़े पहनने की छूट थी और जेल का कोई काम नहीं करना पड़ता था। धीरे-धीरे उन्हें बाहर से पुस्तकें मंगाने की भी अनुमति मिल गई थी। इस अवसर से लाभ उठाकर तिलक ने अपनी एक संचित अभिलाषा को पूरा करने की योजना बनाई। उनका विचार था कि

शंकराचार्य से लेकर रामानुजाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने भगवान् कृष्ण की वाणी की जो व्याख्याएं की हैं, वे अधूरी हैं। क्योंकि उनमें केवल ज्ञानपक्ष का पोषण किया गया, कर्मपक्ष की केवल उपेक्षा ही नहीं की गई, कहीं-कहीं विरोध भी किया गया है। लोकमान्य का मत था कि गीता का मुख्य उद्देश्य कार्ययोग की व्याख्या करना है। बहुत वर्षों से वह गीता का कर्मपरक भाष्य लिखने का संकल्प मन में संजोये हुए थे, परन्तु सार्वजनिक कार्यों में बहुत व्यस्त रहने के कारण उन्हें अवसर नहीं मिलता था। बम्बई सरकार ने छः वर्ष के कारागार के रूप में उनके पास जो विष का प्याला भेजा, उसे उन्होंने अमृत का घूंट बना लिया था। वह भगवद्गीता का भाष्य लिखने में लीन हो गये।

अपने जेल-जीवन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"वर्षों से मेरा यह विचार था कि भगवद्गीता पर आजकल जो टीकाएं प्रचलित हैं, उनमें से किसीमें उसका रहस्य ठीक प्रकार से नहीं बताया गया। अपने इस विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मैं पश्चिमी और पूर्वी तत्वज्ञान की तुलना करके भगवद्गीता का भाष्य लिखा।

"ग्रन्थ-लेखन के अतिरिक्त मैंने फ्रेंच, जर्मन और पाली भाषाओं का स्वयमेव अध्ययन किया। गणित, ज्योतिष आदि के चिन्तन में भी थोड़ा-बहुत समय दिया है और उसके सम्बन्ध में कुछ टिप्पणियां भी तैयार की हैं।

"यह कह सकते हैं कि सामान्यरूप से जेल में मेरी तबीयत ठीक रही। वर्ष में एकाध बार बुखार हो आता था। लेकिन कोई लम्बी बीमारी नहीं हुई। मधुमेह (डायबटीज) की बीमारी अवश्य बढ़ गई। बुढ़ापे के कारण पांच-छः दांत गिर गये। कान से कम सुनाई देने लगा और आंखों की ज्योति कुछ मन्द हो गई।"

लोकमान्य यदि राजनीति में प्रवेश न करते तो उनकी निःसन्देह संसार के अन्यतम महान् विचारकों और पंडितों में गणना होती, क्योंकि तब वह अपनी स्वाभाविक प्रतिभा को पूरी तरह शास्त्रीय दिशा में लगा सकते। परन्तु यह न हो सका, क्योंकि जिस देश में वह उत्पन्न हुए, वह दासता की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था और लोकमान्य की अन्तरात्मा ने देश की स्वाधीनता को अपनी शास्त्रीय प्रवृत्तियों से ऊंचा स्थान दिया। वह कहा करते थे "यदि मेरे जीवनकाल में देश स्वधीन हो गया तो मैं किसी शिक्षणालय में अध्यापन का काम करने लगूंगा।" ज्योंही उन्हें सरकार की कृपा से देश की स्वाधीनता के लिए जेल में चिन्तन और लेखन का खुला

अवसर मिला, उनकी स्वभाविक प्रवृत्तियां जाग उठीं, जिसका फल 'भगवद्गीता रहस्य' नाम के महान् ग्रन्थ के रूप में प्रकट हुआ। मांडले में अपनी एक नोटबुक के पहले पृष्ठ पर आपने पंडितराज जगन्नाथ का यह श्लोक लिखा था—

अम्भोजिनीवननिवास विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध्यकीर्तिमपहन्तुमसौ समर्थः॥

—यदि विधाता कुपित हो जाय तो वह हंस के कमलिनी वन में रहकर आनन्द लेना रोक सकता है, परन्तु दूध और पानी को अलग-अलग कर देने की उसकी प्रसिद्ध कीर्ति को नहीं छीन सकता।

जब इस प्रकार मन को सन्तोष देकर अतुल धैर्य से लोकमान्य जेल का समय काट रहे थे, तब उनपर एक और वज्राघात हुआ। सन् १९१२ के जून मास में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। कहते हैं कि जब उन्होंने सहधर्मिणी के निधन का वृत्तान्त सुना तब वह स्तब्ध हो गये, परन्तु उनकी आंखों से आंसू नहीं निकले। एक मित्र के इसका कारण पूछने पर आपने उत्तर दिया था—"क्या करूं? मैं देश के लिए अपने आंसू बहा चुका हूं। आंखों में आंसू बाकी नहीं रहे।" मृत्यु का समाचार सुनकर तिलक ने पूना को जो पत्र भेजा था, उसमें लिखा था—

"तार मिला, दिल को भारी आघात पहुंचा। यह सच है कि संकट आते हैं तो मैं उन्हें शान्ति से सह लेता हूं; परन्तु इस समाचार ने तो वस्तुतः मुझे भूकम्प की तरह झकझोर दिया है। हम लोग हैं तो हिन्दू ही। पति से पहले पत्नी मर गई; हरकोई कहेगा कि यह अच्छा हुआ। सबसे बड़ा दुःख मुझे इस बात का है कि अन्तिम समय में मैं उसके पास नहीं रह सका। मुझे सदा इसी बात का डर बना रहता था, और वैसा ही हुआ भी; परन्तु होनहार को कौन मिटा सकता है। मेरे जीवन का पहला भाग समाप्त हुआ और अब मुझे मालूम होता है कि दूसरा भाग भी शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है।"

जीवन-संगिनी की मृत्यु का समाचार सुनकर लोकमान्य के मन में जो विचार उत्पन्न हुए होंगे, उनका यह संक्षिप्त वर्णन है। इन पंक्तियों में जिस विचार-परम्परा को चित्रित किया गया है, वह एक कर्मयोगी के योग्य है।

अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में लोकमान्य मित्रों को पत्र लिखते रहे। वे भी एक कर्मयोगी के योग्य थे। वह मित्रों को सदा यह आश्वासन देते रहते थे कि स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित होने की कोई बात नहीं है, मैं सामान्य-

रूप से अच्छा ही हूं, और छूटने के समय तक ऐसा ही रहूंगा।

लोकमान्य के परम मित्र दादासाहब खापर्डे दो वर्ष तक विलायत में रहकर यह यत्न करते रहे कि कानून अथवा आवेदन की सहायता से उन्हें जेल से मुक्त करायें, परन्तु सरकार तिलक के नाम से भी डरने लगी थी। वह पग-पग पर खापर्डे के यत्नों का विरोध करती रही, यहांतक कि जब १९१० में इंग्लैंड के किंग जार्ज का राज्यारोहण हुआ, तब अन्य सैकड़ों कैदियों के साथ भी लोकमान्य को रिहा न किया गया।

इधर उन्होंने अपने मन को पूरे छः वर्ष के अन्त तक मांडले में रहने के लिए तैयार कर लिया था। उन्हें थोड़ा-सा आश्चर्य हुआ, जब ८ जून, १९१४ के प्रातःकाल जेल के सुपरिंटेंडेंट ने उनकी जेल-कोठरी में आकर यह सूचना दी कि अपना सामान बाध-बूंधकर जाने के लिए तैयार हो जाइये। उसी दिन शाम के समय उन्हें रेल से रंगून रवाना कर दिया गया। वहां से 'मियो' नाम के जहाज द्वारा वह मद्रास पहुंचाये गए और फिर मद्रास मेल से पूना के लिए रवाना किये गए। इस सारी यात्रा में उनके साथ बम्बई की पुलिस थी, जिसमें दो बड़े अधिकारी अंग्रेज थे। एक विशेष बात यह की गई कि सारी यात्रा में लोकमान्य को महाराष्ट्र की लाल पगड़ी, जो लोकमान्य का प्रसिद्ध परिधान था, पहनने की आज्ञा नहीं दी गई। कारण यह था कि लाल पगड़ी से लोग उन्हें पहचान लेते और छः साल के पश्चात् भी बम्बई सरकार के पांव कांप रहे थे। उन्हें डर था कि कहीं लोग उन्हें पहचानकर छुड़ा न लें, या प्रदर्शन न करें।

१६ जून की रात के समय लोकमान्य को पूना से कुछ दूर हडपसर स्टेशन पर उतार लिया गया और वहां से मोटर द्वारा पूना ले जाकर रात के दो बजे गायकवाड़ बाड़ा के द्वार पर पहुंचा दिया गया। रात के समय गायकवाड़ बाड़ा का द्वार बन्द रहता था। द्वार खटखटाने पर चौकीदार ने द्वार खोला, परन्तु छः वर्ष के जेल-जीवन ने लोकमान्य के रूप में इतना परिवर्तन कर दिया था कि चौकीदार उन्हें पहचान न सका। तब लोकमान्य ने अपने दामाद धोंडोपन्त विद्वांस को द्वार पर बुलवाया। विद्वांस ने लोकमान्य को पहचान लिया। विस्मय और हर्ष से सराबोर होकर उन्होंने पांव पकड़ लिये। उनकी आंखों से आनन्द के आंसू बह निकले। इस प्रकार लगभग डेढ़ मास कम छः वर्षों के पश्चात् तिलक फिर अपनी कर्म-भूमि में वापस पहुंच गये।

प्रातःकाल होते-होते पूना-भर में समाचार फैल गया कि तिलक गायकवाड़ बाड़ा में पहुंच गये। अगले दिन दर्शनार्थियों की भीड़ लग गई। पूना

निवासियों ने सार्वजनिक सभा करके अपने पूज्य नेता की रिहाई पर हर्ष प्रकट करते हुए उन्हें विश्वास दिलाया कि हम अब भी आपको अपना नेता मानते हैं।

दूसरे दिन तिलक के छूटने का समाचार देशभर में फैल गया, जिससे देश-भक्तों के हृदय मानों छः वर्ष के सूखे के पश्चात् हरे हो गये।

: ३३ :

तिलक और गोखले

भारतीय राजनीति के उस युग में हमें देश के दो सपूत एक ही लक्ष्य से प्रेरित परन्तु भिन्न-भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई देते हैं। तिलक और गोखले के जीवन का एक ही लक्ष्य था—देश को दासता से छुड़ाना। दोनों ने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भ से ही अपने-आपको उस लक्ष्य की पूर्ति के समर्पण कर दिया था। उच्च सांसारिक पद और विपुल धन की प्राप्ति के अवसरों के होते हुए भी दोनों ने सारा जीवन तपस्वियों की तरह व्यतीत किया। इस प्रकार व्यक्तिगत गौरव में समान होते हुए भी दोनों महापुरुषों की प्रवृत्तियों में बहुत भेद था। कभी-कभी तो वे प्रवृत्तियां सर्वथा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रतीत होती थीं। दोनों के स्वभाव-भेद को सूचित करने के लिए वही दो शब्द सर्वोत्तम हैं, जो उस समय उनके अनुयायी दलों के लिए प्रयुक्त होते थे। लोकमान्य तिलक स्वभाव से गर्म थे और देशरत्न गोखले स्वभाव से नर्म।

दोनों महापुरुषों की प्रवृत्तियों के भेद को समझने के लिए हमें उनकी विचारधाराओं पर दृष्टि डालनी होगी। गोखले का हृदय पूर्ण रूप से भारतीय था, परन्तु उनका मन इंग्लैण्ड की उस समय की उदार राजनीति से प्रभावित था। उन्हें न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे के पट शिष्य कहा जाता था। रानडे उदार नीति के उत्कृष्ट नमूने थे। उनका ध्येय था, भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहते हुए समृद्ध और अधिकार-सम्पन्न बनाना। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए वह वैधानिक रीति से और शान्त उपायों से यत्न करना चाहते थे। उनका ईमानदारी से यह मत था कि भारत का इंग्लैण्ड के अधीन होना परमात्मा की कृपा का फल है। इसके बिना न उसमें जागृति हो सकती थी, और न एकता आ सकती। रानडे और गोखले को विश्वास था कि ब्रिटेन के निवासियों के हृदय स्वाधीनता के अटल प्रेमी हैं। यदि उनके हृदयों तक हमारी बात पहुंच जायगी, तो वे उसे अवश्य स्वीकार कर लेंगे।

लोकमान्य की विचारधारा इससे सर्वथा विपरीत थी। उसका

आधार था, भारत का प्राचीन धर्म, प्राचीन साहित्य और प्राचीन गौरव। उनके चरित्र की नींव देश की प्राचीन परम्पराओं पर रक्खी गई थी।

उन्होंने प्रारम्भ में जो अनुसन्धानात्मक ग्रन्थ लिखे, उनका विषय हमें उस समय में ले जाता है, जब अभी शेष संसार अर्द्धजाग्रत दशा में था। 'ओरियन' और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' में उनकी प्रतिभा मानव-जाति के जीवन के उषाकाल में भ्रमण करती प्रतीत होती है। 'भगवद्-गीता रहस्य' में वह देश के गौरवमय आर्ष काल में उतर आते हैं। उसमें उन्होंने गीता-भाष्य को आधार बनाकर, भारतीय दृष्टि से मनोविज्ञान और कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का सुविस्तृत विवरण दे दिया है। जैसे हमने इससे पूर्व अध्याय में बतलाया है, लोकमान्य की कार्यनीति को समझना हो तो 'भगवद्गीता-रहस्य' को सावधानी से पढ़ना चाहिए।

उनके चरित्र की मौलिक विशेषताएं गीता पर अवलम्बित थीं, तो उनकी तत्कालीन राजनीति छत्रपति शिवाजी और उनके उत्तरवर्ती शासकों के राजनीति से प्रभावित थी। यही कारण था कि वह भारत के राजनैतिक आन्दोलन को न ऊंची सरकारी नौकरियों की परिभाषा में सोच सकते थे, और न औपनिवेशिक स्वराज्य की परिभाषा में। उनके प्रत्येक भाषण, प्रत्येक लेख और प्रत्येक राजनैतिक कार्य में स्वराज्य अर्थात् सर्वथा स्वाधीन भारत की गूंज सुनाई देती थी।

यह था लोकमान्य तिलक और देशभक्त गोखले के राजनैतिक कार्य-क्रमों का मौलिक भेद। तिलक की दृष्टि देश के प्राचीन तेजस्वी इतिहास पर थी, तो गोखले की दृष्टि महान् ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि उपनिवेशों की ओर थी। तिलक भारत की जनता की ओर देखते थे, तो गोखले ब्रिटेन के लिबरल और लेबर नेताओं की ओर। देशभक्ति, स्वार्थत्याग, ऊंचे दर्जे का पवित्र जीवन और अनथक कार्यशक्ति में समानता होते हुए भी इस मौलिक भेद के कारण देश के वे दोनों सपूत जीवन-भर आपस में टकराते रहे और उनके साथ ही उनके नेतृत्व में चलने-वाले दोनों दल भी एक-दूसरे से दूर-ही-दूर होते गये।

लोकमान्य के मांडले से लौटने पर कुछ समय के लिए राजनैतिक वातावरण सुलझता-सा प्रतीत होने लगा था। मुक्त होने के पश्चात् यह प्रश्न होने पर कि अब उनका किस विधि से कार्य करने का विचार है, तो उन्होंने उत्तर दिया था कि छः वर्ष के अन्दर देश की राजनैतिक स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। अब कार्यनीति का निश्चय करने में मुझे समय लगेगा। एक समीपस्थ कार्यकर्ता आलोचक के यह टिप्पणी करने पर कि आपकी टोन नर्म क्यों हो गई है, तिलक महाराज ने उत्तर दिया था कि मेरे

बार तुम लोगों ने दशा को इतना विगड़ जाने दिया है कि मेरे लिए भावी कार्यक्रम का एकदम निश्चय करना कठिन हो गया है।

लोकमान्य परिस्थिति का विवेचन कर ही रहे थे कि ४अगस्त, १९१४ को यूरोप का पहला विश्वव्यापी युद्ध छिड़ गया। जर्मनी की सेनाओं ने बैल्जियम की सीमाओं को पार कर लिया, जिससे लगभग सारे यूरोप और अन्त में एशिया के अनेक देशों और अमरीका को भी युद्ध में कूदना पड़ा। भारत ब्रिटिश-साम्राज्य का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था, इस कारण वह भी युद्ध में घसीटा गया। संकट में फंसे हुए शत्रु को भी परेशान नहीं करना चाहिए, कुछ इस भावना से प्रेरित होकर और कुछ यह सोचकर कि यदि इस समय हम अंग्रेजों की सहायता करेंगे तो अंग्रेज कृतज्ञ होकर हमें, हमारे उचित राजनैतिक अधिकार छोड़ देंगे, लोकमान्य ने 'केसरी' में और वक्तव्यों में, संकट काल में मदद देने की तत्परता प्रकट की। तिलक की इस नर्म प्रवृत्ति को देखकर सरकार भी कुछ नर्म हो गई और जेल से आने पर 'केसरी'-आफिस के पास पुलिस की जो चौकियां विठा दी गई थीं, वे उठा ली गईं। लोकमान्य किसी काम को आधे दिल से करनेवाले नहीं थे। जो सोच लेते थे, उसे करने में पूरी शक्ति लगा देते थे। जब उन्होंने युद्ध में इंग्लैंड को सहायता देने का निश्चय किया, तब उस निश्चय को सरकार तक स्पष्टता से पहुंचाने के लिए बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्टन से मुलाकात की। वह मुलाकात पूना के गवर्नमेंट हाउस में १० अक्तूबर, १९१४ को हुई।

इन्हीं दिनों श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने भारत की राजनीति में प्रवेश किया। उनका देश के एक बड़े शिक्षित समुदाय पर बहुत प्रभाव था। उन्हें थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्ष होने के नाते धार्मिक महत्ता तो प्राप्त थी ही, संसार के गिने-चुने ऊंची कोटि के वक्ताओं में गणना होने से उनकी ख्याति भारत और भारत से बाहर भी फैली हुई थी। जिस समय लोकमान्य तिलक और अनेक राष्ट्रीय नेता जेलों में बन्द थे और नर्मदल की कांग्रेस जनता से सम्पर्क खो चुकी थी, उस समय श्रीमती ऐनी बेसेण्ट का राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण समयोचित हुआ। देशभक्तों की उदासी के अन्धकार में प्रकाश की किरणें दिखाई देने लगीं।

१९१४ में मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। ऐनी बेसेण्ट उसमें भाग लेने जा रही थीं। आपने माडरेट नेताओं के सामने प्रस्ताव रक्खा कि कांग्रेस के नियमों में ऐसा संशोधन कर दिया जाय, जिससे राष्ट्रीय पक्ष के लोग उसमें प्रवेश कर सकें। प्रस्ताव सामयिक था, क्योंकि नर्म दल के गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेता भी सोचने लगे थे कि युद्ध के कारण तिलक के विचारों में जो नर्मी आई है, उससे लाभ उठाया जाय और

गर्म दल के लिए राष्ट्रीय महासभा का द्वार खोल दिया जाय। फलतः कांग्रेस की ओर से सुलह की बातचीत करने का काम श्रीमती ऐनी बेसेण्ट और कांग्रेस के मन्त्री श्री सुब्बाराव को सौंपा गया।

श्रीमती ऐनी बेसेण्ट और श्री सुब्बाराव लोकमान्य तिलक और देशरत्न गोखले से मिलकर बातचीत करने के लिए पूना गये। उन दिनों गोखले बहुत रोगी थे। लोक-हितकारी कामों में रात-दिन की भाग-दौड़ और अत्यधिक दिमागी परिश्रम के कारण इनका स्वास्थ्य कुछ समय से गिर रहा था। मधुमेह के रोग ने उनके शरीर को जर्जरित कर दिया था। श्रीमती ऐनी बेसेण्ट पूना में उनके सर्वेण्ट्स आव इण्डिया सोसायटी के भवन में ठहरीं और दोनों नेताओं से पृथक्-पथक् बातचीत की। बातचीत से जो अनुकूल वातावरण बना, उसका एक फल यह हुआ कि जब तिलक ऐनी बेसेण्ट से जवाबी मुलाकात के लिए सोसायटी में गये तब वह गोखले से भी मिले। इस भेंट का विशेष महत्व यह था कि दोनों नेताओं का वर्षों के पश्चात् परस्पर साक्षात्कार हुआ।

अभी ऐनी बेसेण्ट और सुब्बाराव का प्रयत्न प्रारम्भिक सफलता की हालत में ही था कि दोनों दलों के कुछ प्रमुख व्यक्तियों की ओर से उसका विरोध आरम्भ हो गया। लोकमान्य के अनुयायियों में से डा० मुंजे आदि तीव्र विचारों के लोग एक यूरोपीय महिला द्वारा किये गए मेल के प्रयत्नों को बहुत अविश्वास की दृष्टि से देखते थे। श्रीयुत गोखले के साथियों में से सर फीरोजशाह मेहता मेल के सर्वथा विरोधी थे। सर फीरोजशाह मेहता बम्बई के शेर कहलाते थे। बहुत सफल वकील और प्रभावशाली व्यक्ति होने के अतिरिक्त वह कुशल प्रशासक भी थे। इतने प्रकार की सफलताओं का एक कारण उनकी सर्वसम्मत योग्यता थी, तो दूसरा कारण इनकी वज्र के समान दृढ़ इच्छा-शक्ति थी। देशरत्न गोखले नर्मदल के दिमाग़ी नेता थे, तो फीरोजशाह मेहता उसके व्यवस्थापक और तानाशाह थे। उनकी इच्छा-शक्ति लोकमान्य की टक्कर की थी। भेद इतना था कि लोकमान्य ने देश की स्वाधीनता के लिए सर्वत्याग किया हुआ था और सर फीरोजशाह मेहता के लिए राजनीति खाली समय की एक धुन थी। यह सब लोग जानते थे कि जैसे एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते वैसे तिलक और मेहता भी एक मंच पर चिरकाल तक नहीं ठहर सकते। यही कारण था कि मेहता तिलक के कांग्रेस-प्रवेश से डरते थे।

इधर लोकमान्य की धारणा यह थी कि यदि हम कांग्रेस में रहकर देश की स्वाधीनता के लिए यत्न करेंगे, तो बहुत शीघ्र कांग्रेस और उसके साथ-साथ सारा राष्ट्र हमारे साथ हो जायगा। इस विश्वास पर वह कुछ नर्म

होकर भी कांग्रेस में शामिल होने के लिए उत्सुक थे।

जब लोकमान्य तिलक और देशरत्न गोखले जैसे दो सर्वमान्य नेता परस्पर मिले, तो स्वभावत: देशभर ने एक सन्तोष की सांस ली। यह आशा होने लगी कि राष्ट्र के दो मुख्य दलों की फूट समाप्त हो जायगी, और फिर एक बार राष्ट्रीय महासभा की व्याख्यान-वेदी पर देश के सब नेता एकत्र होंगे, परन्तु हुआ इसके विपरीत ही। जब मद्रास में श्री भूपेन्द्रनाथ वसु की अध्यक्षता में कांग्रेस विषय-निर्वाचनी समिति के अधिवेशन में मेल का विषय उपस्थित हुआ और श्रीमती बेसेण्ट ने यह आशा प्रकट की कि दोनों दलों के मतभेद दूर हो जायंगे, तो अध्यक्ष ने गोखले का पत्र पढ़कर सुनाया, जिसने मेल की आशाओं पर तुषारपात कर दिया। उस पत्र में मेल के सम्बन्ध में तिलक से हुई बातचीत का उल्लेख करते हुए लिखा था—

> "मुझे आशा थी कि यदि हम कांग्रेस से अलग हुए लोगों को कुछ छूट देकर अन्दर ले सकें, तो वे वर्तमान कार्यनीति के अनुसार कार्य करने में हमारा साथ देंगे। क्योंकि वे अन्य उपायों से कार्य करने की असम्भवता को देख चुके हैं। वह आशा जाती रही। मि० तिलक ने मि० सुब्बाराव को साफ कह दिया है कि यद्यपि वह कांग्रेस क्रीड को स्वीकार करते हैं, परन्तु वह कांग्रेस की वर्तमान कार्यनीति को स्वीकार नहीं करते। वर्तमान नीति का आधार यह है कि जहांतक सम्भव है, सरकार से सहयोग किया जाय और जब आवश्यक हो तब विरोध किया जाय। इसके स्थान पर मि० तिलक का मत है कि संविधान के अन्दर रहते हुए सरकार का हर प्रकार से विरोध किया जाय। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वे आयर्लैण्डवासियों की अड़ंगा-नीति को अपनाना चाहते हैं।"

इस पत्र का असर यह हुआ कि मेल की चर्चा लगभग समाप्त हो गई, परन्तु श्रीमती बेसेण्ट जोर देती रहीं, इस कारण आगे विचार करने के लिए एक उपसमिति बना दी गई, जिसका नतीजा यह हुआ कि मामला खटाई में पड़ गया।

जब यह सारी घटना समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई तो लोकमान्य को बहुत दुःख हुआ। उनका विक्षुब्ध होना स्वाभाविक भी था। उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस को शक्तिसम्पन्न बनाने के लिए उन्होंने जो नर्मी दिखाई, उसे निर्बलता का चिह्न समझा गया है और उनकी स्पष्ट घोषणाओं को विश्वास के योग्य नहीं माना गया। अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए लोकमान्य ने 'केसरी' में एक लेख लिखा, जो 'ज्ञान-प्रकाश' आदि

माडरेट पत्रों के उत्तर में लिखा गया था। उसका शीर्षक था 'चोराच्या उलट्या बोंबा'—उलटा चोर कोतवाल को डांटे—लेख में लोकमान्य ने अपनी बामुहाविरा और जोरदार शैली में उन लोगों के आक्षेपों का करारा उत्तर दिया था, जिन्होंने भाव को उलटा समझाना चाहा, या उनके वक्तव्यों पर अविश्वास प्रकट किया। बहस गोखले के पत्र पर चली थी, इस कारण उन्हें भी थोड़ा-बहुत 'केसरी' के नाखूनों का शिकार बनना पड़ा। इस प्रसंग में लोकमान्य ने लिखा था—

"गोखले काय किंवा तिलक काय, दोघांच्याहि गोवऱ्या बहुतेक ओंकारेश्वरावर गेल्या आहेत असे म्हणण्यास हरकत नाहीं।" अर्थात् तिलक और गोखले दोनों की ही शव-यात्रा मरघट के आधे रास्ते को पार कर चुकी है।

इस वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट था कि तिलक और गोखले दोनों अब बूढ़े होकर मृत्यु के समीप पहुंच चुके हैं। परन्तु दुर्दैव का प्रकोप ऐसा हुआ कि लेख निकलने के दस दिन बाद ही देशरत्न गोखले की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई।

उस अप्रिय घटना से भी तिलक के विरोधियों ने लाभ उठाने की चेष्टा की। उन्होंने यह टिप्पणी की कि गोखले की मृत्यु 'केसरी' के लेख के कारण ही हुई है। किसीने कहा कि 'केसरी' का लेख इतना कठोर था कि गोखले का भावुक और नाजुक हृदय उसे न सह सका। किसीने लिखा कि तिलक ने अपने लेख में श्मशान-यात्रा का उल्लेख करके जो अपशकुन किया था, वही मृत्यु का कारण हुआ। यह माना जा सकता है कि 'केसरी' के लेख से गोखले महोदय को दुःख हुआ हो, परन्तु यदि उस लेख को पढ़ें तो उसमें कोई असामान्य तीखापन प्रतीत नहीं होता। 'केसरी' के सम्पादकीय लेखों की चोट सदा वैसी ही होती थी। फिर लोकमान्य ने जो लेख लिखा था, वह अपने ऊपर लगाये गए निर्मूल आरोपों की सफाई में था। तिलक की आयु गोखले से दस वर्ष बड़ी थी। वह भी जेल से निर्बल होकर आये थे और मधुमेह के रोगी थे। स्पष्ट है कि उस लेख में और देशरत्न गोखले के स्वर्गवासी होने में सम्बन्ध जोड़ना आलोचकों के हृदयों की क्षुद्रता को सूचित करता था।

विचारों में तीव्र भेद रहते भी तिलक अपने राजनैतिक प्रतिपक्षी की देश-भक्ति, उनके स्वार्थ-त्याग और उनकी योग्यता का कितना आदर करते थे, यह तब स्पष्ट हो गया, जब मृत्यु का अशुभ संवाद सुनकर वह सिंहगढ़ से पूना आ गये और श्मशान-यात्रा में शामिल हुए। अन्त्येष्टि-क्रिया के अवसर पर लोकमान्य ने जो वाक्य कहे, वे उनके हृदय के असली भावों को

सूचित करनेवाले हैं। उनके खड़े होने पर लोगों ने तालियां वजाईं। उन्होंने कहा—

"यह समय तालियां वजाने का नहीं है। यह आंसू वहाने का समय है। गोखले की मृत्यु से हमारी कितनी वड़ी हानि हुई है, उसे प्रकट करने के लिए हम यहां इकट्ठे हुए हैं। भारत-भूमि का यह हीरा, महाराष्ट्र का यह रत्न, देश का श्रेष्ठ सेवक, आज इस श्मशान भूमि में चिरंतन शान्ति के लिए सो रहा है। उसका दर्शन करो और उसके समान कार्य करने के लिए कटिवद्ध हो जाओ। उसके वताये हुए मार्ग पर हम चलेंगे तो परलोक में भी उसे आनन्द होगा।"

गोखले में पूर्व और पश्चिम का अद्भुत मेल था। जहां वह भारत के तपस्वी व्राह्मणों की भांति सादे और निःस्वार्थ कर्मयोगी थे, वहां साथ ही वह इंग्लैंड के लिवरल नीतिज्ञों की तरह नर्म और समझौतावादी भी थे। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यदि उनका किसी स्वाधीन देश में जन्म हुआ होता तो वह वहां के अत्यन्त सफल प्रधान मन्त्री सिद्ध होते।

: ३४ :

लखनऊ में त्रिवेणी-संगम

देशरत्न गोखले की मृत्यु से अग्रगामी दल के कांग्रेस में पुनरागमन की बातचीत कुछ समय के लिए रुक गई। गोखले उत्कृष्ट प्रतिभा और सावधानता से विभूषित होते हुए भी बहुत भावुक व्यक्ति थे। उनकी शीतलता की तह में आग का अंश भी था। इस कारण उनकी अन्तरात्मा लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायियों के कांग्रेस से पृथक् हो जाने के कारण दुःखी थी और वह हृदय से चाहते थे कि समझौते का कोई रास्ता निकल आये, परन्तु उनके एक साथी ऐसे थे, जो अग्रगामी दल को कांग्रेस से बाहर रखने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। वह थे सर फीरोजशाह मेहता, सर फीरोज शाह मेहता मानो एक सत्तात्मक शासन करने के लिए ही उत्पन्न हुए थे। वह ऊंची कोटि के कानूनदां और विद्वान् होने के अतिरिक्त बहुत प्रभावशाली वक्ता थे। उनका व्यक्तित्व भी बहुत रोबीला था। अग्रगामी दल और उसके प्रमुख नेता बालगंगाधर तिलक के प्रति उनके मन में ऐसी विरोध की भावना उत्पन्न हो गई थी कि वह घृणा या आतंक तक पहुंच गई थी। अग्रगामी दलवालों का कहना था कि सूरत की मराठा जूती को वह जीवन-भर न भुला सके। उन्हें विश्वास हो गया था कि यदि तिलक कांग्रेस में रहे तो मेहता के लिए उसमें स्थान नहीं रहेगा। ५ नवम्बर, १९१५ को बम्बई के उस शेर का देहान्त हो गया। लोकमान्य ने उनकी मृत्यु पर जो टिप्पणी लिखी थी, वह उनकी उत्कृष्ट महान् भावना को सूचित करती है। उन्होंने कहा—

"इस परतंत्र देश में नौकरशाही शासन के नीचे ऊंची योग्यता के होते हुए भी स्वतंत्रता, निर्भयता, दृढ़ निश्चय आदि नेतृत्व के गुण विकसित नहीं होते, किन्तु देश का सौभाग्य था कि सर फीरोजशाह मेहता में ये गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान थे। उनकी मृत्यु से देश को भारी हानि पहुंची है।"

सर फीरोजशाह मेहता कन्वन्शिया कांग्रेस के स्तम्भ थे। गोखले के पश्चात् वही उसके जीवनाधार थे। उनके चले जाने से कांग्रेस में अग्रगामी दल के प्रवेश की सम्भावना बढ़ गई।

इसी बीच होमरूल लीग की स्थापना हो चुकी थी। समझौते के सम्बन्ध में गोखले से बातचीत करते हुए लोकमान्य तिलक ने यह विचार प्रकट किया था कि यदि उनके समान विचार रखनेवाले लोगों को कांग्रेस में रहकर कार्य करने का अवसर न मिला, तो वे एक अलग संगठन बनाकर कार्य करेंगे। सम्भवतः इसी विचार की गंध पाकर श्रीमती ऐनी बेसेंट ने मद्रास में १९१५ के सितम्बर मास में होमरूल लीग की स्थापना कर दी थी। ऐनी बेसेंट आयरिश थीं। आयलैंड के देश-भक्तों ने होमरूल के झण्डे के नीचे लड़कर स्वाधीनता का संग्राम जीता था। स्वाभाविक ही था कि वह उसी नाम को भारत के स्वाधीनता-संग्राम के लिए भी पसन्द करतीं। ईधर लोकमान्य एक अलग राजनैतिक संगठन बनाने की बात सोच ही रहे थे। उसी वर्ष के अन्त में उन्होंने होमरूल लीग की स्थापना की घोषणा करते हुए यह विचार प्रकट किया कि मद्रास और पूना की होमरूल लीग एक ही उद्देश्य से मिलकर काम करेगी और एक-दूसरे की पूरक होगी। होमरूल आन्दोलन की पुष्टि में लोकमान्य ने तीन जबरदस्त अग्रलेख लिखे, जिन्होंने देश के सोये हुए-से वायु-मण्डल में जीवन की सरसराहट उत्पन्न कर दी।

यह देखकर कि तिलक फिर देश की कमान संभालने को उद्यत हो रहे हैं, सरकार के हृदय में धुकधकी पैदा हो गई। वह उनका मुंह बंद करने के लिए हाथ-पांव मारने लगी। १९१६ के अप्रैल मास में बेलगांव में पॉलिटिकल कान्फ्रेंस का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें लोकमान्य ने 'सम्मिलित कांग्रेस' के समर्थन में जो भाषण दिया था, उसमें जहां उनके गर्म अनुयायियों को नर्मी की झलक दिखाई दी, वहां सरकार को उसमें राजद्रोह की बू आई। उसी वर्ष एक और घटना भी हो गई, जिसने सरकार को घबराहट में डाल दिया। लोकमान्य के सर्वश्री केलकर, खरे, करन्दीकर, देशपाण्डे आदि मुख्य अनुयायियों ने निश्चय किया कि उनकी ६० वीं वर्षगांठ के अवसर पर श्रद्धा-पुष्प के तौर पर, एक लाख रुपयों की थैली भेंट की जाय। २३ जुलाई को एक सार्वजनिक सभा में उन्हें एक सम्मान-पत्र संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी में भेंट किया गया, और लगभग एक लाख की थैली अर्पित की गई।

इन लक्षणों से सरकार को भविष्य में आनेवाले संकट का आभास मिल गया और वह फिर से शेर को पिंजरे में बन्द करने के उपाय सोचने लगी। २३ जुलाई के प्रातःकाल लोकमान्य को नोटिस मिला कि "तुम ८ जुलाई को डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट की अदालत में हाजिर होकर कारण बतलाओ कि बेलगांव और अहमदनगर के भाषणों के आधार पर तुम्हें क्यों

दोषी न ठहराया जाय, और एक साल के लिए नेकचलनी की जमानत क्यों न ली जाय ?'

७ अगस्त को डी० एम० की अदालत में मुकदमा पेश हुआ। तिलक की ओर से मि० मुहम्मदअली जिन्ना ने पैरवी की। चार दिन तक अभियोग चला, अन्त में डी० एम० मि० हैच ने फैसला दिया कि तिलक एक साल के लिये नेकचलनी की दस-दस हजार की दो जमानतें दें। फैसला स्पष्ट रूप से इतना अन्यायपूर्ण और झूंठा था कि हाईकोर्ट में जाकर रद्द हो गया। हाईकोर्ट में लोकमान्य की पैरवी मि० जिन्ना, मि० बैप्टिस्टा और मि० इरूनकर ने की थी। हाईकोर्ट के फैसले का तात्कालिक प्रभाव बहुत अच्छा हुआ। सैकड़ों ऐसे व्यक्ति जो अबतक होमरूल लीग के सदस्य बनने में हिचकिचा रहे थे, सदस्य बन गये और गोरे अखबार टाइम्स ऑव इंडिया के सम्पादक ने अपने उस लेख के लिए क्षमा मांग ली, जो उसने मि० हैच के फैसले के आधार पर लिखा था।

सन् १९१५-१६ में कई कारण ऐसे हो गये थे, जिनसे कांग्रेस के दोनों दलों में एकता होने की सम्भावना बढ़ गई थी। नर्म दल के नेता भी समझने लगे थे कि जबतक जनता का बल उनका सहायक न होगा, सरकार में उनकी सुनवाई नहीं हो सकती, और जनता का झुकाव लोकमान्य और उनके समान विचार रखनेवाले अग्रगामी नेताओं की ओर था। इधर मि० जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने भी कांग्रेस की राजनैतिक मांगों का समर्थन करने की प्रवृत्ति प्रकट की थी। १९१५ के अन्त में बम्बई में कांग्रेस ने अपने क्रीड (निष्ठा) में ऐसे परिवर्तन कर दिये थे कि यदि कांग्रेस में आना चाहें, तो गर्म दल के लोगों के लिए कोई रुकावट न रहे। परिणाम यह हुआ कि जब १९१६ के अन्त में दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन होने लगा, तब वातावरण मिलाप के सर्वथा अनुकूल हो गया। दिसम्बर के आरम्भ में लखनऊ में होनेवाली कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष बाबू अम्बिकाचरण मजूमदार का एक पत्र लोकमान्य को मिला, जिसमें इस बात पर हर्ष प्रकट करते हुए कि लोकमान्य और उनके साथी लखनऊ आ रहे हैं, परस्पर मिलकर बातचीत द्वारा भावी कार्य-क्रम का निश्चय करने की इच्छा प्रकट की थी।

तिलक की लखनऊ-यात्रा मानो एक योद्धा की विजय-यात्रा थी। अपने मित्रों, सहयोगियों और अनुयायियों के साथ, वह स्पेशल ट्रेन द्वारा २३ दिसम्बर को कल्याण से लखनऊ के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर सहस्रों नर-नारी उपस्थित थे। तिलक महाराज की जय के नारों से गगन-मण्डल गूंज रहा था। रास्ते में सभी बड़े-बड़े स्टेशनों पर जनता ने एकत्र होकर

अपने तपस्वी नेता का अभिनन्दन किया। स्पेशल ट्रेन कानपुर होती हुई २५ दिसम्बर के मध्याह्न में लखनऊ के चारबाग स्टेशन पहुंची, तब अगणित जनता ने उनका स्वागत किया। स्टेशन के अन्दर-बाहर दर्शनार्थियों की अपार भीड़ थी और सब जगह एक ही नारा था—'तिलक महाराज की जय'। कहीं-कहीं यह नारा बदलकर तिलक भगवान् की जय का रूप भी ले लेता था। जब 'स्टेशन से तिलक महाराज' की सवारी रवाना हुई तो जोशीले नौजवानों ने गाड़ी के घोड़े खोल दिये, और स्वयं गाड़ी में जुत गये। महाराष्ट्र की मण्डली के ठहरने का प्रबन्ध अमीनाबाद पार्क की छेदीलाल की धर्मशाला में हुआ था। भीड़ और मार्ग के स्वागत अभिनन्दनों के कारण स्टेशन से धर्मशाला तक पहुंचने में लोकमान्य की गाड़ी को चार घण्टे लगे।

कांग्रेस का लखनऊ-अधिवेशन देश की स्वधीनता के इतिहास में विशेष स्थान रखता है। वहां मानो त्रिवेणी का संगम हो गया। कांग्रेस की वेदी पर गर्म दल, नर्म दल, और मुस्लिम लीग—तीनों मिल गये। वहीं पर पहले-पहल गांधीजी, तिलक महाराज और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक-साथ कांग्रेस के मंच पर दिखाई दिये। मानो राष्ट्रीय महासभा का उजड़ा हुआ घर फिर से आबाद हो गया।

कांग्रेस-मण्डप में लोकमान्य के प्रवेश के समय इन पंक्तियों का लेखक भी सम्मिलित था। उसके हृदय पर उस दृश्य का जो प्रभाव पड़ा, वह निम्नलिखित विवरण से प्रकट होगा, जो अधिवेशन के कुछ दिन बाद ही लिखा गया था—

> "मैं अधिक भावुक प्राणी नहीं हूं, तो भी मैं उस समय भावुकता की पराकाष्ठा तक पहुंच गया था। यदि सभापति का अथवा लोकमत का भय न होता तो अपने स्थान से उठकर अवश्य ही तिलक महाराज के चरण पकड़ लेता। जब वह आसन पर आसीन हो गये, तब मैं बहुत देर तक उनकी ओर टकटकी लगाकर देखता रहा। उनके मुखमण्डल पर असाधारण बुद्धि, गम्भीरता और तपश्चर्या के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे थे। थोड़ी देर तक उनके शान्त चेहरे को देखते हुए यह प्रतीत होने लगता था कि हम सचमुच एक क्रान्तिकारी को देख रहे हैं। माथे पर विचार की रेखाएं थीं, आंखें चेतन और स्थिर थीं, ओष्ठ दृढ़ता से मिले हुए थे और मुद्रा स्तब्ध थी, मानो क्रान्ति का शरीरधारी पुतला हो।"

अभिनन्दन की गड़गड़ाहट के शान्त होने पर लोकमान्य ने जो भाषण दिया, उसमें कहा—

"मैं जानता हूं कि ये तालियां मेरे लिए नहीं हैं, अपितु उन सिद्धान्तों के लिए हैं, जिनके लिए मैं आजतक लड़ता रहा हूं। हमने हुगली के किनारे स्वराज्य की जो घोषणा की थी, आज उसे दस वर्ष हो गये हैं। बाद में हमारे अन्दर कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये, जो लम्बे अर्से तक चलते रहे। आज मुझे इस बात पर बहुत आनन्द हो रहा है कि स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए हम सब एक मंच पर इकट्ठे हो गये हैं।"

कांग्रेस की बैठकों के अतिरिक्त, उन्हीं दिनों में, लखनऊ में मुस्लिम लीग की बैठकें भी हो रही थीं, उसमें कांग्रेस से समझौते की चर्चा होने के समय अन्य हिन्दू नेताओं के साथ लोकमान्य भी उपस्थित होते रहे। यद्यपि वह मुस्लिम लीग के नेताओं से ऐसा समझौता करने के विरोधी थे, जिसमें ऐसे विशेष अधिकार दिये जायं, जिनसे भविष्य में कठिनाइयां उत्पन्न होने की सम्भावना हो, तथापि उस समय एकता के वातावरण को बढ़ावा देने लिए उन्होंने मुसलमानों को उनके अनुपात से कुछ अधिक प्रतिनिधित्व देना स्वीकार कर लिया था। यह विशेष रूप से स्मरणीय है कि कांग्रेस-लीग-समझौते की उन बैठकों में महात्मा गांधी मुख्य भाग ले रहे थे। समझौते की शर्तों में भी उनकी भावना झलक रही थी।

२८ दिसम्बर को खुले अधिवेशन में स्वराज्य-सम्बन्धी जो प्रस्ताव बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के प्रस्ताव, श्रीमती बेसेण्ट के अनुमोदन और लोकमान्य के समर्थन के पश्चात् स्वीकृत हुआ, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि उसपर माडरेट और अग्रगामी दल के लोगों के अतिरिक्त मुस्लिम लीग के नेता भी सहमत थे।

: ३५ :

स्वराज्य का आन्दोलन

सन् १९१७ में देश में घटनाचक्र वेग से चलने लगा। लोकमान्य तिलक और श्रीमती ऐनी बेसेण्ट जैसे दो व्यक्तियों के नेतृत्व में स्वराज्य (होमरूल) का आन्दोलन सूखे जंगल में दावाग्नि की तरह देशभर में फैल रहा था। भारत से युद्ध में सहायता लेने के लिए इंग्लैंड के राजनैतिक नेताओं ने जो भारतीय सेनाओं और आर्थिक सहायता देनेवाले अर्थपतियों की प्रशंसा के पुल बांधे, उनसे नर्म दल के नेताओं और सामान्य देशवासियों के हृदयों में यह पूरी आशा जाग रही थी कि अब इंग्लैंड भारत की सेना और सिविल शासन में भारतीयों को बहुत ऊंचे पद देनेवाले हैं। उधर युद्ध का मैदान अधिकाधिक गर्म होता जा रहा था, जिसका फल यह हुआ कि इंग्लैंड को भारत से और अधिक आर्थिक और सिपाहियों की भर्ती-सम्बन्धी सहायता की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। इन तीनों कारणों ने मिलकर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जैसी त्रिदोष के रोगी की होती है। त्रिदोष के रोगी का या तो तुरन्त इलाज हो जाना चाहिए, अन्यथा रोग असाध्य हो जाता है। भारत का वातारण भी ऐसी ही विस्फोटक बेचैनी से भर गया था।

लखनऊ का अधिवेशन समाप्त होते ही लोकमान्य सारी शक्ति से होम-रूल आन्दोलन में लग गये। लखनऊ से वह सीधे कानपुर पहुंचे, जहां उन्हें संस्कृत में मानपत्र दिया गया। उसका उत्तर देते हुए अपने भाषण में जहां उन्होंने शीघ्र-से-शीघ्र स्वराज्य प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया, वहां साथ ही यह भी कहा कि सरकार ने भारतीय युवकों को सेना में भर्ती की जो थोड़ी-बहुत छूट दी है, उन्हें उससे लाभ उठाते हुए अपने देश की रक्षा के लिए भर्ती होना चाहिए। उन दिनों युद्ध में जर्मनी का जोर बढ़ रहा था। अंग्रेजी सरकार ने बलिदान के बकरों की भर्ती को तेज करने के लिए इस प्रतिबन्ध को उड़ा दिया था कि भारत की केवल कुछेक लड़ाकू जातियों को ही सेना में लिया जाय। पूना की एक सभा में भाषण करते हुए लोकमान्य ने कहा था—

"यदि हमें स्वराज्य चाहिए तो हमें अपने देश की रक्षा की

शक्ति भी प्राप्त करनी चाहिए। यह बहुत जरूरी है कि पढ़े-लिखे लोग सेना में भर्ती हों। इसीमें राजभक्ति भी है और देशभक्ति भी। इसी-में साम्राज्य-निष्ठा भी है और राजनीति भी।"

लोकमान्य स्वराज्य का सन्देश सुनाते हुए और सामान्य रूप से समर्थ भारतवासियों और विशेष रूप से सुशिक्षित नवयुवकों को सेना में भर्ती होने की प्रेरणा करते हुए भ्रमण करने लगे। जब वह दिल्ली पहुंचे तो वहां उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। शहर में चार घोड़ों की बग्घी पर जलूस निकाला गया और विराट् सभा में भक्तिपूर्ण अभिनन्दन-पत्र पेश किया गया। उत्तर देते हुए लोकमान्य ने कहा कि यदि देश को स्वराज्य प्राप्त करना है तो उसका यही समय है। संसार-भर में स्वाधीनता की लहर चली हुई है। भारत को उससे लाभ उठाना चाहिए। 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे प्राप्त करके रहेंगे', यह मूलमन्त्र लोकमान्य ने इसी यात्रा में देशवासियों के कानों में फूंका था।

दिल्ली और अन्य स्थानों के स्वागत-समारोहों और व्याख्यानों के प्रभाव को देखकर भारत-सरकार के पांव कांप गये और उसने लोकमान्य को यह आज्ञा दे दी कि वह पंजाब में प्रवेश न करें।

आज्ञा का यह रूप था कि बालगंगाधर तिलक का पंजाब में जाना सार्वजनिक हित के विरुद्ध है, इस कारण वह पंजाब में प्रवेश न करें। यदि इस आज्ञा का भंग होगा तो तीन वर्ष की कैद और जुर्माने की सजा दी जायगी। दिल्ली में लोकमान्य का जो जोशीला स्वागत हुआ, उसे देखकर भी सरकार का दिल धक्-धक् करने लगा, और उन्हें दिल्ली छोड़ जाने की आज्ञा दे दी गई।

उत्तर भारत से लौटकर लोकमान्य ने बम्बई और बेलगांव आदि दक्षिण के नगरों में स्वराज्य का सन्देश पहुंचना जारी रक्खा। मई के मध्य में नासिक में स्वराज्य संघ (होमरूल लीग का प्रथम वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें देश में नई उदित होती हुई राष्ट्रीय चेतना का अच्छा परिचय मिला। संघ के सहस्रों सदस्य भर्ती हो चुके थे। उन सदस्यों में पं० जवाहर-लाल नेहरू का भी नाम था। लोकमान्य और श्रीमती बेसेण्ट ने एक-दूसरे के संघ के सदस्य बनकर स्वराज्य आन्दोलन की शक्ति को चौगुना कर दिया था।

श्रीमती ऐनी बेसेण्ट की होमरूल लीग भी अपने क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रही थी। वह थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा थीं। उन्होंने देश में फैली हुई थियोसोफिकल सोसायटी की शाखाओं में अपने आदेश से होम-रूल लीग के केन्द्र स्थापित करा दिये। बहुत-से उच्च कोटि के शिक्षित

भारतीय महानुभाव सोसायटी के सदस्य थे। वे भी होमरूल लीग में खिंच गये।

सोसायटी का अधिक प्रभाव दक्षिण में था, फलतः श्रीमती बेसेण्ट की होमरूल लीग का जोर वहीं अधिक बंधा। सरकार की अपराधी आत्मा उससे भी कांप उठी। मद्रास के गवर्नर लार्ड पैण्टलैण्ड ने विधानसभा के अधिवेशन के उद्घाटन-भाषण में आनेवाले भूकम्प की पूर्ण सूचना देते हुए कहा कि आशा है, सुरक्षा और शान्ति की रक्षा के लिए सरकार जो कदम उठायेगी, जनता उनमें उसका साथ देगी। गवर्नर को गर्जने के पीछे बरसने में देर न लगी। श्रीमती ऐनीबेसेण्ट और उनके प्रधान सहायक मि० अरण्डेल नजरबन्द कर दिये गए। उधर मौलाना शौकतअली, मौलाना मुहम्मदअली भी नजरबन्द कर लिए गये थे। इन नजरबन्दियों के कारण देश में रोष की लहर-सी चल गई। जुलाई में ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी का जो अधिवेशन हुआ, उसमें ऐनी बेसेण्ट और अलीबन्धुओं की नजरबन्दी का कड़ा विरोध किया गया। एक सुझाव आया कि नजरबन्द नेताओं की रिहाई के सम्बन्ध में लाखों हस्ताक्षरों के साथ एक प्रार्थनापत्र सरकार के पास भेजा जाय। उस सुझाव का विरोध करते हुए लोकमान्य ने कहा था—

> "श्रीमती ऐनी बेसेण्ट के प्रति यदि हमें अपनी आत्मीयता प्रकट करनी है, तो उसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उन्हें कांग्रेस के आगामी अधिवेशन की अध्यक्षा चुना जाय।"

इस क्रियात्मक प्रतिवाद के प्रस्ताव को कमेटी ने स्वीकार कर लिया।

: ३६ :

मि० माण्टेगू से भेंट

कड़कती गर्मी में रेगिस्तान के ऊपर जो चमक-सी दिखाई देती है, वह मरीचिका कहलाती है। प्यासा हरिण दूर से उसे पानी की झलक समझ-कर उसकी ओर वेग से भागता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है त्यों-त्यों मरीचिका पीछे सरकती जाती है। वह मृग-मरीचिका कहलाती है। कांग्रेस के आरम्भ से ही पुराने कांग्रेसी देशभक्त भोले मृगों की भांति अंग्रेजों की सद्‌भावना रूपी मरीचिका के पीछे भाग रहे थे। उन्हें आशा थी कि जब भारत की आवाज इंग्लैंड के हृदय तक पहुंचेगी, तब स्वराज्य मिलने में देर न होगी। अंग्रेज मृग-मरीचिका दिखाने में बहुत कुशल थे। जब कभी भारत में स्वाधीनता का आन्दोलन गर्म होता था, तभी वे मरी-चिका का नाटक खड़ा कर देते थे। इंग्लैण्ड के बादशाह की ओर से सुन्दर परन्तु भ्रामक शब्दों में एक घोषणा होती थी, भारत-मन्त्री उदारता से पूर्ण भाषण देता था और भारत में नेताओं से मुलाकातों का सिलसिला जारी हो जाता था। बहुत-सा समुद्र-मन्थन होने के पश्चात् जो वस्तु निकलती थी, वह स्वराज्य का अमृत न होकर प्रायः अमृत का उपहास होती थी।

१९१७ में ब्रिटिश सरकार को फिर भारतवासियों के सामने मरीचिका का नाटक खेलने की आवश्यकता प्रतीत हुई। महायुद्ध में मित्रदल की कई पराजयों का परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन हो गया। विशेष रूप से मसोपोटामिया में भारतवासियों के जवानों का लम्बे समय तक शत्रु के घेरे में घिरे रहने के कारण देश में अत्यन्त गहरा असन्तोष उत्पन्न हो गया था। उसके कारण सरकार को डर था कि कहीं नई भर्ती बन्द न हो जाय। मन्त्रिमण्डल में जो परिवर्तन हुए, उनमें एक यह भी था कि भारत-मंत्री की गद्दी पर मि० चैम्बरलेन के स्थान पर मि० माण्टेगू को बिठाया गया। मि० माण्टेगू लिबरल थे। वह कुछ दिन पहले पार्लमेंट में उस समय की कन्सर्वेटिव सरकार की आलोचना करते हुए भारत के सम्बन्ध में कुछ उदार विचार प्रकट कर चुके थे। उनकी नियुक्ति का भारत में सामान्य रूप से हार्दिक स्वागत किया गया। मि० माण्टेगू

लार्ड मोर्ले के सहायक के रूप में देश की स्थिति को अपने आंखों देखने और जांचने के लिए १९१२ में भारत आ चुके थे, इसलिए जब २० अगस्त को उन्होंने पार्लमिण्ट में यह घोषणा की कि "नवीन शासन-सुधारों के सम्बन्ध में भारतवासियों से मिलकर बातचीत करने के लिए मैं स्वयं भारत जाऊंगा" तो यहां के माडरेट नेताओं के हृदयों में आशा की बाढ़-सी आ गई। यहां आने से पूर्व २१ अगस्त, १९१७ को पार्लमिण्ट में माण्टेगू ने जो घोषणा की थी, उसमें यह कहा गया था कि ब्रिटिश सरकार की नीति भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने की नीति है।

मि० माण्टेगू ९ नवम्बर, १९१७ को बम्बई के अपोलो बन्दर पर पहुंचे। वहां उनका सरकारी स्वागत किया गया। उस समय के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने उन्हें जो स्वागत का पत्र भेजा था, उसमें लिखा था कि भारत में यूरोपीय लोगों की हालत पहले से खराब हो रही है। यह शायद इसलिए लिखा गया था कि कहीं मि० माण्टेगू हिन्दुस्तानी आन्दोलनकारियों के चकमे में आकर यह न समझने लगें कि अंग्रेज लोग भारत में मौज मार रहे हैं।

दिल्ली पहुंचने पर देश के विविध शिष्टमण्डल मि० माण्टेग से मिलने लगे। मिलने के समय भारत-मन्त्री के साथ वायसराय के बैठने की भी व्यवस्था थी। वायसराय बातचीत में विशेष भाग न लेते थे। वह शायद नौजवान भारत-मन्त्री के निरीक्षण के लिए नियुक्त किये गए थे।

लोकमान्य मि० माण्टेगू से होमरूल लीग के शिष्ट मण्डल के साथ २९ नवम्बर को मिले। इस शिष्टमण्डल में श्रीमती ऐनीबेसेण्ट भी, जो १७ सितम्बर को नजरबन्दी से रिहा कर दी गई थीं, सम्मिलित थीं। बातचीत के समय क्या हुआ, इसका सबसे अच्छा वह वर्णन है, जो लोकमान्य तिलक ने दिल्ली से लौटकर अपने एक मित्र के सामने किया था। आपने कहा—

"(बातचीत के समय) लार्ड चेम्सफोर्ड अपने पवित्र आसन पर चुपचाप बैठा रहा। उसने शिष्टमण्डल के लोगों की ओर ध्यान ही नहीं दिया। दूसरी ओर मि० माण्टेगू के व्यवहार और भाषा दोनों में अत्यन्त नम्रता और आदरभाव प्रकट हो रहे थे। मुझे ज़रा कम सुनाई देता था, मैंने सुनने की खातिर अपनी कुर्सी मि० माण्टेगू के समीप खिसकाई। इसपर भी दिल्ली की हुकूमत की बोझल कुर्सी अपने स्थान से न हिली। इसपर मि० माण्टेगू ने अपनी कुर्सी स्वयं मेरे पास रख ली। वायसराय इस सारी घटना का मानो मज़ा ले रहे, परन्तु स्वयं ठूंठ ही बने रहे। जब बातचीत लगभग समाप्त हो गई तो मि० माण्टेगू ने मुझसे एक सीधा प्रश्न किया—'क्या भारत के

लोग उसे स्वीकार कर लेंगे जो कुछ हम देंगे, या वे उसे लेने से इन्कार कर देंगे ?' मैंने उत्तर दिया—'इंग्लैण्ड का जनतन्त्र भारतवासियों को जो कुछ देगा, उसे हम स्वीकार कर लेंगे और जो कुछ नहीं दिया गया, उसके लिए कश्मकश जारी रखेंगे।' इसपर मि० माण्टेगू ने कहा—'आप पहले व्यक्ति हैं, जिसने मेरे प्रश्न का उत्तर इतना शीघ्र और निश्चयात्मक रूप में दिया है।'

दिल्ली से पूना लौटते हुए लोकमान्य आगरा स्टेशन पर उतरे। वहां सहस्रों की भीड़ जमा थी। भीड़ में छात्र अधिक थे। छात्रों ने आग्रह किया कि वह कम-से-कम एक दिन आगरा ठहरें। परन्तु तिलक और उनके साथियों का विचार ठहरने का नहीं था। इसपर एक मजेदार घटना हुई। उसका वर्णन लोकमान्य के अनन्य साथी मि० खापर्डे ने इस प्रकार किया है—

"लोकमान्य तिलक गाड़ी बदलने के लिए आगरा स्टेशन पर उतरे तो छात्रों के समुदाय ने उन्हें घेर लिया। उन्होंने लोकमान्य से आगरा में ठहरने की प्रार्थना की। परन्तु आगे का कार्यक्रम निश्चित था, इस कारण वह इसे स्वीकार न कर सके। तब होमरूल लीग के नौजवान वायस प्रेसीडेण्ट ने लोकमान्य को गोद में उठा लिया और स्टेशन से बाहर ले गया। खापर्डे और उनके साथी उचक-उचककर देखने लगे कि क्या हुआ तो पता चला कि नौजवानों ने न केवल लोकमान्य का अपहरण कर लिया है, उनकी मण्डली का सामान भी गाड़ी से निकाल लिया है। तब तो सबको आगरा में ठहरना ही पड़ा। तिलक महाराज को एक बग्घी पर बिठाया गया। उसके घोड़े खोल दिये गए और नौजवान छात्रों ने गाड़ी को शहर में घुमाया। सायंकाल के समय विराट सभा हुई, जिसमें लोकमान्य ने स्वराज्य का सन्देश सुनाया।"

लोकमान्य और मि० माण्टेगू पर उस मुलाकात के परस्पर क्या असर हुए, वे उनके शब्दों से व्यक्त होते हैं। मि० माण्टेगू ने अपनी भारत की डायरी में लिखा था—

"भोजन के बाद हम मि० तिलक से मिले। वह राजनैतिक आन्दोलन करनेवाले भारतवासियों में से सबसे अधिक प्रभावशाली हैं और बहुत गर्म हैं।"

लोकमान्य ने मि० माण्टेगू की घोषणाओं और चेष्टाओं के सम्बन्ध में 'केसरी' में जो लेख लिखा था, उसमें होमरूल-आन्दोलन की एक जहाज से उपमा देते हुए कहा था कि उस जहाज की यात्रा के लिए समुद्र में छोड़ते समय हमें आशंका थी कि कहीं यह सरकारी विरोध की चट्टान से टकरा-

कर विक्षत न हो जाय, परन्तु सौभाग्य की बात है कि वह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। उसे एक कुशल नाविक (मि० माण्टेगू) मिल गया, जिससे यह आशा बंध गई कि बिना किसी संकट के हमारा जहाज किनारे जा लगेगा।

लोकमान्य अंग्रेज शासकों पर शीघ्र विश्वास करनेवाले नहीं थे, परन्तु मि० माण्टेगू के शब्दों ने और शिष्टाचार ने उनके मन में भी आशा का संचार कर दिया। इसे अंग्रेज जाति की जन्मसिद्ध नीति-कुशलता का अकाट्य प्रमाण समझना चाहिए। इससे यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि सर्वसामान्य भारतवासियों के हृदय मि० माण्टेगू के शब्द-जाल से कितने अधिक प्रभावित हो गये होंगे। १९१७ में एक बार फिर अंग्रेजों की राजनीति ने भारतवासियों को आशा के झूले में झुला दिया।

: ३७ :

स्वराज्य-निधि के लिए दौरा

१६१७ के अन्त में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। उसकी अध्यक्षा श्रीमती ऐनी बेसेण्ट थीं। अधिवेशन में मुख्य रूप से प्रस्तुत शासन-सुधारों के सम्बन्ध में ही विचार हुआ। भारत-मंत्री द्वारा इंग्लैंड में की गई भारत-सम्बन्धी घोषणा का स्वागत करते हुए यह आशा प्रकट की गई थी कि दिल्ली में पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना के लिए पार्लमिंट में शीघ्र-से-शीघ्र बिल प्रस्तुत किया जायगा। स्वायत्त शासन की रूपरेखा का आधार कांग्रेस-लीग-समझौते को बनाया गया था, जिसका एक आवश्यक अंग साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व था। उस समय कांग्रेस के नेता, जिनमें लोकमान्य भी शामिल थे, इस परिणाम पर पहुंच चुके थे कि स्वराज्य की मांग में मुसलमानों को शामिल करने का एक यही उपाय है कि उन्हें पृथक् प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया जाय और उसमें भी संख्या के अनुपात से कुछ अधिकार दिये जायं। लोकमान्य ने मुख्य प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा था—

"स्वराज्य देने का कार्य एक ही ठहराव द्वारा पूरा होना चाहिए। यह बात कि भारत हमारा घर है और इसके हम ही अधिकारी है, बिना विलम्ब के स्वीकार होनी चाहिए। यह स्वीकार हुए बिना इन प्रश्नों पर विचार नहीं हो सकता कि पूरा स्वराज्य कितने दिनों में मिले, या उसकी किश्तें किस क्रम से दी जायं।"

लोकमान्य का यह स्पष्ट मत था कि सरकार की बनाई हुई शासन-सुधारों की योजना उसी दशा में स्वीकार करने योग्य होगी, यदि उसमें यह स्वीकार कर लिया जाय कि ब्रिटेन भारतवासियों को यथासम्भव शीघ्र पूर्ण स्वराज्य दे देगा और यह भी निश्चयात्मक रूप से घोषित कर दिया जाय कि कितने समय और किस क्रम से स्वराज्य दिया जायगा।

एक दूसरे प्रस्ताव में ब्रिटेन के निवासियों को अपना दृष्टिकोण समझाने के लिए एक शिष्ट-मण्डल को विलायत भेजने का निश्चय किया गया।

कांग्रेस के खुले अधिवेशन में शासन-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव मंच के

पुराने शेर बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने पेश किया था और लोकमान्य तिलक ने समर्थन किया था। इस प्रकार देखने में उस प्रस्ताव पर नर्म और गर्म दोनों दल सहमत प्रतीत होते थे, परन्तु उनके भाषणों से भेद की ध्वनि स्पष्ट निकलती थी। नर्म दलवालों के भाषणों से प्रतीत होता था कि वे अपने अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति की आशा में अत्यन्त प्रसन्न हैं और गर्म विचार-वाले वक्ताओं की वक्ताओं में न आशा की झलक थी और न हर्ष का चिह्न था। वे आनेवाले शासन-सुधारों को केवल अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की एक सीढ़ी मानकर उन्हें सहने को तैयार थे। जब मनो-वृत्तियों में इतना मतभेद हो तो कार्य-प्रणाली में भेद होना आवश्यक था। फलतः मार्च १६१८ में होमरूल लीग ने निश्चय किया कि उसका शिष्ट-मण्डल स्वराज्य के आन्दोलन को अग्रसर करने के लिए यथासम्भव इंग्लैंड जाय।

होमरूल के आन्दोलन को देश और विदेश में तीव्र करने के लिए धन की आवश्यकता थी। लोकमान्य ने उस आवश्यकता को पूरा करने के लिए देश का दौरा फरवरी मास में ही आरम्भ कर दिया था। पहले वह बम्बई गये। वहां कोयले के व्यापारियों ने उन्हें लगभग आठ हजार की थैली भेंट की। वहां से लोकमान्य खंडवा, बरहानपुर, मनकापुर आदि में ठहरकर व्याख्यान देते हुए नागपुर पहुंचे। वहां उस समय महात्मा गांधी भी थे। लोकमान्य ने सार्वजनिक सभा में हिन्दी में भाषण दिया। हिन्दी कुछ टूटी-फूटी अवश्य थी, परन्तु श्रोताओं ने उसे बहुत पसन्द किया। और महात्माजी ने हर्ष प्रकट किया। यह दौरा लगभग तीन सप्ताह तक जारी रहा। इस दौरे में उन्होंने रेल और मोटर से मिलाकर दो हजार मील का सफर किया और पचास से अधिक भाषण दिये। विशेष बात यह थी कि इस सारी यात्रा में लोकमान्य के घुटनों में दर्द था। घाव निरन्तर कष्ट देता था, तो भी उन्होंने यात्रा को स्थगित करना पसन्द नहीं किया।

जनता के उत्साह का ठिकाना नहीं था। हर वर्ग के लोगों ने दिल खोल-कर दान दिया। एक जगह उनकी मोटर के सामने छोटी-सी नदी आ गई। जनता ने झटपट रेत की बोरियां डालकर और उनपर टीन की चादरें बिछाकर रास्ता बना दिया। एक श्रमिक की जेब में केवल दो रुपये थे, उसने वही दे दिये। एक लिंगायत सज्जन ने गले में लटका हुआ चांदी का लिंग दान की झोली में डाल दिया। एक सज्जन ने अपनी ५००) की बीमा पालिसी स्वराज्य-निधि को दे दी। घायल टांग के साथ इतनी थकानेवाली यात्रा, निरन्तर भाषण, और जनता को दर्शन देने के कार्यक्रम को तीन सप्ताह तक निभाना लोकमान्य तिलक की अदम्य इच्छा-शक्ति और सहि-

ष्णुती का अद्भुत चमत्कार था। जनता ने भी जी खोलकर दान दिया। तीन सप्ताह के दौरे में स्वराज्य-फण्ड के लिए लगभग पौने दो लाख रुपये एकत्र हुए।

महाराष्ट्र और विदर्भ के दौरे की समाप्ति पर लोकमान्य का विचार दिल्ली जाने का हुआ। वहां वह ऑल इण्डिया कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में सम्मिलित होनां चाहते थे। सरकार की ओर से उनके दिल्ली और पंजाब जाने पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। फलत: उन्हें दिल्ली के कमिश्नर से अनुमति मांगनी पड़ी। परन्तु सरकार तिलक से इतनी डरी हुई थी कि राजधानी में उनके चरण पड़ने से भूकम्प होने की आशंका रखती थी। कमिश्नर से लेकर वायसराय तक का द्वार खटखटाने का परिणाम भी कुछ न हुआ। वह वहीं कायम रही। उत्तर में जाने का मार्ग बन्द हो जाने के कारण नागपुर में दौरा समाप्त करके मार्च के आरम्भ में बम्बई होते हुए वह पूना पहुंच गये। वहां ६ मार्च को एक विराट् सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें श्रीमती एनी वेसेण्ट का भाषण हुआ। लोकमान्य तिलक सभापति थे। कुछ लोग यह आशंका प्रकट करते थे कि यदि मुस्लिम लीग और कांग्रेस का इकट्ठा मन्त्रिमण्डल बना तो उसमें गतिरोध की आशंका रहेगी। लोकमान्य ने उसका उत्तर एक बहुत स्पष्ट वैज्ञानिक दृष्टान्त से दिया। उन्होंने कहा—

> "गतिरोध-सम्बन्धी आक्षेप भद्दा और अवैज्ञानिक है। चक्र के प्रत्येक घुमाव में गतिरोध का एक बिन्दु आता है, परन्तु उससे चक्र का चलना बन्द नहीं होता। उसका कारण यह है कि चक्र की गति में इतनी ताकत होती है कि वह गतिरोध के बिन्दु को पार कर जाती है। गतिविद्या का यह सिद्धान्त राजनीति में भी काम करता है। यदि मिलकर काम करनेवाले लोगों में उत्साह और जोश है तो वे गतिरोध के बिन्दु को पार कर जायंगे। यदि वह नहीं तो मिलकर काम करने की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती।"

: ३८ :

सरकार की कलाबाजी

उस समय नौकरशाही सरकार कितनी बौखलाई हुई थी, यह वात होमरूल डेपुटेशन के विलायत जाने-सम्वन्धी मामले से प्रकट होती है। जर्मनी का भय, भारत से सहायता लेने की इच्छा और लोकमान्य का आतंक, इनसब कारणों ने भारत की अंग्रेजी सरकार का दिमाग हिला दिया था। वह कलावाजी-पर-कलावाजी खाती थी, रुख-पर-रुख बदलती थी, फिर भी चैन नहीं पाती थी।

लोकमान्य का लगभग दो वर्षों से विचार था कि वह समय होमरूल के लिए विलायत में जोरदार आन्दोलन करने के सर्वथा अनुकूल है। धन-संग्रह करने का एक मुख्य उद्देश्य यही था। होमरूल के दौरे से पूना लौटने पर पूनावासियों की ओर से स्वागतों और अभिनन्दनों के जो दौर आरम्भ हुए, वे लगभग तीन सप्ताह तक भिन्न-भिन्न रूपों में चलते रहे। पूरी तैयारी हो जाने पर और शिष्ट-मण्डल के अन्य सदस्यों के एकत्र हो जाने पर होमरूल लीग का विलायत जानेवाला शिष्ट-मण्डल २३ मार्च, १९१८ को पूना से वम्वई के लिए रवाना हुआ। शिष्ट-मण्डल में लोकमान्य के अतिरिक्त अन्य सदस्य भी थे—श्री एन० सी० केलकर, श्री विट्ठलभाई पटेल, श्रीयुत खापर्डे।

वम्वई के लिए चलने से पूर्व लोकमान्य ने एक विराट् दलितोद्धार-सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा था—

"छुआछूत वेदोक्त धर्म के अनुकूल नहीं है। वह एक रूढ़ि है। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि यह प्रथा मध्यकालीनं ब्राह्मणों की जोर-जवर्दस्ती से ही प्रचलित हुई थी। अब हमें उसे उखाड़ फेंकना चाहिए। राष्ट्र के कल्याण के लिए मैं अस्पृश्य कहलानेवालों के साथ भाइयों का-सा व्यवहार उचित समझता हूं। अस्पृश्यता को अपने समाज में कायम रखना ईश्वर के सामने पाप करने जैसा है...।"

यह निश्चित वात है कि यद्यपि लोकमान्य की अस्पृश्यों के प्रति अपनत्व की भावना तो पहले से ही थी, समय और परिस्थितियों के साथ उनके दृष्टिकोण का भी विकास हो गया था। पहले वह भावना अपने तक

सीमित थी, अब उसका सार्वजनिक रूप होता जा रहा था। वह उस भावना को देशव्यापी कर देना चाहते थे।

शिष्टमण्डल २३ मार्च को पूना से रवाना होकर बम्बई पहुंचा। लोकमान्य के अनेक स्वागत तथा अभिनन्दन हुए। वे जहां जाते थे, वहां हजारों की भीड़ एकत्र हो जाती थी। बम्बई की मारवाड़ी एसोसियेशन ने होमरूल के लिए पन्द्रह हजार रुपयों की थैली भेंट की। मिलों के मजदूरों ने भी अपनी शक्ति के अनुसार एक हजार रुपये लोकमान्य को समर्पित किये।

बम्बई की एक घटना बहुत मनोवैज्ञानिक महत्व रखती है। लोकमान्य को विदाई-अभिनन्दन देने के लिए दानाबन्दर में एक विशाल सभा हुई। उसमें सब वक्ताओं के अन्त में सेठ भावजी गोविन्दजी ने भाषण दिया। आपने उपस्थित जनता से होमरूल के लिए चन्दे की अपील कर दी। अपील में वक्ता ने लोकमान्य की कुर्बानियों की बार-बार चर्चा की। उसका ऐसा चमत्कारी असर हुआ कि एकदम चन्दा मिलना आरम्भ हो गया। छोटी-छोटी राशियां बरसने लगीं। मि० हार्नीमैन और अन्य कई सम्मानित सज्जन अपनी-अपनी टोलियां लेकर भिक्षा मांगने पर निकल पड़े। थोड़ी ही देर में पांच हजार के लगभग राशि एकत्र हो गई। उनका नाम लेकर चन्दा एकत्र हुआ—यह बात लोकमान्य को अखरी। उन्होंने अन्तिम भाषण में सेठ गोविन्दजी को इस बात पर हल्की-सी झाड़ दी कि उनका नाम नीलामी पर क्यों चढ़ाया गया। यद्यपि श्री खापर्डे ने राम-नाम की महिमा की कहानी सुनाकर लोकमान्य की अप्रसन्नता को हल्का कर दिया, तो भी यह बात स्पष्ट हो गई कि वह स्वराज्य के नाम पर धन-संग्रह करना पसन्द करते थे। उसमें अपने नाम को घसीटा जाना उन्हें रुचिकर न था। नीलामी जैसी वस्तु उनके स्वभाव के विरुद्ध थी। सेठ गोविन्दजी व्यापारी वैश्य थे और लोकमान्य तिलक स्वार्थत्यागी ब्राह्मण—दोनों की मनोवृत्तियों में यही भेद था। यह भेद स्वराज्य के भावी आन्दोलनों में भी प्रकट होता रहा।

शिष्टमण्डल बम्बई से पूना और मद्रास होता हुआ रामेश्वर के रास्ते से कोलम्बो पहुंच गया। रास्ते में सभी शहरों में शानदार स्वागतों और अभिनन्दनों की भरमार रही। कोलम्बो में शिष्टमण्डल के स्वागत के लिए जो कमेटी बनी थी, उसमें भारतीय और लंका-निवासी दोनों सम्मिलित थे। शाम के समय एक गार्डन पार्टी में लोकमान्य और उनके साथियों का भव्य स्वागत किया गया

कोलम्बो से आगे जाने के लिए सरकारी पासपोर्ट की आवश्यकता थी। भारत-सरकार ने कोलम्बो तक का पासपोर्ट देते हुए यह सूचना दे दी थी

कि यदि ब्रिटिश सरकार ने भारत-सरकार द्वारा दी हुई आज्ञा को रद्द कर दिया तो शिष्टमण्डल को रास्ते से ही लौटना पड़ेगा। फलत: शिष्टमण्डल को कोलम्बो में अन्तिम आज्ञा की प्रतीक्षा करनी पड़ी। मण्डल ने स्वेज तक जाने की अनुमति मांगी, वह भी न मिली। अन्त में १२ अप्रैल को औपनिवेशिक मन्त्री का पत्र मिला। उसमें सूचना दी गई थी कि इंग्लैंड के युद्ध-मन्त्रिमण्डल की आज्ञानुसार मण्डल का पासपोर्ट रद्द कर दिया गया है।

जब यह समाचार देश में पहुंचा तब रोष का एक तूफान-सा आ गया। पहले शिष्ट-मण्डल को विलायत जाने की आज्ञा दे देना, फिर उसे रास्ते में सप्ताह तक रोके रखना और अन्त में आज्ञा को रद्द कर देना न केवल अभद्रतापूर्ण कार्य था, सरकार की डांवाडोल नीति का भी सूचक था। वह नीति इतनी गर्हणीय थी कि उस समय के भारत-मन्त्री माण्टेगू को भी वह अखरी। उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है कि यह कुछ अद्भुत-सा मालूम होता है कि इंग्लैंड के युद्ध-मन्त्रिमण्डल ने भारत-सरकार द्वारा दिये हुए पासपोर्ट को उनसे परामर्श किये बिना ही रद्द कर दिया।

: ३९ :

गवर्नर से झड़प

१९१७ में यूरोप के पहले भूगोलव्यापी महायुद्ध की स्थिति बहुत गम्भीर हो गई थी। विशेष रूप से गेलीपोली की पराजय और मसोपोटामिया के घेरे ने युद्ध के बाजार में इंग्लैण्ड के दर बहुत ही कम कर दिये थे। बड़े-से-बड़े संकट में धैर्यपूर्वक उद्धार का रास्ता निकाल लेना अंग्रेज-जाति का विशेष गुण है। युद्ध की उस गहरी दलदल से निकलने के लिए पार्लमेंट ने युद्धकाल के लिए अपनी पुरानी दलीय शासन की रूढ़ि को तोड़कर युद्ध-मन्त्रिमण्डल की स्थापना को स्वीकार कर लिया, जिसमें विभिन्न दलों के प्रमुख सदस्य सम्मिलित थे। उस मन्त्रिमण्डल के नेता और प्रधानमन्त्री थे श्री लायड जार्ज, जो अपनी असाधारण भाषण-शक्ति और प्रेरणा-शक्ति के लिए ख्याति पा चुके थे। २ अप्रैल, १९१८ के दिन मि० लायड जार्ज का एक विशेष सन्देश भारत के वाइसराय को प्राप्त हुआ, जिसमें कहा गया था—

"इस समय जबकि यूरोप और एशिया पर अपना प्रभुत्व कायम करने की जर्मनी के शासकों की इच्छा बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है, भारत की सरकार और प्रजा दोनों का कर्तव्य है कि वे युद्ध की सफलता के लिए अपने ही प्रयत्नों को द्विगुणित कर दें।"

यह सन्देश वाइसराय को तब प्राप्त हुआ जब होमरूल का शिष्टमण्डल कोलम्बो पहुंच चुका था। प्रधानमन्त्री के सन्देश का ही परिशिष्ट यह भी थी कि होमरूल के शिष्टमण्डल को विलायत जाने का पासपोर्ट न दिया जाय, क्योंकि उससे इंग्लैण्ड-निवासियों का ध्यान बंट जायगा। ब्रिटिश सरकार का यह बहाना कितना निस्सार था, यह इससे विदित हो सकता है कि उन्हीं दिनों आयलैंड के राष्ट्रवादियों से होमरूल के देने की चर्चा चल रही थी।

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री के आदेश का पालन करते हुए वाइसराय ने दल्ली में एक युद्ध-सम्मेलन करने का निश्चय किया। सम्मेलन के सम्बन्ध में जिन्हें निमन्त्रण भेजे गए, उनमें सभी विचारों के लोग थे। सरकार की कलुषित मनोवृत्ति का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि उस सर्वदलीय सम्मेलन में लोकमान्य तिलक और श्रीमती बेसेण्ट को निमन्त्रित नहीं किया गया था। सरकार की इस क्षुद्र मनोवृत्ति का भारत के राष्ट्रीय

जगत् पर यह प्रभाव पड़ा कि जिस सम्मेलन को सरकार सर्वदलीय सम्मेलन बनाना चाहती थी, उसे सर्वसाधारण ने जी-हुजूरों का सम्मेलन समझा। कहा जाता है स्वयं भारत-मंत्री मि० माण्टेगू तिलक और ऐनी बेसेण्ट को निमन्त्रित करने के पक्ष में थे, परन्तु वाइसराय जिस नौकरशाही की मुट्ठी में था, उसकी सम्मति थी कि यदि होमरूल-आन्दोलन के नेता सम्मेलन में आ गये, तो सम्मेलन न केवल व्यर्थ हो जायगा, सम्भव है युद्ध-प्रयत्नों के लिए हानिकारक भी सिद्ध हो।

२६ अप्रैल को सम्मेलन की एक प्रारम्भिक बैठक हुई, जिसमें वाइसराय उपस्थित नहीं हुआ। उसमें बड़े सम्मेलन के कार्यक्रम पर बातचीत हुई। तबतक महात्मा गान्धी दक्षिण अफ्रीका से भारत आकर देश की राजनीति में प्रवेश कर चुके थे। युद्ध-सम्मेलन में उन्हें निमन्त्रित किया गया था। प्रारम्भिक बैठक में महात्माजी ने लोकमान्य और श्रीमती बेसेण्ट को निमन्त्रण न भेजे जाने पर आपत्ति उठाते हुए कहा कि यदि उन दोनों नेताओं को और अन्य बन्धुओं को सम्मेलन में नहीं बुलाया गया तो देश का लोकमत युद्ध-प्रयत्नों के अनुकूल नहीं बन सकेगा। सरकार की क्षुद्र नीति के प्रतिवाद के रूप में महात्माजी सम्मेलन की पहली बैठक में सम्मिलित नहीं हुए। इसपर वाइसराय ने गान्धीजी को मिलने के लिए बुलाया। उसके परिणामस्वरूप गान्धीजी अगली बैठकों में सम्मिलित तो हुए, परन्तु उन्होंने अपना प्रतिवाद जारी रक्खा और जब पहले युद्ध-सम्मेलन की निष्फल समाप्ति के लगभग दो मास पश्चात् बम्बई में प्रान्तीय युद्ध-सम्मेलन का आयोजन किया गया, तब निमन्त्रित महानुभावों में लोकमान्य का नाम भी रक्खा गया।

सम्मेलन का निमन्त्रण लोकमान्य के विश्वस्त साथी श्रीयुत केलकर को भी मिला था। केलकर ने एक पत्र लिखकर बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्डन के प्राइवेट सेक्रेटरी से पूछा कि सम्मेलन में भाग लेनेवाले व्यक्तियों को प्रस्ताव पेश करने या अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होगी या नहीं? उन्हें पहले तो कोई उत्तर ही नहीं मिला और जब दोबारा लिखने पर उत्तर मिला तो उसमें यह सूचना दी गई थी कि सदस्यों को कोई प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार तो नहीं होगा, परन्तु वे अपने विचार स्वतन्त्रता से प्रकट कर सकेंगे। १० जून को प्रान्तीय सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। लार्ड विलिंग्डन ने अपने भाषण के प्रारम्भ में "भद्रंब्रूयात" की नीति का अवलम्बन करते हुए भारतवासियों के प्रति विश्वास और अपनत्व के भाव प्रकट किये, परन्तु आगे चलकर होमरूल के सदस्यों पर खुले आक्षेप किये और कहा कि जबतक मैं अपने मन के भाव स्पष्टता से न

वतन्लूं तथितक उनसे कोई समझौता नहीं हो सकता, और न मैं उनकी ईमानदारी का कायल हो सकता हूं। गवर्नर ने समझा था कि उसकी यह धमकी लोकमान्य तिलक को डरा देगी, और वह विशुद्ध राजभक्ति से भरा हुआ भाषण दे देंगे। इसी आशा से कोल्हापुर-नरेश और कच्छ के महाराव जैसे राजभक्तों के भाषण के पश्चात् उन्होंने बोलने के लिए उनका नाम पुकारा।

लोकमान्य ने अपने भाषण के प्रारम्भ में भारत के सम्राट् के प्रति अपनी और होमरूल लीग के सदस्यों की वफादारी को प्रकट करते हुए सरकार को विश्वास दिलाया कि वे युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्नों में किसीसे पीछे नहीं हैं। आगे उन्होंने कहा—

"हमें मुख्य प्रस्ताव पर संशोधन का अधिकार नहीं दिया गया, इस कारण मैं प्रस्ताव द्वारा जनता के विचारों को प्रकट नहीं कर सकता। जहां मैं स्वीकार करता हूं कि देश पर होनेवाले आक्रमणों को रोकने के साधनों को काम में लाना चाहिए, वहां मैं यह कहे विना नहीं रह सकता कि स्वदेश-रक्षा और स्वराज्य (होमरूल) को अलग अलग नहीं किया जा सकता।"

जैसे कपड़े के लाल टुकड़े को देखकर सांड बिदक जाता है, लार्ड विलिंग्डन वैसे ही होमरूल का नाम सुनते ही बिगड़ उठे और लोकमान्य को रोकते हुए कहा, "मैं यहां राजनैतिक विवाद को सहन नहीं कर सकता।" इसपर लोकमान्य ने कहा—

"इस अवस्था में हमारे लिए आत्म-सम्मान का केवल एक ही मार्ग है कि हम सम्मेलन को त्यागकर चले जायं।"

लोकमान्य ने ये शब्द कहे और अपने कुछ साथियों के साथ सभा-भवन से चले गए।

इस घटना पर कुछ दिनों तक खूब गर्मागर्म बहस रही। गोरे अखबार तिलक और उनके साथियों पर पैने तीर बरसाते रहे। जो लोग सम्मेलन से उठ गये थे, उनकी ओर से एक लम्बा वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने लार्ड विलिंग्डन के नादिरशाही व्यवहार की निन्दा करते हुए यह प्रकट किया कि यदि गवर्नर महोदय प्रस्तुत प्रसंग को छोड़कर अकारण होमरूल लीग के विरुद्ध विषवमन न करते तो लोकमान्य को प्रतिवाद की आवश्यकता न पड़ती। १६ जून को बम्बई में महात्मा गान्धी की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें लार्ड विलिंग्डन की धींगा-धींगी की निन्दा की गई। उस सभा में लोकमान्य ने घोषणा की कि वह इस शर्त पर सेना के लिए पांच हजार सैनिक भरती करने को तैयार हैं कि उनको वही

सब अधिकार प्राप्त हों, जो भारतीय सेना के गोरे जवानों को प्राप्त होते हैं। उन्होंने यह भी कहा, "मैं जमानत के तौर पर गान्धीजी के पास पचास हजार रुपये की राशि जमा करने को तैयार हूं। यदि भर्ती कराने में मेरी त्रुटि रहे, तो मैं प्रतिज्ञात संख्या से न्यून प्रत्येक सैनिक के लिए सौ रुपये की राशि जुर्माने के तौर देने को तैयार हूं।" लोकमान्य ने अपनी इस प्रतिज्ञा को लिखकर भी गान्धीजी के पास भेज दिया था, परन्तु नौकरशाही अन्य भारतीय सैनिकों को गोरों के समान स्तर पर कैसे ला सकती थी। बात अनसुनी-सी हो गई, परन्तु उसका एक अच्छा परिणाम निकल आया। देशवासियों का ध्यान अंग्रेजी शासन की गोरे और काले में भेद करने की कुटिल नीति की ओर खिंच गया।

: ४० :

शिरोल-अभियोग

सर वैलंटाईन शिरोल लन्दन के 'दैनिक टाइम्स' का प्रतिनिधि बनकर भारत में आया था। यहां से उसने एक लेख-माला भारत के बारे में लिखी, जो धारावाहिक रूप से 'टाइम्स' में प्रकाशित हुई। संवाददाता का काम यह होता है कि जिस विषय पर लेखनी उठाये, उस विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करने का यत्न करे और यदि किसी अंश में विवाद हो तो दोनों पक्षों का पक्षपात-शून्य दृष्टि से अनुशीलन करे। शिरोल ने इस सर्वसम्मत सिद्धान्त की सर्वथा उपेक्षा की और मुख्यरूप से सरकार की फाइलों से भारत की जागृति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करके सन्तोष कर लिया और अपनी पक्षपातपूर्ण लेखमाला को 'इंडियन अनरेस्ट' (भारतीय अशान्ति) के नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिया। शिरोल का दृष्टिकोण कितना विकृत था, इसका अनुमान एक इसी बात से लगाया जा सकता है कि जिस परिस्थिति पर उस समय के मजदूर-दल के नेता मि० रैम्से मैकडानल्ड ने 'अवेकनिंग इन इंडिया' (भारत में जागृति) नाम से पुस्तक लिखी, उसी परिस्थिति पर शिरोल ने जो पुस्तक प्रकाशित की, उसका नाम 'इंडियन अनरेस्ट' रक्खा। किसी देश की चौमुखी जागृति को जो व्यक्ति केवल 'अशान्ति' नाम से पुकार सकता है, उसे सच्चा संवाददाता नहीं कह सकते।

अपनी पुस्तक में शिरोल ने लोकमान्य पर भी एक परिच्छेद लिखा था। वह परिच्छेद तिलक के सम्बन्ध में बम्बई सरकार के विद्वेषपूर्ण दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब था। उसमें भारत में फैली सारी बेचैनी का जन्मदाता बालगंगाधर तिलक को बतलाया था और अपनी स्थापना को सिद्ध करने के लिए लोकमान्य के सारे सार्वजनिक जीवन को कल्पित काले रंग में रंगने का यत्न किया था। गणपति-उत्सव, शिवाजी-उत्सव, प्लेग के रोगियों की सेवा जैसे धार्मिक और सेवा-सम्बन्धी कार्यों को राज-विद्रोह की कोटि में रखकर शिरोल ने यह सिद्ध करने का यत्न किया था कि लोकमान्य देश के सबसे बड़े राजद्रोही हैं। लोकमान्य की राजनीति का सार यह था कि विदेशी राज्य भारत के लिए महान् अभिशाप है। उससे

छूटकर स्वराज्य प्राप्त करना भारतवासियों का कर्तव्य है। उसका साधन है निरन्तर सक्रिय आन्दोलन, जिसके लिए जनता को जगाना आवश्यक है। जनता में जागृति उत्पन्न करना लोकमान्य का मुख्य लक्ष्य था। वह वस्तुतः राजद्रोही नहीं थे, क्योंकि वह समय-समय पर भारत-सम्राट् के प्रति वफादारी प्रकट करते थे। उस समय महात्मा गांधी साम्राज्य के प्रति लोकमान्य से भी अधिक वफादार थे। अभी भारत के बड़े-से-बड़े जन-नायक के मन में ब्रिटिश साम्राज्य से सर्वथा अलग होने की भावना उत्पन्न नहीं हुई थी। इस कारण शिरोल के विषभरे आक्षेपों को लोकमान्य ने तथा उनके साथियों तथा भक्तों ने सर्वथा असत्य और अन्यायपूर्ण समझा। भारत के न्यायालयों से उन्हें एक अंग्रेज-लेखक के अन्याय के विरुद्ध न्याय मिलने की आशा नहीं थी, इस कारण लोकमान्य इस निश्चय पर पहुंचे थे कि शिरोल पर मानहानि का दावा इंग्लैंड के सुप्रीम कोर्ट में किया जाय।

१६१६ में रौलट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन और असहयोग के आगमन के पश्चात् महात्माजी की तथा देशवासियों की मनोवृत्ति सर्वथा बदल गई थी। वह न भारत में विद्यमान सरकारी न्यायालयों से न्याय की आशा रखते थे और न विलायत के न्यायालयों से। अभी देश की राजनीति ने उस विद्रोही युग में प्रवेश नहीं किया था। बाद के कुछ लेखकों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि लोकमान्य ने शिरोल के विषवमन के विरुद्ध प्रिवी कौंसिल का द्वार खटखटाने का श्रम क्यों उठाया? वह भूल जाते हैं कि उस समय युद्ध में साम्राज्य की आर्थिक और मानवी सहायता देने में महात्मा गांधी और लोकमान्य साथ-साथ चल रहे थे। अभी भारतवासियों के मन में यह आशा विद्यमान थी कि यदि अंग्रेज जाति के हृदयों तक यह बात पहुंच जाय कि भारतवासियों की मांग सत्य है तो स्वराज्य मिलने में देर न लगेगी। होमरूल के शिष्ट-मण्डल को विलायत भेजने और सुप्रीम कोर्ट में शिरोल के विरुद्ध अभियोग दायर करने का कारण यह नहीं था कि लोक-मान्य की राजनीति समय से पिछड़ी हुई थी, अपितु देश की राजनीति के चरम सीमा तक पहुंचने में अभी देर थी।

जब होमरूल का शिष्ट-मण्डल इंग्लैंड जाने के लिए कोलम्बो के लिए रवाना हुआ था, उससे पूर्व ही लोकमान्य इंग्लैंड के सुप्रीम कोर्ट में शिरोल पर मान-हानि का अभियोग दायर करने का निश्चय कर चुके थे। परन्तु उन्हें कोलम्बो से लौटना पड़ा। इसपर विलायत में जो सोलिसिटर लोक-मान्य के अभियोग की तैयारी कर रहे थे, उन्होंने इंग्लैंड के युद्ध-मंत्रि-मण्डल को लिखा कि अभियोग के लिए तिलक का उपस्थित होना अत्या-वश्यक है, इस कारण उनपर लगाया गया प्रतिबन्ध उठा लिया जाय।

सरकार ने इस आवेदन-पत्र का जो उत्तर दिया, वह उसकी क्षुद्र मनोवृत्ति का परिचायक था। बम्बई की सरकार ने पूना के जिला अधिकारी की मर्फत लोकमान्य को सूचना दी कि उन्हें इस शर्त को स्वीकार करने पर इंग्लैंड जाने की अनुमति मिल सकती है कि वह वहां किसी प्रकार का राजनैतिक आन्दोलन न करेंगे और उनके साथ जानेवाले लोग भी वहां होमरूल की चर्चा न करेंगे। यद्यपि इस शर्त को लोकमान्य ने अनुचित और अनावश्यक समझा, तो भी अभियोग के लिए इंग्लैंड जाना अनिवार्य था, इस कारण शर्त को स्वीकार करते हुए उन्होंने सरकार को यह सूचना दे दी कि इंग्लैंड पहुंचकर यदि उन्होंने आवश्यक समझा तो युद्ध-मंत्रिमण्डल से इस प्रतिबन्ध को हटाने की प्रार्थना करेंगे।

लोकमान्य और उनके साथी सितम्बर में विलायत के लिए रवाना होनेवाले थे। अगस्त में शासन-सुधार-सम्बन्धी वह रिपोर्ट प्रकाशित हो गई, जिसकी सामग्री एकत्र करने के लिए मि० माण्टेगू भारत आये थे। वह रिपोर्ट भारत-मंत्री माण्टेगू और वायसराय चैम्सफोर्ड के नामों को संक्षिप्त करके मौण्ट-फोर्ड रिपोर्ट के नाम से प्रसिद्ध हुई। ७ अगस्त को उसकी प्रतियां लोकमान्य के पास पहुंच गईं। एक ही दिन में उन्होंने उसे पढ़ डाला और अगले दिन उसके सम्बन्ध में 'केसरी' के लिए अग्रलेख लिखा। अग्रलेख का शीर्षक था—'उजाड़लें, पण सूर्य कोठें आहे''—प्रभात हुआ, परन्तु सूर्य कहां है? शीर्षक इतना भावपूर्ण और फड़कता हुआ था कि पाठकों को लेख पढ़ने के पहले से ही उसका अभिप्राय विदित हो जाता था। अगले सप्ताह फिर 'केसरी' में रिपोर्ट पर लोकमान्य का दूसरा अग्रलेख प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक था—'जनाव, दिल्ली दूर अस्त'—सरकार अभी दिल्ली दूर है! 'केसरी' के दोनों लेखों ने मौण्ट-फोर्ड-रिपोर्ट का असली रूप देशवासियों के सामने उघाड़कर रख दिया। जो थोड़े-बहुत राजनैतिक अधिकार एक हाथ से दिये गए थे, वे दूसरे हाथ से वापस ले लिये गए थे। अधिकार केवल दिखाने के थे, प्रतिबन्ध वास्तविक थे। कुछेक चुने हुए सीलबन्द नर्म नेताओं के अतिरिक्त अन्य किसी शिक्षित देशवासी का उनसे संतोष नहीं हुआ था। लोकमान्य के लेख भारत की समझदार जनता के भाव-चित्र थे।

रिपोर्ट पर विचार करने के लिए अगस्त के अन्त में बम्बई में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसमें लोकमान्य ने भी भाग लिया। नरम दलवाले इस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए। उन्होंने अलग सम्मेलन करके योजना का स्वागत किया। कांग्रेस के अधिवेशन में योजना को अपूर्ण, असंतोषजनक, और निराशाजनक बताया गया तथा यह मांग की गई कि

शीघ्र ही भारत को उत्तरदायित्वपूर्ण शासन दिया जाय।

इस अधिवेशन के पश्चात् लोकमान्य ने शिरोल-अभियोग में उपस्थित होने के लिए इंग्लैंड जाने की आज्ञा मांगी तो सरकार ने यह शर्त लगाई कि वह वहां जाकर किसी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन में भाग न लें। अभियोग में जाना आवश्यक था। लाचार होकर प्रतिवादपूर्वक शर्त मानकर अपने सहायकों की मण्डली के साथ २३ सितम्बर को बम्बई से रवाना होकर ३० अक्तूबर को इंग्लैंड पहुंच गये। उस समय भारत से इंग्लैंड की समुद्र-यात्रा असाधारण संकटों से भरी हुई थी। युद्ध पूरे जोरों पर था। जिब्राल्टर का समुद्र संकटों से भरा हुआ था। जिस सवारी जहाज से लोकमान्य सफर कर रहे थे, उसका नाम 'जापान' था। उसके आगे एक क्रूजर लड़ाकू जहाज चलता था। दोनों ओर रक्षक के तौर पर दो सबमरीन रहते थे और यात्रा बहुत मन्द गति से होती थी। यात्रियों को जहाजों पर शत्रु का आक्रमण होने तथा डूबने की दशा में काम में लाने योग्य सावधानताओं की क्रियात्मक शिक्षा भी दी जाती थी। लोकमान्य तो संकटों की लहरों में बहने का आनन्द लेनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने सहर्ष सब प्रक्रियाओं में भाग लिया।

जब तिलक भारत से चले थे, तब युद्ध पूरे जोरों पर था और जब वह इंग्लैंड पहुंचे तब युद्ध समाप्त हो चुका था और सन्धि की चर्चा आरम्भ होने को थी। इस घटना से शिरोल-अभियोग पर प्रतिकूल असर होने की सम्भावना स्पष्ट होने लगी थी। जबतक युद्ध चल रहा था, अंग्रेज कुछ भयभीत होने के कारण दबे हुए थे। वे चाहते थे कि हिन्दुस्तानियों को बहुत अप्रसन्न न होने दें, परन्तु ज्योंही जर्मन सम्राट् कैसर विलियम द्वितीय बर्लिन से भागकर हालैंड में शरणार्थी बन गया, त्योंही ब्रिटिश जाति का दिमाग़ आकाश में घूमने लगा। अब वे भारत से सहायता के भिखारी नहीं थे, अपितु संसारव्यापी महायुद्ध के विजेता थे। चाहे न्यायालय राजनीति के चलते हुए प्रवाह से कितना ही अलग रहे, परन्तु आखिर उसके न्यायाधीश जाति की मनोवृत्ति से प्रभावित तो होते ही हैं। विलायत पहुंचने पर लोकमान्य को सब-कुछ ज्ञात हो गया था, परन्तु वह तो अदम्य योद्धा और कट्टर आशावादी थे। उन्हें विश्वास था कि उनके पक्ष की सचाई अवश्य प्रमाणित होकर रहेगी।

बैरिस्टर बैप्टिस्टा लोकमान्य के पट शिष्यों में से थे। उन्होंने पहले से ही लन्दन पहुंचकर किराये पर कमरे लेकर तिलक और उनके साथियों के ठहरने की व्यवस्था कर ली थी। लोकमान्य ने भी अपने वेष में परिवर्तन करके अपनेको लन्दन के वातावरण के अनुकूल बना लिया था। अचकन, धोती और मराठी जूता उतारकर उनके स्थान पर कोट, पतलून और बूट

धारण कर लिये थे।

अभियोग अभी १९१९ के जनवरी मास में प्रिवी कौंसिल के सामने आनेवाला था। उधर युद्ध की समाप्ति पर इंग्लैंड में पार्लमेंट के आम चुनाव हुए। अवसर से लाभ उठाकर लोकमान्य ने पुस्तिकाओं और लेखों द्वारा होमरूल के आन्दोलन को जारी रक्खा। लोकमान्य ने मिं० बैप्टिस्टा और मि० एन० सी० केलकर आदि साथियों की सहायता से ब्रिटेन की जनता के सम्मुख भारत की स्वाधीनता की मांग रखने का भरपूर प्रयत्न किया।

अभियोग की पैरवी के लिए दोनों ओर से दो बड़े महारथी वकील खड़े किये गए थे। लोकमान्य की ओर से सर जान साइमन और शिरोल की ओर से सर एड्वर्ड कार्सन वाग्युद्ध की तैयारी कर रहे थे। दोनों ही इंग्लैंड के प्राड्विवाक् मण्डल के नेता समझे जाते थे और दोनों का इंग्लैंड के राजनैतिक जीवन में बड़ा नाम था। उनमें से सर एड्वर्ड कार्सन ने समूचे आयलैंड की स्वाधीनता का सक्रिय विरोध करके और आयलैंड को इंग्लैंड के अधीन रखने में सफलता प्राप्त की थी। कार्सन की वावदूकता की ख्याति भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इधर सर जान साइमन ने सारी परिस्थिति देखकर और अभियोग का अनुशीलन करके लोकमान्य से कह दिया था कि अभियोग के सफल होने की बहुत आशा नहीं है। तो भी लोकमान्य ने 'प्रारब्ध उत्तम जनाः न परित्यजन्ति' की नीति का पालन करते हुए अभियोग लड़ने का ही निश्चय दृढ़ रक्खा।

अभियोग जस्टिस डार्लिंग की अदालत में २९ जनवरी को पेश हुआ। लोकमान्य की ओर से शिरोल पर निम्नलिखित मुद्दों के सम्बन्ध में मान-हानि का दावा किया था।

१. शिरोल ने लिखा था कि तिलक ने गोरक्षा का आन्दोलन मुसलमानों को तंग करने के लिए आरम्भ किया था।
२. तिलक ने अखाड़ों की स्थापना इसलिए कराई थी कि सरकार के विरुद्ध हिंसा की प्रवृत्ति उत्पन्न की जा सके।
३. ताई महाराज के मामले में हाईकोर्ट ने जो फैसला दिया, उससे तिलक चरित्रहीन और अप्रामाणिक व्यक्ति सिद्ध होते हैं।
४. रैण्ड जैक्सन आदि की हत्याओं के लिए तिलक के उत्तेजक लेख उत्तरदायी हैं।

इंग्लैंड के कानून के अनुसार जज की सहायता के लिए बारह अंग्रेजों की जूरी नियत की गई।

प्रारम्भ में लोकमान्य के वकील सर जान साइमन ने सात घण्टे के लम्बे

भाषण में अभियोक्ता के पक्ष की स्थापना की। भाषण लम्बा भी था और योग्यतापूर्ण भी, परन्तु उसके पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि साइमन का पूरा दिल उसमें नहीं था। उसने शिरोल के लगाये हुए आरोपों की पूरी काट न करके सभी मुद्दों को हल्का करने का प्रयत्न किया। अंग्रेजों की जूरी पर ऐसे भाषण का वैसा प्रभाव न पड़ा जैसा लोकमान्य के पक्ष के समर्थन के लिए आवश्यक था। प्रतीत होता है कि सर जान साइमन पराजय के लिए तैयार होकर ही युद्धक्षेत्र में उतरे थे।

३१ जनवरी को इंग्लैंड के मूर्धन्य वकील सर एडवर्ड कार्सन ने लोकमान्य की जिरह आरम्भ की। जिरह क्या थी, दो असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का वाग्युद्ध था। लोकमान्य और सर एडवर्ड दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में अंग्रेजी सरकार के विद्रोही समझे गये थे। दोनों की पैनी प्रतिभा से सरकार आहत हो चुकी थी। दोनों की वाक्-प्रतिस्पर्द्धा के कुछ नमूने यहां दिये जाते हैं—

यह सिद्ध करने के लिए कि तिलक ने नवयुवकों को बम बनाने की प्रेरणा की, कार्सन ने पूछा—

कार्सन—आप छात्रों को कौन-सी साइंस पढ़ाते थे ?

तिलक—जो साइंस छात्रों को प्रायः पढ़ाई जाती है—फिजिक्स, मिकैनिक, ज्योतिष्

कार्सन—रसायन ?

तिलक—नहीं

कार्सन—पिकरिक ऐसिड

तिलक—मैं इस विषय में कुशल नहीं हूं। यह मैंने नहीं पढ़ाया।

कार्सन—आप यह तो जानते हैं कि पिकरिक ऐसिड किस काम आता है ?

तिलक—हां, अखबारों से जानता हूं।

ऐसे उत्तरों से सर एडवर्ड की परेशानी बहुत बढ़ जाती थी। परेशान होकर उसने प्रश्न किया—

कार्सन—क्या आप सरकार के खिलाफ असन्तोष पैदा करते थे ?

तिलक—बिलकुल नहीं।

कार्सन—और आप करना भी नहीं चाहते थे ?

तिलक—नहीं, मैंने न ऐसा किया और न करना चाहता हूं।

कार्सन—आपको असन्तोष फैलाने के कारण दो बार सजा मिल चुकी है ?

तिलक—हां, मिल चुकी है। परन्तु किसी व्यक्ति को सजा मिली, इससे

यह सिद्ध नहीं होता कि वह वस्तुतः अपराधी है।

आगे चलकर कार्सन ने लोकमान्य से पूछा—

कार्सन—क्या बंगाल का विभाजन बमबाजी का कारण था ?

तिलक—बिल्कुल इसी तरह जैसे आयर्लण्ड और अल्स्टर के मामले में।

कार्सन को यह बात चुभ गई। बोले—

"अल्स्टर की चर्चा मत करो। अल्स्टर अपनी चिंता आप कर लेगा। व्यक्तिगत बातों को बीच में लाने से कोई लाभ नहीं होगा।"

तिलक ने तुरन्त उत्तर दिया—

"मैं कोई व्यक्तिगत बात बीच में नहीं ला रहा हूं। मेरे जिस लेख पर आप प्रश्न कर रहे हैं, उसमें अल्स्टर का दृष्टांत दिया गया है।"

जिरह में जब सर एडवर्ड लोकमान्य से आग्रहपूर्वक पूछते गये कि यदि जो कुछ तुमने लिखा है, वह राजद्रोह नहीं है, तो फिर राजद्रोह तुम किसे मानते हो, तो लोकमान्य ने उत्तर दिया कि आयलैंड के होमरूल-सम्बन्धी आन्दोलन में जो भाषण आपने दिये थे, वे राजद्रोह के नमूने हैं।

एक और दृष्टांत लीजिये—

कार्सन—नासिक-अभियोग में दण्ड पाने पर भी आपने मि० भट्ट को 'केसरी' कार्यालय में नौकर रक्खा था?

तिलक—हां, मैंने उन्हें काम पर लगाया था।

कार्सन—वह अब भी आपके यहां काम पर हैं ?

तिलक—मैं यहां आया तबतक तो थे।

कार्सन—आप गोलमाल जवाब क्यों देते हैं ? शरमाते क्यों हैं ?

तिलक—इसमें शरमाने की क्या बात है ? राजद्रोह की सजा पाये हुए लोग पार्लमिंट तक में बैठते हैं।

सर एडवर्ड कार्सन को आयरिश होमरूल आन्दोलन के समय राजद्रोह में सजा मिली थी।

इस प्रकार लम्बी-चौड़ी जिरह में तिलक से परास्त होकर कार्सन ने अपना कानूनी आक्रमण समाप्त किया। उसके पश्चात् अभियोग-नाटक के अन्य अङ्क प्रदर्शित हुए। साइमन और लोकमान्य के प्रश्नोत्तर हुए, जिनमें साइमन ने कार्सन के आरोपों की काट की। कुछ और जिरह के पश्चात् वैलंटाईन शिरोल की बारी आई। उससे सर साइमन ने जिरह की। साइमन के प्रश्न बहुत चतुरतापूर्ण थे, परन्तु शिरोल भी कुछ कम घाघ नहीं था। प्रायः सब टालू उत्तर दिये। प्रश्नोत्तरों के समाप्त हो जाने पर १९ फरवरी को सर एडवर्ड कार्सन ने अपना भाषण आरम्भ किया। सर एडवर्ड कार्सन अपने समय के कानूनी अन्तरिक्ष में सबसे बड़ा बवंडर था।

इंग्लैण्ड के प्रख्यात लेखक गार्डनर ने उसके बारे में लिखा था—

"कार्सन ऐतिहासिक जमाने के एक दुष्ट देवता हैं। वह न होते तो विद्रोही अलस्टर की कोई बात भी न पूछता। अदालत में आकर वह मामूली-सा भी विरोध करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि मानो आकाश में बादलों की गड़गड़ाहट हो रही है। जूरी को दबाने में उनका कोई सानी नहीं। मुकदमे में राजनीति का उपयोग किस कुशलता से किया जा सकता है और विरोधी पक्ष पर दोषमुक्त हेतु का आरोप लगाया जा सकता है, यह अगर किसीको सीखना हो तो कार्सन के पास जायं।"

जिस कला में कार्सन परम प्रवीण था, उसका लोकमान्य के अभियोग में उसने शत-प्रतिशत प्रयोग किया। जूरी के सामने अपनी पक्ष रखते हुए उसने कहा था—

"आप इस बात को ध्यान में रक्खें कि यह एक सार्वजनिक अभियोग है और इस दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है। यदि आपका निर्णय वादी के अनुकूल हुआ तो यह हिन्दुस्तान में जाकर कहेगा कि मैंने यह यह सब लिखा और कहा, लेकिन जूरी ने मुझे निर्दोष छोड़ दिया। मुझे अब फिर ऐसा लिखने या बोलने के लिए किसीसे डरने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दुस्तान में अंग्रेज हाकिमों को बड़ी दृढ़ता से काम करना पड़ता है। तब जाकर ब्रिटिश सरकार वहां अमन कायम रख सकती है। इस कारण, आपके फैसले का सारी परिस्थिति पर क्या असर होगा, इसका आप ध्यान रखें।"

इस भाषण के बाद जस्टिस डार्लिंग ने जूरी को अभियोग के दोनों पक्ष समझाने के लिए भाषण दिया, जिसका अभिप्राय यह था कि तिलक के बारे में शिरोल ने जो कुछ लिखा है, वह अधिकांश में सत्य है।

२१ फरवरी को जूरी ने सत्ताईस मिनट तक परस्पर बातचीत करके अपना निर्णय शिरोल के पक्ष में दिया। जूरी के निर्णय का समर्थन करते हुए जहां शिरोल को निर्दोष बतलाया वहां यह भी फैसला दिया कि वादी प्रतिवादी को अभियोग का सारा खर्च दे।

अभियोग में तिलक हार गये, शिरोल जीत गये, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से शिरोल ने तिलक की जीत स्वीकार कर ली। तलवार की यही खूबी है कि शत्रु उसके लोहे को माने। अभियोग के पांच-छः वर्ष बाद शिरोल ने अपनी 'इण्डिया' नाम की पुस्तक में लिखा था—

"वर्तमान युग में उनके (तिलक के) जैसा दूसरा कोई लोकोत्तर पुरुष नहीं हुआ। शायद गांधी उनके समकक्ष हो सकते हैं। लख-

नऊ में जब उनकी और श्रीमती ऐनी बेसेण्ट की जोड़ी सभामंच पर आई, तब लोगों ने उनका इस प्रकार अभिनन्दन किया, मानो वे ईश्वर के अवतार प्रकट हुए हैं।"

एक पत्र-प्रतिनिधि के प्रश्नों का उत्तर देते हुए शिरोल ने कहा था —

"मैं वर्षों से पत्रकारिता का काम करता हूं। इस बीच में मेरे देखने में केवल दो ही ऐसे निडर व्यक्ति आये, जिन्होंने मुझसे डटकर जवाब तलब किये हों। वे दोनों हैं—तिलक और जर्मनी का सम्राट् कैसर।"

यों तो अभियोग के प्रतिकूल फैसले से प्रत्येक भारतवासी के दिल को धक्का-सा लगा, परन्तु शायद सबसे अधिक दुःख लोकमान्य को हुआ। फैसले के बहुत समय पश्चात् तक वह अत्यन्त चिन्ताग्रस्त और चुपचाप रहे। प्रतीत होता है कि फैसले से पूर्व उनके मन में भी यह विश्वास जमा हुआ था कि अंग्रेज-जाति स्वभाव से न्यायपरायण है, भारत के पराधीनतापूर्ण वातावरण में आकर उसकी न्यायबुद्धि कुण्ठित हो जाती है। यदि ऐसा विश्वास न होता तो वह इस अभियोग को लड़ने के लिए अपने घर तक बन्धक न रख देते। उनका अनुमान था कि अभियोग में लाख-सवा लाख रुपये व्यय होंगे, परन्तु व्यय हो गई ढ़ाई लाख के लगभग राशि। इन सब कारणों से, लोकमान्य के हृदय पर फैसले से गहरा आघात पहुंचना स्वाभाविक था। जीवनभर के अनथक परिश्रम और जेल की यातनाओं से थका हुआ शरीर और उसपर यह अनुभव कि जिस जाति की न्याय-बुद्धि पर भरोसा किया, वह आमूल-चूल अविश्वसनीय निकली—यह स्वाभाविक ही था कि विपरीत फैसले का लोकमान्य के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर हुआ। वह भारत लौटकर फिर से पूरा स्वास्थ्य लाभ न कर सके।

परन्तु यह न मानना चाहिए कि लोकमान्य का यह कष्ट-सहन व्यर्थ गया। वस्तुतः शिरोल-अभियोग का फैसला भारत की राजनीति में युग-परिवर्तन का कारण हुआ। यदि किसी राष्ट्रीय विचार के भारतवासी के दिल के किसी कोने में अंग्रेजों की न्यायपरायणता का वहम बना हुआ था तो वह शिरोल-अभियोग के पक्षपातपूर्ण फैसले से समूल नष्ट हो गया। शिरोल-अभियोग को ब्रिटेन की ऐतिहासिक परीक्षा का अन्तिम प्रश्न-पत्र कह सकते हैं। उसमें ब्रिटिश जाति अनुत्तीर्ण हो गई। भारत की राजनीति में, नये युग के आगमन में, लोकमान्य की इस तपस्या से बहुत सहायता मिली। भारतवासियों को निश्चय हो गया कि यदि वे अंग्रेजों से स्वाधीनता चाहते हैं तो उन्हें अंग्रेजों की सद्बुद्धि पर विश्वास जैसे वहम को हृदय से सर्वथा उन्मूलित कर देना होगा।

: ४१ :

होमरूल के लिए भगीरथ यत्न

अभियोग में असफलता के कारण लोकमान्य को जो निराशा हुई थी, वह एक रात से अधिक न ठहर सकी। प्रातःकाल उठे, तो उसी दृढ़ संकल्प और उसी आशा के साथ, जो उनके जीवन के मूलमन्त्र थे। मि० वैप्टिस्टा ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि दूसरे दिन प्रातःकाल• जब तिलक मेरे कमरे में आये तो उनकी आंखों में वही उत्साह की ज्योति चमक रही थी।

अपने इंग्लैण्ड-प्रवास का सदुपयोग करने के लिए लोकमान्य ने होमरूल के पक्ष में आन्दोलन करने का विस्तृत कार्यक्रम बनाया। लेख और वाणी दोनों शक्तियों का प्रयोग किया गया। कई पुस्तिकाएं प्रकाशित की गईं और अनेक सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया गया। उन दिनों पेरिस में शान्ति-सम्मेलन हो रहा था ? उसमें भूमण्डल के भाग्य का निर्णय हो रहा था। विजेता देश विजित और पराधीन देशों को शतरंज के मोहरों की भांति यथेच्छ रख रहे थे। लोकमान्य ने होमरूल लीग की ओर से उसके पास भी एक आवेदन-पत्र भेजा। उस आवेदन-पत्र में भारत के लिए आत्म-निर्णय की मांग की गई थी। शारीरिक अस्वस्थता के होते हुए भी लोकमान्य इंग्लैण्ड के मजदूरदलीय नेताओं से मिलते-जुलते और उनके द्वारा पार्लमिण्ट में भारत की चर्चा कराते रहे। शासन-सुधारों के सम्बन्ध में ब्रिटिश पार्लमिण्ट ने जो सिलेक्ट कमेटी बनाई थी, उसके पास भी लोकमान्य ने अपने विचार लिखित रूप में भेजे।

इस प्रकार यद्यपि इंग्लेंड में लोकमान्य सर्वथा वैध उपायों से स्वराज्य के पक्ष में अनथक आन्दोलन कर रहे थे, तथापि सरकार ने उनके प्रति क्षुद्र द्वेष की भावना को बराबर जारी रक्खा। लोकमान्य ने होमरूल का आवेदन-पत्र इंग्लेंड की सरकार को भेजकर प्रार्थना की कि वह उसे पेरिस में होनेवाले शान्ति-सम्मेलन के पास पहुंचा दे। सरकार ने वैसा करने से साफ इन्कार कर दिया। सामान्य नियम यह होता है कि यदि सिलेक्ट कमेटी के पास अपनी ओर से कोई सिफारिश भेजे, तो उसे कमेटी में उपस्थित होकर प्रश्नोत्तर द्वारा अपने पक्ष के स्पष्टीकरण का अवसर दिया जाता था। लोकमान्य ने सुधार-विषयक अपने विचार सिलेक्ट कमेटी को

लिखकर भेजे थे। कमेटी ने लोकमान्य को इतना अवसर तो दिया कि वह यदि कमेटी में आकर कुछ कहना चाहें तो कह दें, परन्तु उसपर सदस्यों से वातचीत अथवा प्रश्नोत्तरों का अवसर देने की शिष्टता न दिखाई।

उस समय शान्ति-सम्मेलन की हलचलों के कारण अन्य अनेक देशों और भारत के भी बहुत-से महानुभाव इंग्लैंड में इकट्ठे हो रहे थे। उनकी परिस्थितियों से लोकमान्य की परिस्थिति की तुलना करते हुए श्रीमती सरोजिनी नायडू ने लिखा था—

"लन्दन में भूरे कपड़ों, और मृत्यु की भूरी छाया से आच्छादित तिलक की दुःखद स्मृति मेरे हृदय पर अंकित हो गई है। वहां छोटे-छोटे देशों और छोटी-छोटी जातियों के प्रतिनिधि शाही ढंग पर रहते थे और दावतें उड़ाते थे, और उनके प्रति शासकों द्वारा पूरा आदर-सत्कार प्रदर्शित किया जाता था। परन्तु वालगंगाधर तिलक की दशा उनसे भिन्न थी। भारत के निवासियों की उनमें अपार श्रद्धा थी और वह देश में देवता की तरह पूजे जाते थे। पर इंग्लैंड के कानून बनानेवालों और राजनीतिज्ञों द्वारा उपेक्षित, अपमानित और शत्रु की तरह व्यवहार किये जाने पर भी देश की खातिर वह लन्दन की विरोधपूर्ण पटरियों पर पैदल घूमते दिखाई देते थे।"

जिन दिनों वहां लोकमान्य शत्रुओं के दुर्ग में बैठकर अपने देश की स्वाधीनता के लिए आन्दोलन कर रहे थे, उन्हीं दिनों देश में घटना-चक्र वड़ी तीव्र गति से चल रहा था, जिसके प्रभाव से देश स्वाधीनता-संग्राम के अन्तिम चरण में प्रवेश कर रहा था। भारत में जनता के बढ़ते हुए असंतोष से घबराकर इंग्लैंड की पार्लमिण्ट ने एक समिति नियुक्त की थी, जिसका नाम अध्यक्ष के नाम पर रौलट कमेटी प्रसिद्ध हुआ। उस कमेटी ने भारत-सरकार की फाइलों और परामर्शों के आधार पर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें उस असंतोष का दमन करने के लिए नये कानून बनाने का परामर्श दिया। उस रिपोर्ट के आधार पर भारत-सरकार ने दो कानून तैयार किये, जो रौलट बिल के नाम से विख्यात हुए। जब वे बिल असम्वेली में पेश हुए तो सभी चुने हुए भारतीय सदस्यों ने उसका घोर विरोध किया। पंडित मदनमोहन मालवीय, मि० मुहम्मदअली जिन्ना आदि प्रमुख भारतीय नेताओं ने बिलों का विरोध करते हुए सरकार को कड़ी चेतावनी दी कि यदि लोकमान्य की उपेक्षा करके सरकार ने इन बिलों का स्वीकार कर लिया तो जो देशव्यापी विक्षोभ उत्पन्न होगा, उसके लिए सरकार होगी। उधर सरकार पर मानो भूत सवार था। उसने न विरोध की परवा की और न चेतावनी की ओर ध्यान दिया, और सरकारी वोटों के जोर से वे

कानून पास कर दिये गए। भारतवासियों ने उन कानूनों का नाम 'काले कानून' रक्खा था।

जब घटना-चक्र इस पड़ाव पर पहुंचा तो देश की विस्तृत राजनीति में एक नई शक्ति ने प्रवेश किया। महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों के अधिकारों की लड़ाई लड़कर अपनी साधना को पूरा कर चुके थे और यश भी कमा चुके थे। अपने देश में आकर इससे पूर्व उन्होंने मिल के मजदूरों और किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए दक्षिण अफ्रीका में अनुभूत सत्याग्रह शस्त्र का प्रयोग किया था। इस समय देश पर भारी संकट आया देखकर वह मैदान में आ गये और काले कानूनों के विरोध में देश-व्यापी सत्याग्रह जारी करने का उपक्रम किया। १९१९ के मार्च मास में सत्याग्रह-समितियों की स्थापना के साथ भारत की राजनीति में जिस युग का प्रारम्भ हुआ, उसे हम भारत के स्वाधीनता-युद्ध की लड़ाई का अन्तिम युग कह सकते हैं।

सत्याग्रह-संग्राम की पहली झड़प ३० मार्च को दिल्ली में हुई, जहां उस दिन महात्माजी के आदेश के अनुसार प्रार्थना, हड़ताल और चौबीस घंटों के उपवास का कार्य-क्रम मनाया गया। उस दिन जो अद्भुत प्रदर्शन हुआ, उससे सरकार बौखला गई, शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के उत्तर में गोलियां, टैंकों और आर्मर्ड कारों को मैदान में लाई। गोलियों से मरनेवालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। नगर के मुख्य बाजार चांदनी चौक के मध्य में, भूमि पर हिन्दुओं और मुसलमानों के रुधिर के साथ-साथ बहने का यह परिणाम हुआ कि दिल्ली से 'हिन्दू-मुस्लिम भाई भाई' का जो नारा उठा, वह कुछ दिनों में ही सारे देश में फैल गया। उसके पश्चात् पंजाब में मार्शल ला, जलियांवाला बाग आदि के जो भयंकर काण्ड हुए, वे भारत में अंग्रेजी शासन के विशिष्ट काले कारनामे हैं।

भारत में जो सनसनीपूर्ण घटनाएं हो रही थीं, उनके समाचार इंग्लैण्ड में पहुंच रहे थे। अपने होमरूल आन्दोलन में लोकमान्य तथा कांग्रेस के शिष्ट-मण्डल के सदस्य पूरा उपयोग ले रहे थे। कांग्रेस के प्रतिनिधि में से श्री विट्ठलभाई पटेल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रौलट ऐक्ट-आन्दोलन मार्शल ला और जलियांवाला-कांड के दिनों में लोकमान्य के इंग्लैण्ड में रहने की बात को लेकर उन दिनों कई आलोचकों ने समाचार-पत्रों में काफी चर्चा चलाई थी। उनका कहना था कि जब देश में देशभक्तों के रक्त की नदियां बह रहीं थी, तब तिलक का विलायत में रुके रहना उचित नहीं था। उन्हें तो उस समय जनता के बीच होना चाहिए था। यह आक्षेप निराधार ही था। यह सत्य था कि यदि लोकमान्य उन

दिनों भारत में वापस आने का यत्न करते तो उन्हें सरकार से पासपोर्ट न प्राप्त होता। यदि प्राप्त हो जाता और वह भारत में आ जाते तो उनपर आते ही ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये जाते, जो उन्हें सह्य न होते और फलतः वह उन्हें तोड़कर जेल में पहुंच जाते। परिणाम यह होता कि वह इंग्लैण्ड में आन्दोलन को व्यवस्थित करने का जो कार्य कर रहे थे, वह बन्द हो जाता और देश को कोई लाभ न होता।

यह भी संभव प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में महात्मा गांधी ने जिस युक्ति-शृंखला के आधार पर और जिस प्रक्रिया से सत्याग्रह आरम्भ किया था, लोकमान्य उससे पूरी तरह सहमत नहीं थे। जहां वह अपने सक्रिय राजनैतिक जीवन में शराबबन्दी के प्रश्न पर धरना और सक्रिय कानून भंग के सुझाव उपस्थित कर चुके थे, वहां वह तत्वज्ञान की दृष्टि से पूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह के पक्ष में नहीं थे। महात्मा गांधी के 'हिन्द स्वराज्य' और लोकमान्य के 'गीता-रहस्य' का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों महापुरुषों की मौलिक विचार-धाराओं का भली प्रकार परिचय हो जाता है। दोनों के आधारभूत दार्शनिक विचारों और तबीयतों में जो भेद है, वह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि महात्माजी की राजनीति सरकार से पूर्ण सहयोग और पूर्ण असहयोग इन दो किनारों पर रहती थी, वहां लोकमान्य ने भारत आने पर देश के सामने 'प्रतियोगी सहयोग' (रेसपॉन्सिव कोआोप-रेशन) का सुझाव पेश किया था। लोकमान्य की प्रतियोगी सहयोग की नीति का आधार भगवद्गीता का यह श्लोकार्ध था—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

—जो लोग मेरे साथ जैसे वर्ताव करते हैं, मैं उनके साथ वैसा ही बर्तता हूं।

शिरोल-अभियोग के कारण लोकमान्य पर बहुत बड़ा आर्थिक संकट आ गया था। उनपर कई लाख का कर्ज हो गया था। हम बतला आये हैं, वह अपने रहने के घर को रहन रखकर विलायत गये थे। उन्हें आशा थी कि अभियोग में उन्हें सफलता मिलेगी और हर्जाने से क्षतिपूर्ति हो जायगी। आशा पूरी नहीं हुई और व्यय अनुमान से तिगुना हो गया। यह देखकर उन्हें भार से मुक्त करने के लिए राष्ट्र-प्रेमियों ने भारत में चन्दा एकत्र करना आरम्भ कर दिया। ३० मई को बम्बई में इस उद्देश्य से जो सभा हुई, उसके सभापति गांधीजी थे। भाषण में उन्होंने कहा था—

"तिलक का और मेरा मार्ग भिन्न है, परन्तु स्वार्थ-त्याग और विद्वत्ता लोकमान्य के ये दो गुण सबके लिए अनुकरणीय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं इस न्याय की अदालतों से बिलकुल ऊब गया हूं।

मुझे हमेशा यह लगा करता है कि तिलक यदि केवल सत्याग्रही होते तो कैसा सुन्दर होता।"

नवम्बर में लोकमान्य ने भारत लौटने का निश्चय किया। तबतक भारत में घटनाओं का रथ कई पड़ाव पार कर चुका था। मार्शल ला समाप्तप्राय था। अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का निश्चय हो गया था, और यह आशा हो रही थी कि ब्रिटिश सरकार पंजाब की घटनाओं की छानबीन के लिए एक कमीशन बनायगी। उधर भारत में होनेवाले उग्र आन्दोलन के नक्कारे की ध्वनि में होमरूल का आन्दोलन तूती की तरह लुप्त हो रहा था।

लोकमान्य और उनके साथी ६ नवम्बर को 'दि इजिप्ट' नामक जहाज से विलायत से रवाना होकर २७ नवम्बर को बम्बई पहुंच गये।

: ४२ :

अमृतसर-कांग्रेस में

नवम्बर के महीने में बम्बई का मौसम बहुत सुहावना होता है। २७ नवम्बर के मध्याह्न का समय था, जब 'दि इजिप्ट' जहाज लोकमान्य और उनके साथियों को लेकर बम्बई के बन्दरगाह पर पहुंचा। हजारों लोग स्वागत के लिए पहुंचे हुए थे। उनका उसी उत्साह से स्वागत हुआ, जिस उत्साह से विजयी सेनापति का घर लौटने पर होता है। अभियोग में हार-कर भी वस्तुत: वह विजेता ही थे। उनकी सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इतना शारीरिक और आर्थिक बलिदान करके उन्होंने महात्मा गांधी के इस विश्वास को फौलाद की तरह दृढ़ कर दिया कि भारतवासियों को अंग्रेजी-न्यायालयों से न्याय की कोई आशा न रखनी चाहिए. और भारतवासियों को सरकार से पूर्ण असहयोग के लिए तैयार कर दिया।

बम्बई में लोकमान्य चार दिन तक रहे। चारों दिन नगर के भिन्न-भिन्न वर्गों द्वारा उनके हार्दिक अभिनन्दन का आयोजन होता रहा। बॉम्बे नैशनल यूनियन द्वारा दिये गए रात्रि-भोज में उन्होंने कहा कि जो थोड़े-बहुत शासन-सुधार मि० माण्टेगू ने पेश किये हैं, यह उनकी कृपा का फल नहीं है। यह फल है वर्तमान समय की स्वाधीनतापूर्ण भावनाओं का। बम्बई के मिल-मजदूरों की ओर से २९ नवम्बर को 'तिलक महाराज' की सेवा में श्रद्धापूर्ण अभिनन्दन-पत्र पेश किया गया। इसी प्रकार अन्य अनेक संस्थाओं ने भी अभिनन्दन-पत्र, पान-सुपारी आदि समारोहों द्वारा देश के हृदय-सम्राट् के प्रति आभार प्रदर्शन किया।

पहली दिसम्बर के प्रातःकाल लोकमान्य पूना पहुंचें। रेलवे स्टेशन पर जो विशाल और हार्दिक स्वागत हुआ, वह उस समय अभूतपूर्व समझा गया था। सारा शहर स्वागत-द्वारों, वन्दनवारों और फूल-पत्रों से सजाया गया था। मार्ग में अनेक स्थानों पर पान-सुपारी, गुलदस्ते और वाचिक स्वागत लेते हुए लोकमान्य के जलूस को गायकवाड़ बाड़ा पहुंचने में चार घण्टे लगे। चरण-स्पर्श करनेवाले भक्तों और गले-मिलनेवाले मित्रों से अवकाश पाने में दोपहर हो गई। फिर भी दर्शनार्थियों का तांता लगा हुआ था। तब लोकमान्य के साथियों ने जनता से आग्रह-

पूर्वक निवेदन करके उन्हें वापस किया, क्योंकि स्नान तथा भोजन का समय बीता जा रहा था।

पूना-निवासियों ने लोकमान्य का नागरिक अभिनन्दन करने के लिए नगर के प्रतिनिधियों की एक प्रभाव-सम्पन्न समिति बनाई थी। उसकी ओर से २ दिसम्बर के सायंकाल विराट् सभा का आयोजन किया गया था, परन्तु यात्रा की थकान और बम्बई में निरन्तर भाषणों के कारण लोकमान्य का गला बैठा हुआ था, इस कारण सभा ७ दिसम्बर के लिए स्थगित कर दी गई दी गई। इस बीच में पूना के कुछ तिलक-विरोधी महानुभावों ने यह आन्दोलन खड़ा किया कि तिलक का जो अभिनन्दन किया जा रहा है, वह सारे नगर की ओर से न समझा जाय। उन्होंने यह भी धमकी दी कि यदि यह दावा किया गया कि वह अभिनन्दन सारे नगर की ओर से है तो सभा में उसका विरोध किया जायगा।

विरोधी दल के नेता श्री आर० पी० परांजपे अपने-आपको देशरत्न गोखले का अनुयायी कहते थे। उन्होंने अभिनन्दन के विरोध का समर्थन करने के लिए जो वक्तव्य प्रकाशित किया, उसमें लोकमान्य के सब कार्यों को खण्डनात्मक बतलाते हुए उनकी सेवाओं को खोखला सिद्ध करने का यत्न किया गया। गोखले के अनुयायी होने का दम भरनेवाले व्यक्ति का यह अकाल क्रन्दन सभी क्षेत्रों में बुरी दृष्टि से देखा गया, क्योंकि जब गोखले १६०५ में विलायत से लौटे थे, तब अनेक विषयों पर मौलिक मतभेद होते हुए भी तिलक ने उनके अभिनन्दन में भाग लिया था।

उन लोगों के विरोध का परिणाम इतना ही निकला कि सभा में उपस्थिति आशा से भी बहुत अधिक हो गई। लोकमान्य के परामर्श से सभा-संयोजकों ने विरोधियों के बैठने के लिए अलग स्थान की व्यवस्था कर दी थी। उसमें कोई विरोधी न बैठा। समय पर सभापति ने घोषणा की कि जो सज्जन विरोध में बोलना चाहते हैं, इस समय यहां आकर बोल सकते हैं। तब कोई बोलने के लिए भी खड़ा न हुआ। इसपर तिलक के जयकारों से सारा वातावरण गूंज उठा।

अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए लोकमान्य ने कहा था कि आप लोगों ने मेरे प्रति जो आदर-भाव प्रकट किया है, उसे मैं व्यक्तिगत नहीं समझता। आपका भाव उस आदर्श के प्रति है, जिसकी प्राप्ति के लिए मैं यत्नवान् हूं। इसी कारण मैं उसे सहर्ष स्वीकार करता हूं। अन्त में उन्होंने कहा कि यह समय हमारे लक्ष्य की प्राप्ति के अनुकूल है। लोहे पर तभी चोट लगानी चाहिए, जब वह गर्म हो। हमें स्वराज्य के पूरे अधिकार तभी मिल सकते हैं यदि हम दृढ़ता से उनकी अभिलाषा करें, और मजबूती से

उनके लिए प्रयत्न करें।

अमृतसर का कांग्रेस-अधिवेशन समीप आ रहा था। कुछ दिनों तक आराम करके लोकमान्य अमृतसर जाने के लिए बम्बई पहुच गये। बम्बई से अमृतसर जाने की व्यवस्था बड़ी धूमधाम से की गई थी। लोकमान्य के पंजाब और दिल्ली जाने पर जो प्रतिबन्ध था, वह तो दिसम्बर के प्रारम्भ में ही उठाया जा चुका था। तिलक और उनका दल २४ दिसम्बर को होम-रूल स्पेशल ट्रेन से अमृतसर जा रहा था। उन दिनों बी० बी० सी० आई की गाड़ियां ग्रांट ट्रंक रोड स्टेशन से चला करती थीं। गाड़ी को झण्डों और फूल-पत्रों से खूब सजाया गया था। जैसी सजी हुई गाड़ी थी, वैसा ही सजा हुआ स्टेशन था। हजारों व्यक्तियों की भीड़ के जयकारों के कोलाहल में होमरूल स्पेशल बम्बई से रवाना हुई। मार्ग में जो बड़े-बड़े स्टेशन आये, उन सभीपर लोकमान्य और उनके साथियों का स्वागत और अभिनन्दन किया। गया बड़ौदा, गोधरा, दोहद, रतलाम, गंगापुर आदि स्टेशनों पर सहस्रों नर-नारियों ने एकत्र होकर लोकमान्य के प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित की।

गंगापुर स्टेशन पर जो समाचार-पत्र मिले, उनमें भारत सम्राट् किंग जार्ज का वह घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसने अमृतसर के कांग्रेस अधिवेशन के तापमान को एकदम गिरा दिया था। वहीं से लोकमान्य ने वह ऐतिहासिक तार दिया था, जिसमें उन्होंने वायसराय द्वारा किंग जार्ज को धन्यवाद देते हुए यह सूचना दी थी कि उनकी नीति प्रतियोगी सहयोग की है।

उसके पश्चात् मार्ग में जितने बड़े स्टेशन आये, उनपर मिलनेवालों में घोषणापत्र की चर्चा ही विशेष रूप से होती रही। इस प्रकार देश के बड़े भाग में राजनैतिक स्फूर्ति पैदा करती हुई होमरूल स्पेशल २६ दिसम्बर का मध्याह्न के समय अमृतसर पहुंची।

अमृतसर-कांग्रेस से पूर्व प्रतीत होता था कि पंजाब के सम्बन्ध में सारा देश एकमत हो जायगा, परन्तु अधिवेशन से दो दिन पूर्व जब प्रतिनिधि अपने-अपने स्थानों से अमृतसर के लिए रवाना हो चुके थे, तब ब्रिटिश सरकार ने सम्राट् के वक्तव्य के रूप में फूट का एक बीज राजनैतिक क्षेत्र में फेंक दिया। उस घोषणा में वह सुन्दर वायदे दुहराये गए थे, जो पिछले दोसौ सालों में इंग्लैंड के सम्राट् भारतवासियों से करते रहे थे, और जिनके आधार पर हिन्दुस्तान में यह मुहाविरा-सा बना दिया कि वायदे तोड़ने के लिए ही किये जाते हैं। घोषणा-पत्र से भारतवासियों को विश्वास दिलाया गया था कि सम्राट् उन्हें स्वराज्य देना चाहते हैं—पर

देंगे धीरे-धीरे। स्वराज्य की पहली किश्त के तौर पर मार्शल-ला के अन्तर्गत बंदी किये लोगों को छोड़ दिया गया था। यह ब्रिटिश सरकार का पुराना हथकण्डा था कि आशा की झलक दिखाकर भारतीयों में फूट पैदा कर दी जाय, इस बार भी परिणाम वही हुआ। कांग्रेस तीन गुटों में विभक्त हो गई। सम्राट् की घोषणा का महात्मा गांधी पर यह असर हुआ कि वह घोषणा का स्वागत और सरकार से सहयोग करने लिए उद्यत हो गये। लोकमान्य ने गंगापुर स्टेशन से सम्राट् के पास तार से जो सन्देश वायसराय द्वारा भिजवाया था, उसमें प्रतियोगी सहयोग का समर्थन किया था। देशबन्धु चित्तरंजनदास और उनके साथियों का यह मत था कि सम्राट् का वक्तव्य केवल एक धोखा है, उसके कारण हमें अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।

लोकमान्य के अमृतसर पहुंचने पर स्वराज्य-सम्बन्धी मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में नेताओं का परस्पर परामर्श आरम्भ हो गया। अमृतसर-कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द थे। वह और पं० मदनमोहन मालवीय बीच-बिचाव करने का प्रयास कर रहे थे। उनका प्रयत्न था कि ऐसा सर्वसम्मत प्रस्ताव बनाया जाय, जिसपर खुली कांग्रेस में कोई मतभेद न न हो। वहां श्रीमती ऐनी बेसेण्ट भी पहुंची हुई थीं। वह भी समझौता कराने के लिए हाथ-पांव मार रही थीं, परन्तु अबतक वह एक प्रकार से प्रभावहीन हो चुकी थीं। जबसे मि० माण्टेगू से मिलकर उन्होंने यह घोषणा की थी कि वह माण्टेगू-चैम्सफोर्ड सुधारों के पक्ष में हैं, तबसे अग्रगामी दल के नेताओं ने उनकी बातों पर गम्भीरता से विचार करना छोड़ दिया था। उसी दौर में श्रीमती बेसेण्ट ने एक बार महात्मा गांधी को 'राजनैतिक बच्चा' लिखा था। उसपर लोकमान्य ने 'केसरी' में वह प्रख्यात लेख लिखा था, जिसका शीर्षक था—'पुनर्मूषिको भव'। एक ऋषि ने प्रसन्न होकर चूहे को बाघ बना दिया था। बाघ ऋषि को ही खाने को दौड़ा तो ऋषि ने उसे शाप दिया कि 'चूहा हो जा' चूहा फिर चूहा हो गया। यह दृष्टान्त देकर लोकमान्य ने श्रीमती बेसेन्ट की कलाबाजी-नीति की ऐसी कड़ी आलोचना की थी कि श्रीमती बेसेन्ट लड़खड़ा गई थीं। स्वाभाविक ही था कि अमृतसर-कांग्रेस में श्रीमती बेसेन्ट का कोई प्रभाव नहीं था, तो भी वह तीन सवारों में आने का यत्न तो कर ही रही थीं।

इधर ये चर्चाएं हो रहीं थीं, उधर पंजाब के निवासियों ने लोकमान्य के जलूस की तैयारी कर ली। कांग्रेस के खुले अधिवेशन से दो दिन पूर्व अमृतसर के बाजारों में लोकमान्य तिलक का जलूस निकला। वह अभूतपूर्व था। इस पुस्तक के लेखक पर उस जलूस का क्या प्रभाव पड़ा, यह निम्न-

लिखित उद्धरण से विदित हो जायगा। ये पंक्तियां जलूस के कुछ दिन बाद संस्मरणों के रूप में लिखी गई थीं—

"मैंने जलूस तो सैकड़ों देखे, उतना असली जोश और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसीमें मिला होगा, लगभग चालीस वर्ष के वलिदानमय जीवन ने तिलक महाराज को भारतवासियों के हृदयों में वह स्थान वना दिया था, जो पुराने देवी-देवताओं का वन जाया करता है। वहुत-से पंजावियों ने इससे पूर्व लोकमान्य के दर्शन भी नहीं किये थे। वे यह तो जानते थे कि तिलक नाम का स्वाधीनता का एक देवता है, जिसकी पूजा करनी चाहिए। पर उन्हें दर्शनों का पहला अवसर मिला था। पूजा का वह दुर्लभ अवसर पाकर उनके वर्षों से भरे हुए अरमान फूट पड़े थे। वाजारों में नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। हरेक व्यक्ति 'तिलक महाराज की जय' के नारों से आकाश फोड़ रहा था। पं० नेकीराम शर्मा को उस जलूस में मैंने पहली वार देखा। ऐसा याद आता है, पण्डितजी तिलक महाराज की गाड़ी पर किसी जगह खड़े होकर अपने मेघ-गम्भीर स्वर से तिलक महाराज की जय के नारे स्वयं लगा रहे थे और जनता से लगवा रहे थे। उस जलूस ने कांग्रेस के शेष सारे कार्यक्रम को मात दे दी थी। उस समय मेरे और मुझ जैसे सैकड़ों दर्शकों को यह निश्चय-सा हो गया था कि कांग्रेस के अधिवेशन में तिलक महाराज के सामने कोई नेता न ठहर सकेगा। जो प्रस्ताव पेश करेंगे वह स्वीकार हो जायगा।"

वह जलूस लोकमान्य की लोकप्रियता का अकाट्य प्रमाण था। लोकमान्य के दल-वल का डेरा खालसा कालिज में लगाया गया था। उस साल वर्षा के कारण पंजाव में सर्दी भी बेतरह पड़ रही थी। ठीक अधिवेशन के दिनों में असाधारण वृष्टि हो गई। दक्षिण के लोगों के लिए वह शीत असह्य था। जव डेरे में रहते, तव अंगीठी जलाकर रजाई में बैठते और जव पण्डाल में जाते तव गर्म कपड़े पहनने पर भी ठिठुरते रहते। लोकमान्य अपने सहयोगियों और अनुयायियों से निजू सम्बन्धियों और बच्चों की भांति व्यवहार करते थे। उनके दल के एक नवयुवक को निमोनिया हो गया। सव उलझनों में से समय निकालकर लोकमान्य उसकी परिचर्या की व्यवस्था का पूरा ध्यान रखते थे।

कांग्रेस का अधिवेशन २७ दिसम्बर को मध्याह्नोत्तर २-३० पर आरम्भ होनेवाला था। उसी दिन प्रातःकाल डा० सत्यपाल, डा० किचलू, ला० हरकिशनलाल, ला० दुनीचन्द, पं० रामभजदत्त चौधरी आदि मार्शल ला-ग्रस्त पंजावी नेता जेलों से मुक्त होकर अमृतसर पहुंच गये थे। अमृत-

सर उस समय मानो विवाह का मण्डप बना हुआ था। चारों ओर हर्ष और सन्तोष का उल्लास दिखाई दे रहा था। मार्शल ला के निराशापूर्ण वातावरण के बाद उस प्रसन्न वायुमण्डल के कई कारण बन गये। कांग्रेस पर आये हुए देश-भर में सम्मानित नेताओं का मंगलमय मिलन, नवयुवकों के हृदय-देवता लोकमान्य का आगमन और पंजाब के नेताओं का जेलमुक्त होकर अमृतसर में एकत्र होना, यह संयोग साधारण नहीं था।

उधर कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में नेताओं में जोरदार समुद्र-मन्थन चल रहा था। महात्मा गांधी सम्राट् के घोषणा-पत्र का उत्तर सद्भावना से देना चाहते थे। देशबन्धुदास, विपिनचन्द्रपाल आदि गर्म नेता उस घोषणा की सर्वथा उपेक्षा करके विरोधी रुख पर जमे रहने के पक्ष में थे। लोकमान्य का प्रतियोगी सहयोग दोनों का समन्वय करनेवाला समझौता समझा जाता था। स्वामी श्रद्धानन्द और महामना मालवीय सब नेताओं को किसी सर्वसम्मत प्रस्ताव पर केन्द्रित करने का यत्न कर रहे थे। श्री श्रीनिवास शास्त्री और श्री देवधर भी स्वागतध्यक्ष के निमन्त्रण को स्वीकार करके अमृतसर पहुंच गये थे और परामर्श में शामिल हो गये थे।

२८ दिसम्बर को दिन के ढाई बजे कांग्रेस का खुला अधिवेशन आरम्भ हुआ। इस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्द थे। जब अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन करने का निश्चय हुआ था तब ऐसे स्वागताध्यक्ष की तलाश हुई थी, जो जहां एक ओर प्रान्त के निवासियों की श्रद्धा का पात्र हो, वहां साथ ही सरकार की कुटिल दृष्टि के सामने भी जमा रह सके। प्रान्त के राजनैतिक नेताओं ने स्वामीजी से अनुरोध किया कि इस दुष्कर कार्य का बोझ अपने कन्धों पर स्वामीजी लें। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और दिल्ली से अमृतसर पहुंचकर स्वागत-कार्यक्रम की जिम्मेदारी उठा ली। फलतः जिस समय स्वामीजी और सभा के प्रधान स्वनामधन्य पं० मोतीलाल नेहरू अन्य नेताओं के साथ मंडप में पधारे तब उनका गगनभेदी करतल-ध्वनि और जयकारों से स्वागत हुआ। उनके अतिरिक्त महात्मा गांधी, पं० मालवीय, राजा महमूदाबाद, मि० मुहम्मदअली जिन्ना, हकीम अजमलखां आदि नेताओं का भी हार्दिक अभिनन्दन हुआ। लोकमान्य तिलक के आने पर तो मानो उत्साह की बाढ़ आ गई। पंजाब के जेल-मुक्त नेताओं के प्रति मंडप में प्रविष्ट होने पर उपस्थित प्रतिनिधियों और दर्शकों ने तालियों और जयकारों द्वारा हार्दिक प्रेम-भाव प्रदर्शित किया।

स्वामीजी ने अपना स्वागत-भाषण हिन्दी में पढ़ा। यह कांग्रेस के इतिहास में नई बात थी। अबतक कांग्रेस की वेदी पर अंग्रेजी का राज्य रहा था। अंग्रेजी अखबारों के संवाददाता अपनी कलमें संभाले निराशा की

दृष्टि से स्वामीजी की ओर देख रहे थे। वह असल में राष्ट्र की भाषा का सूचि प्रवेश थां, जो साल-दो-साल में ही बाढ़ की तरह आनेवाला था।

स्वामीजी ने अपने भाषण में लोकमान्य के सम्बन्ध में यह भाव प्रकाशित किये थे—

"राष्ट्र के पुराने राष्ट्रीयता के अग्रगामी महारथियों में से तिलक का नाम बहुत ऊंचा है। भारत के गौरव और आत्मसम्मान की रक्षा में कष्ट सहनेवालों में से कौन है, जो उनसे ऊंचा हो। भारत की स्वाधीनता के लिए लड़नेवाले सिपाहियों के सेनापति ने मार्गदर्शन कर दिया है। क्या हम सब नेता के दिखाये मार्ग को स्वीकार न करेंगे?"

अधिवेशन छः दिन तक खिंच गया। सर्वसम्मत प्रस्ताव बनाने के प्रयत्न जारी रहे। अन्त में प्रस्ताव स्वीकार किया गया। उसमें सभी पक्षों को सन्तोष हो गया। जो लोग माण्टेगू-चैम्सफार्ड-सुधारों को अत्यन्त दोषपूर्ण मानते थे, उनके मत के अनुसार प्रस्ताव में कहा गया था—

"यह कांग्रेस शासन-सुधारों के सम्बन्ध में अपनी दिल्ली की इस सम्मति को दुहराती है कि वे अपर्याप्त, असन्तोषजनक, और निराशापूर्ण है।"

महात्मा गांधी के सन्तोष के लिए पंजाब के मार्शल लॉ-काण्ड के अभियुक्तों के सम्बन्ध में कहा गया था—

"यह कांग्रेस मानती है कि अप्रैल के महीने में पंजाब में जनता की ओर से जो ज्यादतियां की गईं, जिनसे मौतें भी हो गईं, वह सरकार द्वारा भड़काये जाने पर हुईं, तो भी यह कहना आवश्यक समझती है कि वह शोकजनक और निन्दायोग्य थीं।"

मुख्य प्रस्ताव का अन्तिम और मुख्य भाग यह था—

"जबतक पार्लमिंट भारत के पूर्ण स्वराज्य की योजना स्वीकार करे, तबतक यह कांग्रेस सलाह देती है कि वह नई सुधार-योजना को ऐसे ढंग से कार्यान्वित करे, जिससे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन शीघ्र स्थापित हो जाय।"

श्रीमती बेसेन्ट जैसे मिर्जापुरी लोटों के सन्तोष के लिए प्रस्ताव के अन्तिम चरण में यह जोड़ दिया गया था—

"कांग्रेस उसके सुधार-योजना-सम्बन्धी प्रयत्नों के लिए राईट आनरेबल मान्टेगू को धन्यवाद देती है।"

मि० बापट ने तिलक-सम्बन्धी संस्मरणों में एक घटना लिखी है। घटना इस प्रकार है—

"जब विषय-निर्वाचिनी समिति की बैठकें हो रही थीं, तब दर्शनार्थियों को सन्तुष्ट करने के लिए तिलक को कई बार बाहर जाना पड़ता था। एक बार कुछ महिलाओं के आग्रह पर वह दर्शन देने के लिए बाहर आये, उस समय लोकमान्य और महात्माजी की निम्न-लिखित बातचीत हुई—

गांधी—मि० तिलक, यह उचित नहीं है। मैं जानता हूं कि आपका सिक्का चलता है, परन्तु उससे इस प्रकार लाभ उठाना उचित नहीं है।

तिलक—मि० गांधी, इस प्रकार बातचीत करने से कोई लाभ नहीं। यह ठीक है कि मेरी बात मानी जाती है, मैंने उसके लिए कठोर परिश्रम किया है। मुझे विश्वास है कि आपका भी वह दिन आनेवाला है।"

तिलक जनता के मन को खूब समझते थे। वह भांप गये थे कि भविष्य में सर्वसाधारण का श्रद्धेय नेता होने की शक्ति यदि किसीमें है तो वह गांधीजी में है। इस सम्बन्ध में मैं अपने संस्मरणों का निम्नलिखित भाग उद्धृत करता हूं। उससे भी विदित होगा कि तिलक गांधीजी को ही भावी लोकमान्य मानते थे—

"...अमृतसर में वह (तिलक) समझौते के लिए तैयार हो गये। यह देखकर लोकमान्य के कुछ शिष्यों को दुःख और आश्चर्य हुआ। वे लोग तिलक महाराज की सेवा में पहुंचे और जिज्ञासा की कि महाराज, आप समझौता क्यों करते हैं, खुले अधिवेशन में आपकी जीत निश्चित है। इस जिज्ञासा का लोकमान्य ने जो उत्तर दिया, उसके पूरे शब्द तो मुझे याद नहीं; परन्तु अभिप्राय मेरे हृदय पर बड़ी स्पष्टता से अंकित है। उसका अभिप्राय यह था—

"मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूं। अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाय। वह व्यक्ति, जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व संभालने की शक्ति मालूम होती है, गांधी हैं। देश की बागडोर अब उसीके हाथों में जायगी।"

मनुष्य से कभी न हारनेवाले महान् व्यक्ति को उस समय अपने शरीर की प्रकृति के सामने हारने के चिह्न दिखाई दे रहे थे। उस समय उसने जो भविष्यवाणी की, वह अक्षरशः सत्य निकली। अमृतसर-कांग्रेस में तिलक-युग का अन्त और गांधी-युग का प्रारम्भ हो रहा था।

: ४३ :

दीप-निर्वाण

दिये का तेल समाप्त हो रहा था, परन्तु बत्ती उसी तीव्रता से जलना चाहती थी। लोकमान्य अनुभव कर रहे थे कि शारीरिक शक्ति क्षीण हो रही है। अनथक परिश्रम और जेलजीवन ने उन्हें समय से पहले थका दिया है, परन्तु जबतक शरीर चलता है, तबतक राष्ट्र के काम आता रहे, यह भावना उन्हें विश्राम नहीं करने देती थी। अमृतसर से लौटने पर चिकित्सकों ने उन्हें पूर्ण विश्राम करने का परामर्श दिया। वह कुछ दिनों तक पूना स्टेशन के पास एक बंगला लेकर रहने लगे। परन्तु मधु थोड़ा हो, तब भी मधु-मक्खियां फूल को कब छोड़ती हैं। स्थान-स्थान से आये हुए लोग उन्हें घेरने लगे। फरवरी के मध्य में हम लोकमान्य को विविध सम्मेलनों और सभाओं में भाग लेने के लिए भ्रमण करता पाते हैं। १४ फरवरी को वह सांगली में होनेवाले ज्योतिष् सम्मेलन में गये, जहां उन्होंने स्वागत और अभिनन्दन के आयोजनों में भाग लिया। वहां से मिराज होते हुए पूना लौटे ही थे कि लाला लाजपतराय के वर्षों के अमरीका-प्रवास के पश्चात् बम्बई लौटने का समाचार मिला। लालाजी २० फरवरी को बम्बई पहुंचे, तो स्वागतकर्ताओं में तिलक को देखकर द्रवित हो गये। लालाजी को जो अभिनन्दन-पत्र भेंट किया गया, उसपर लोकमान्य के भी हस्ताक्षर थे। अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए लालाजी ने कहा—

"आप लोगों ने अभिनन्दन-पत्र देकर मुझे बहुत सम्मानित किया है। जब मैं देखता हूं कि इस अभिनन्दन-पत्र पर वर्तमान भारत के सबसे बड़े महापुरुष के हस्ताक्षर हैं—जिस महापुरुष के कारण देश और विदेश में रहनेवाले प्रत्येक भारतवासी का मस्तक गर्व से ऊंचा है, और जिसकी राष्ट्रसेवा और तपस्या अतुलनीय है—तो ऐसे अभिनन्दन-पत्र को प्राप्त करके कौन गर्व अनुभव न करेगा।"

६ मार्च को लोकमान्य बेलगांव के जिला राजनैतिक सम्मेलन में उप-स्थित हुए। १६ मार्च को उन्होंने पूना में ब्रह्मणेतर लोगों द्वारा आयोजित एक सभा में अस्पृश्यता पर भाषण दिया। उस भाषण में लोकमान्य ने बत-लाया कि केवल जन्म से जो वर्णभेद माना जाता है, वह शास्त्र-विरुद्ध है,

वर्णों का विभाजन कार्यानुसार होना चाहिए। मार्च के तीसरे सप्ताह में लोकमान्य अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के अधिवेशन में भाग लेने दिल्ली आये, जहां वह गांधीजी, लालाजी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं से मिले, और उनकी राजनैतिक सम्मतियों को समझने का यत्न किया। नगरवासियों की ओर से लोकमान्य का शानदार जलूस निकाला गया, जिसकी समाप्ति फटौदी हाउस के मैदान में हुई। वहां उनकी सेवा में हिन्दी में अभिनन्दन-पत्र उपस्थित किया गया, जिसका उत्तर देते हुए लोकमान्य ने नौकरशाही को चेतावनी दी कि अब भारतवासियों के धैर्य की सीमा पार हो गई है। उन्हें स्वराज्य के अधिकार से वंचित रखने का परिणाम यह होगा कि परिस्थिति हाथ से निकल जायगी।

दिल्ली के पश्चात् लोकमान्य ने सिन्ध का दौरा किया और वहां से लौटकर शोलापुर आये। शोलापुर में बम्बई के प्रान्तीय सम्मेलन का अधिवेशन श्री केलकर की अध्यक्षता में हो रहा था। पूना के नर्मदली नेताओं ने श्रीमता ऐनी बेसेण्ट की सहायता से यह योजना बनाई कि शोलापुर में लोकमान्य पर विजय प्राप्त की जाय। उन्होंने अनेक हथकण्डे काम में लाकर सम्मेलन में गड़बड़ डालने का यत्न किया। जब उसमें सफलता न मिली तो सम्मेलन में अमृतसर-कांग्रेस के अनुकूल जो प्रस्ताव उपस्थित किया, उसका विरोध करते हुए यह संशोधन उपस्थित किया कि सरकार द्वारा पेश किये हुए शासन-सुधारों को सन्तोषजनक मानकर पूरी तरह स्वीकार किया जाय। प्रस्ताव और संशोधन पर विधिपूर्वक बहस हुई और अन्त में मत लिये गए। लोकमान्य द्वारा पेश किया हुआ मूल प्रस्ताव भारी बहुमत से स्वीकार किया गया।

इन्हीं दिनों लोकमान्य के मन में यह विचार परिपक्व हो रहा था कि कांग्रेस के अन्दर अग्रगामी भावनाएं रखनेवालों का एक अलग संगठन बनाया जाय। अपने सहयोगियों से परामर्श करके वर्ष के मध्य में उन्होंने कांग्रेस डेमोक्रैटिक पार्टी का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इस पार्टी में महाराष्ट्र, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और विदर्भ के बहुत-से प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता सम्मिलित थे।

कुछ समय मिला तो लोकमान्य ने अपने घर के कामों की भी चिन्ता की। उनके दो पुत्र थे। बड़े का नाम रामभाऊ था। उसकी आयु २६ वर्ष की थी। वह उच्छृंखल प्रवृत्ति का नवयुवक था। प्रायः देशमान्य पिता के आदेश के विरुद्ध चलना उसके स्वभाव का अंग बन गया था। लोकमान्य ने उसे उसकी इच्छा पर छोड़ दिया। छोटे पुत्र का नाम श्रीधर था। वह पिता का आज्ञाकारी था। उसका विवाह सम्पन्न हो गया।

हम लिख आये हैं कि लोकमान्य पर शिरोल-अभियोग ने बहुत भारी ऋण का बोझ लाद दिया था। देशवासियों को जब यह मालूम हुआ तो अनेक स्थानों पर उस ऋण के चुकाने के लिए धन-संग्रह आरम्भ हो गया था। अभियोग पर लोकमान्य का लगभग दो लाख चौरासी हजार रुपया खर्च हुआ था। जब लगभग उसके समान राशि एकत्र हो गई तो २१ मई को पूना की एक सार्वजनिक सभा में वह एक थैली के रूप में तिलक महाराज की भेंट की गई। सभा के प्रधान डा० नानासाहब देशमुख थे। एक अभिनन्दन-पत्र भी पेश किया गया। उसका उत्तर देते हुए लोकमान्य ने कहा कि आप लोगों ने मुझे ऋण से मुक्त कराकर मुझे खरीद लिया है। मेरा शेष जीवन देश की सेवा में ही व्यतीत होगा।

शरीर थकआया, परन्तु आत्मा उसी तरह सचेत थी। २६ मई को हम लोकमान्य को बनारस में राजधर्म पर व्याख्यान देता हुआ पाते हैं। सभा के प्रधान महाविद्वान् डॉ० भगवानदासजी थे। लोकमान्य ने उसमें जिस राजनीति की व्याख्या की, वह भगवद्गीता के निम्नलिखित वाक्य पर अवलम्बित था—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो लोग मेरे पास जिस भावना से आते हैं, मैं उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता हूं।

इस 'जैसे को तैसा' के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए एक आलोचक ने लोकमान्य को कुटिल नीति का पक्षपाती बतलाया। डॉ० भगवानदास ने उसे उत्तर दिया कि यदि तिलक कुटिल नीति के पक्षपाती होते तो अपने मत का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन न करते। तब तो वह भी वस्तुतः कुटिल नीति के माननेवालों की तरह मुंह से मीठा बोलते और छुपा वार करते। तिलक की स्पष्टवादिता ही उनकी सचाई का अकाट्य प्रमाण है।

बनारस से पूना लौटने पर लोकमान्य को डाक्टरों ने फिर परामर्श दिया कि आप कुछ समय तक पूरा विश्राम करें। परन्तु देश के दीवाने को आराम कहां? यद्यपि समय से उन्हें रह-रहकर ज्वर आ जाता था, तो भी एक अभियोग उन्हें जुलाई के मध्य में बम्बई खींच ले गया।

वहां उन्हें एक सप्ताह तक ठहरना पड़ा। इन्हीं दिनों उन्हें निरन्तर ज्वर रहने लगा। वहां उन्हें मिलने के लिए महात्मा गांधी, मौ० शौकतअली और पं० नेहरू आदि अनेक नेता आये और राजनैतिक विषयों पर बातें कीं। पंजाब के दीवान चमनलाल ने २० जुलाई के सायंकाल लोकमान्य से निवेदन किया कि शायद चौपाटी पर मोटर की सैर करने से सेहत पर कुछ अच्छा असर पड़े। लोकमान्य राजी हो गये। सैर से लौटने पर देखा तो

ज्वर बढ़ गया था। डाक्टरों ने शरीर परीक्षा की तो मालूम हुआ कि निमोनिया हो गया है।

बम्बई के अनेक प्रसिद्ध चिकित्सक इलाज में जुट गये। उस समय तक निमोनिया के इलाज आविष्कृत नहीं हुए, जिन्होंने उस घातक समझे जानेवाले रोग का आतंक मिटा दिया हो और न ही आक्सीजन का उपयोग चालू हुआ था। बीमारी सात दिन तक तो कुछ काबू में रही। लोकमान्य कहते रहे कि मैं शीघ्र ही स्वस्थ हो जाऊंगा और कम-से-कम पांच वर्ष तक और जिऊंगा। बीच-बीच में अपने स्वभाव के अनुसार मजाक भी कर देते थे। इसके पश्चात् उन्हें कभी-कभी बेहोशी हो जाती थी। २८ तारीख को चिकित्सक घबरा गये, क्योंकि रोगी का सांस रुक-रुककर आने लगा और सांस के साथ घरघराहट का स्वर सुनाई देने लगा।

३१ तारीख के प्रातःकाल तबीयत कुछ अच्छी प्रतीत होने लगी थी, परन्तु वस्तुतः वह निर्वाण होने से पूर्व दीपक की अन्तिम चमक थी। आधी रात तक दशा डांवाडोल रही। डाक्टर लोग अपनी-अपनी समझ के अनुसार मृत संजीवनी दवाओं का प्रयोग करते रहे, परन्तु कोई उपाय कारगर न हुआ और ३१ जुलाई १९२० को १२ बजकर ४० मिनट पर भारतमाता के माथे का तिलक काल के गाल में विलीन हो गया।

: ४४ :

तिलक अमर हो गये

तिलक नाम का भौतिक शरीर पूरा हो गया, परन्तु उनका यश: शरीर बहुत विस्तृत रूप में अमर हो गया, यह लोगों ने तब अनुभव किया जब दूसरे दिन प्रातःकाल उनकी अर्थी बाजारों में से होकर चौपटी की ओर चली। लोकमान्य का अन्त्येष्टि-संस्कार चौपाटी पर करने की आज्ञा विशेष रूप से सरकार से प्राप्त की गई थी। प्रातः चार बजे से ही सरदार-गृह के द्वार पर लाखों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी। जब अर्थी उठी, तब जनता का समुद्र उमड़ पड़ा। बाजारों में अर्थी के साथ जानेवाली संख्या का अन्दाजा कम-से-कम पांच लाख और अधिक-से-अधिक दस लाख लगाया गया। शव-यात्रा के साथ महात्मा गांधी और अनेक राष्ट्र-नेता जा रहे थे। कहा जाता है कि ऐसे महान् दुःख का प्रदर्शन बम्बई में 'न भूतो न भविष्यति।' जिस स्थान पर लोकमान्य के भौतिक शरीर का अन्तिम संस्कार हुआ, वहां इस समय उनकी विशाल मूर्ति विद्यमान है।

लोकमान्य की मृत्यु के समाचार से सारा देश विचलित हो गया। प्रत्येक देशभक्त को ऐसा अनुभव होने लगा मानों कड़ी धूप में सिर पर से छाता उड़ गया हो। स्वयं गांधीजी कह उठे थे कि 'मेरा सबसे बड़ा आधार चला गया'। नागपुर-कांग्रेस में लोकमान्य की स्मृति में तिलक स्वराज्य फंड के लिए एक करोड़ रुपयों की अपील की गई, जो शीघ्र ही पूरी हो गई। महात्माजी ने 'नवजीवन' में लिखा था।

"लोकमान्य तो एक ही था। लोगों ने उन्हें जो पदवी दी, जो सम्मान दिया, वह राजाओं के दिये गए खिताबों से लाख गुना कीमती था। देश ने आज यह बात सिद्ध कर दिखाई है। यह कहें तो अत्युक्ति न होगी कि सारी बम्बई लोकमान्य को पहुंचाने के लिए उलट पड़ी थी। उनके आखिरी दिनों में जो दृश्य मैंने देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। लोगों के उस प्रेम का वर्णन करना असम्भव है।

"इस जमाने में किसी भी लोकनायक को ऐसी मृत्यु का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। दादाभाई गये, फीरोजशाह गये, गोखले भी चले गए। सबके साथ हजारों लोग श्मशान तक गये थे, पर तिलक महा-

राज ने तो हद कर दी, उनके पीछे तो सारी दुनिया गई, रविवार को बम्बई बावली हो गई थी।"

एक और अवसर पर गांधीजी ने कहा था—

"लोकमान्य जनता के आराध्यदेव थे, प्रतिमा थे। उनके वचन हजारों के लिए वेदवाक्य थे। पुरुषों में पुरुष-सिंह संसार से उठ गया। देश-भक्ति उनका धर्म हो गई थी। जितनी स्थिरता और दृढ़ता के साथ उन्होंने स्वराज्य के लिए काम किया, उतना और किसीने नहीं किया। उन्होंने निःसन्देह स्वराज्य की अवधि कई वर्ष कम कर दी। भारत की भावी सन्तति के हृदय में यही भाव बना रहेगा कि लोकमान्य नवीन भारत के निर्माता थे, वे उनका यह कहकर स्मरण करेंगे कि एक पुरुष था, जो हमारे लिए ही जन्मा और हमारे लिए ही मरा।"

कहते हैं कि जब पाकिस्तान बनने के पश्चात् मि० जिन्ना ने देखा कि बदमाश लोग हिन्दू नेताओं की मूर्तियों को तोड़-फोड़ रहे हैं, तो उन्होंने बदमाशों को चेतावनी दी कि तिलक की मूर्ति को मत छेड़ना, क्योंकि 'वह मेरे उस्ताद थे।'

लोकमान्य तिलक की मृत्यु के पश्चात् विश्वयात्री संत निहालसिंह ने लिखा था —

"यदि तिलक न होते तो भारत अब भी पेट के बल सरक रहा होता, सिर धूल में दबा होता और उसके हाथ में दर्खास्त होती। तिलक ने भारत की पीठ को बलिष्ठ बनाया। मुझे विश्वास है कि देश अब सीधा होकर चलने लगेगा, और तब देश उस व्यक्ति को आशीर्वाद देगा, जिसने धूल में से उठाकर उसे खड़ा कर दिया।"

श्रीयुत एस० के दामले ने 'राजकारण' में लिखा था—

"यह लोकमान्य ही थे, और अन्य कोई नहीं था, जिसने हमें स्वाभिमानी राष्ट्र के समान सीधा खड़ा होना सिखाया। लोकमान्य ने ही स्वराज्य का शंख बजाकर जनता को उसी प्रकार जगाया, जैसे पुराने समय मरहठा वीर विजय का नया रास्ता निकाला करते थे।"

गुणों के भक्त और कृतज्ञ देशवासियों ने तिलक के नाम पर सैकड़ों शिक्षणालय, पुस्तकालय, व्यायामशाला तथा मूर्तियों की स्थापना की। सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि बम्बई के उस हाईकोर्ट में चीफ जस्टिस द्वारा तिलक की विशाल मूर्ति का उद्घाटन हुआ, जिसमें वह अंग्रेजी काल में दण्डनीय ठहराये गए। उस मूर्ति के नीचे लोकमान्य के वे स्मरणीय वाक्य

उद्धृते है, जो उन्होंने १६०८ के अभियोग की समाप्ति पर कहे थे। जिस समय उस मूर्ति का उद्घाटन किया गया, कहते हैं, उस समय सब उपस्थित सदस्यों—उनमें हाईकोर्ट के जज भी सम्मिलित थे—की आंखों से आंसू बह रहे थे।

इस प्रकार अपने देशवासियों के हृदयों से अपने स्वार्थ-त्याग, पांडित्य और स्वाधीनता-प्रेम की अमर स्मृति सम्पादित करके लोकमान्य तिलक ने परलोक की यात्रा की। उस समय पराधीनता की घोर रात्रि समाप्त हो रही थी और स्वाधीनता का उषःकाल आरम्भ हो रहा था। इस तथ्य से कोई इतिहासवेत्ता इन्कार नहीं कर सकता कि रात्रि के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करके आकाश में उषःकाल को आमन्त्रित करने का श्रेय यदि किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है, तो वह लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे।

लोकमान्य की देन

लोकमान्य तिलक ने सामान्य रूप से संसार के लिए और विशेष रूप से भारत के लिए जो अनमोल देन छोड़ी है, उसे इन तीन शीर्षकों के नीचे लाया जा सकता है—

१. गीता-रहस्य—कर्मयोग-शास्त्र
२. ऊंचे लक्ष्य की पूर्ति के लिए समर्पित पवित्र जीवन
३. स्वाधीनता की अदम्य अभिलाषा।

'भगवद्गीता रहस्य' भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक युग-परिवर्तन करनेवाला ग्रन्थ है। जबसे जगद्वन्द्य श्री शंकराचार्य ने भगवद्गीता की ज्ञानपरक व्याख्या करके उसे अद्वैतवाद की सिद्धि का साधन बनाया, तबसे प्रत्येक नये मत-प्रवर्तक आचार्य का यह कर्तव्य-सा हो गया कि वह आर्य-जाति के उस सर्वमान्य ग्रन्थ की साम्प्रदायिक व्याख्या करके विद्वानों में सम्मान का स्थान प्राप्त करे। भगवद्गीता को मध्ययुग के आचार्यों ने नये-नये सम्प्रदायों की पुष्टि का साधन बना लिया था, फलतः उसकी व्यावहारिक उपयोगिता कुछ भी नहीं रही थी। लोकमान्य ने उसकी कर्मपरक व्याख्या करके गीता को सार्थक कर दिया। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को कर्म में प्रवृत्त करने के लिए गीता में प्रतिपादित उपदेश दिया था। लोकमान्य ने मनुष्यों को सत्कर्म में प्रवृत्त करने के लिए उसकी विशद व्याख्या की। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि लोकमान्य तिलक ने व्यावहारिक जगत् में भगवद्गीता का जीर्णोद्धार किया।

लोकमान्य न केवल पूर्व और पश्चिम के वाङ्मय के महान् पण्डित थे, प्रखर बुद्धि और असाधारण विश्लेषण-शक्ति के कारण दोनों की तुलनात्मक आलोचना की असाधारण शक्ति भी रखते थे। 'गीता-रहस्य' में पूर्व और पश्चिम के दर्शनशास्त्रों की जो गम्भीर विवेचना की गई है, उसे देखकर विदेशी विद्वान् भी चकित हो गये थे।

विदेशी तत्ववेत्ताओं की आलोचना गीता के तिलक-भाष्य का एक पहलू है। दूसरा पहलू उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। वह है प्राचीन भारतीय आचार्यों के गीताभाष्यों का स्पष्ट विरोध। श्री शंकराचार्य, श्री रामा-

नुजाचार्य और श्री मध्वाचार्य जैसे विद्वानों के मतों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त की स्थापना करना वीर पुरुष का ही काम था। लोकमान्य में विद्वत्ता और वीरता दोनों गुण विद्यमान थे।

ये आचार्य गीता को ज्ञान-शास्त्र मानते थे। लोकमान्य ने गीता-रहस्य में सिद्ध किया है कि गीता मुख्य रूप से कर्मपरक ग्रन्थ है। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि गीता में जिस कर्मयोग का विधान है, वह आर्य-जाति के सर्वमान्य ग्रन्थ वेदों के 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' आदि आदेशों पर आश्रित है। लोकमान्य की सब विचारात्मक और क्रियात्मक प्रवृत्तियों का मूल स्रोत भारत के शास्त्रों और परम्पराओं में सन्निहित है। यही लोकमान्य की विशेषता है। उनके समय के तथा बाद के भी अनेक प्रमुख भारतवासी अपनी प्रेरणा केवल पाश्चात्य विचारकों से अथवा पाश्चात्य और पूर्वीय विचारकों की समन्वित विचारधाराओं से लेते रहे हैं। तिलक इस विचार को माननेवाले थे कि कोई राष्ट्र अपने मूल से कटकर हरा-भरा तो क्या जीवित भी नहीं रह सकता। फलतः उनकी भावनाओं और क्रियाओं का मूल स्रोत भारतीयता की गंगोत्री है।

'गीता-रहस्य' का मुख्य विषय कर्मयोग है। जो आचार्य ज्ञान को उसका मुख्य विषय मानते हैं उनसे लोकमान्य का प्रश्न यह था कि जब भगवद्-गीता का मुख्य लक्ष्य ही अर्जुन को कर्म के लिए प्रेरित करता है, तो उसका मुख्य लक्ष्य केवल ज्ञान कैसे हो सकता है। कौरवों और पाण्डवों की सेनाएं युद्ध-क्षेत्र में तैयार खड़ी हैं। युद्ध के शंख बज चुके हैं कि अर्जुन के हृदय पर अन्धकार छा जाता है। वह 'न योत्स्ये' (मैं युद्ध नहीं करूंगा) कहकर गाण्डीव को रथ में फेंक देता है। अर्जुन की ऐसी दीन दशा देखकर भगवान कृष्ण उसका उद्बोधन करते हैं—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्य जुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

युद्ध में शस्त्र फेंकने को भगवान् ने 'अनार्य जुष्ट', आर्यत्व से गिरा हुआ, 'अस्वर्ग्य', नरक में ले जानेवाला और 'अकीर्तिकर' अपयश करानेवाला कर्म बतलाया है। जो गीता बार-बार 'युद्धस्य विगत ज्वरः' का उपदेश देती है वह कर्मपरक नहीं, यह स्थापना वही कर सकता है, जो रंगीन ऐनक पहन-कर और पहले से ही एक विशेष पक्ष को पुष्ट करने के अभिप्राय से गीता का अध्ययन करे।

गीता में कर्म की श्रेष्ठता अनेक स्थलों पर बतलाई गई है—

"नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मणः।"
"तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।"

"उत्सीदेयु रिमेलोका न कुर्यां कर्मचेवहम् ।"
"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे ।"
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।"

इत्यादि सब वाक्यों के आधार पर लोकमान्य ने गीता की जो कर्मकर व्याख्या की है, वह सर्वथा स्पष्ट और निर्विवाद-सी है। योग की महिमा बतलाते हुए भगवद्गीता में कहा गया है—

"योगः कर्मसु कौशलम् ।"

—कर्म करने में कुशलता ही योग है।

इस प्रकार भगवद्गीता को कर्मयोग-शास्त्र का नाम देकर लोकमान्य ने भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक अध्याय की रचना की है। निष्काम कर्म के सिद्धान्त को युक्तियों और प्रमाणों से दृढ़ भूमि पर स्थापित करके भगवद्गीता के 'रहस्य' ने भारतवासियों को कर्मयोग से युक्त जीवन का अमर पाठ पढ़ाया है। यह उनकी पहली और मौलिक देन है।

दूसरी देन उनका अपना जीवन था। उनका जीवन सच्चे कर्मयोग का जीता-जागता दृष्टान्त था। वह शिक्षा समाप्त करके कार्यक्षेत्र में उतरे, तब श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग खुले थे। वह यदि अनुसन्धान या शिक्षा के क्षेत्र में लगे रहते तो विश्वव्यापी यश प्राप्त करना और किसी विश्व-विद्यालय के अध्यक्ष बनना उनके लिए कुछ कठिन नहीं था। उन्होंने कानून की परीक्षा पास की थी। उनकी कानूनी योग्यता कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, यह उस जिरह और उस बहस से स्पष्ट है, जो उन्होंने अपने राजद्रोह के अभियोगों में की। उस जिरह और उस बहस को पढ़कर अनुभव होने लगता है कि बहुत आसानी से वह उन जजों के आसन पर बैठ सकते थे, जो उनका अभियोग सुन रहे थे। उनसब प्रेय-मार्गों को छोड़कर उन्होंने प्रारम्भ से ही स्वार्थत्याग तपस्या और परोपकार, निष्ठा का मार्ग अपनाकर देश के सामने एक ऐसा दृष्टान्त रखा, जिसने सहस्रों-लाखों देशभक्तों को मार्ग दिखाया। वह एक ऐसे अचल दीपक बने कि उनसे छोटे-छोटे अनगिनत दीपक जल गये।

लोकमान्य के चरित्र की विशेषताएं इतनी प्रखर थीं कि उनके विरोधी और समर्थक दोनों ही उनके कायल थे। वह प्रत्येक प्रश्न का हल बुद्धिपूर्वक करते थे, और जब एक बार किसी निश्चय पर पहुंच जाते थे, तो लेख, वाणी तथा आन्दोलन के सब उपायों से निश्चय को कार्यान्वित करने में जी-जान से लग जाते थे। परिणाम कुछ भी हो, जो उचित समझते थे, पूरे जोर से कह देते थे, और जो कह देते थे, उसे पूरा करने में अपनी ओर से कोई कसर न छोड़ते थे।

उनकी मृत्यु पर मद्रास में जो विशाल सभा हुई, उसमें दक्षिण के प्रमुख राष्ट्रीय नेता श्री विजय राघवाचार्य ने कहा था—

"मैंने बहुत कम ऐसे व्यक्ति देखे हैं, जिनमें उतना स्वावलम्बन और इतना आत्मविश्वास हो, और संसार के आन्दोलनों की सफलता के मुख्य आधार जन-सम्पर्क पर इतना भरोसा हो, जितना मि० तिलक में था। मैंने उनके समान दूसरा आदमी नहीं देखा।"

श्री सत्यमूर्ति ने उसी अवसर पर कहा था—

"लोकमान्य तिलक को वर्तमान भारत का सर्वोत्कृष्ट, सबसे विशाल और सबसे सच्चा नमूना कह सकते हैं। मैं तो उन्हें अवतार मानता हूं।"

श्री अरविन्द ने कहा था—

"एक महान् मनस्वी, एक बड़ा दृढ़ विश्वासी और मनुष्यों का एक महान् नेता आज हममें से उठ गया।"

महात्मा गांधी ने लोकमान्य की लोक-प्रियता की विवेचना करते हुए लिखा था—

"लोकमान्य का देशवासियों के हृदयों पर ऐसा गहरा प्रभाव था, उसका कारण क्या था? मैं समझता हूं इसका उत्तर सरल है। देश-प्रेम उनके हृदय की सबसे बड़ी तृष्णा थी। वही उनका धर्म था। वह जन्म से ही जनसत्ता पर विश्वास रखते थे। उनकी बहुमत पर इतनी गहरी आस्था थी कि मैं कभी-कभी उससे डर जाता था। परन्तु वही तो लोकमान्य के प्रभाव का आधार था। उनकी इच्छा-शक्ति फौलाद के समान थी, जिसका उन्होंने देश के लिए उपयोग किया। उनका जीवन खुली पुस्तक के समान था। उनके शौक अत्यन्त सादा थे। उनका निजू जीव निष्कलंक और शुद्ध था। लोकमान्य ने लोकातिशायी गुणों का उपयोग अपने देश के लिए किया। जितनी दृढ़ता और स्थिरता से स्वराज्य-धर्म का प्रचार लोकमान्य ने किया उतगा और किसीने नहीं किया। यही कारण था कि उनके देशवासी उनपर पूरी श्रद्धा रखते थे। उनका साहस कभी लड़खड़ाया नहीं, और उनका आशावाद अदम्य था। उन्हें आशा थी कि स्वराज्य उनके जीवन-काल में आ जायगा। यदि नहीं आया तो इसमें उनका कोई दोष नहीं। यह असन्दिग्ध है कि उनके प्रयत्नों से स्वराज्य कई वर्ष पास आ गया है।"

महात्माजी के ऊपर उद्धृत वाक्यों में संक्षेप में लोकमान्य के जीवन पूरी व्याख्या आ गई है। यह व्याख्या इस कारण विशेष महत्व रखती है कि

लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के राजनैतिक और जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्त लगभग पूर्णरूप से एक दूसरे के विरुद्ध थे। लोकमान्य स्वराज्य को अपना मुख्य ध्येय मानते थे, महात्माजी उसे सत्य के परीक्षण का एक साधन मानते थे। लोकमान्य तिलक सोच-समझकर जिस निश्चय पर पहुंच जाते थे, उसे छोड़ते नहीं थे, चाहे उसका परिणाम कुछ हो। महात्माजी प्रायः समयानुसार अपनी सत्याग्रह-युद्ध की योजनाओं को वापस लेते और जारी करते रहते रहते थे। लोकमान्य भाषण और लेख में अत्यन्त उग्र और स्पष्टवादी थे और गांधीजी की भाषा नम्रता का नमूना था। एक मराठा सेनापति था, तो दूसरा गुजराती वैष्णव। दोनों की मनोवृत्तियों में जो मतभेद था, वह निम्नलिखित उत्तर-प्रत्युत्तरों से व्यक्त होता है।

अमृतसर-कांग्रेस के बाद महात्माजी ने 'यंग इण्डिया' में एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने यह बतलाने के लिए कि मेरा लोकमान्य से किस बात में मतभेद है, इशारा किया कि तिलक कार्य-सिद्धि के लिए अनुचित उपायों के प्रयोग को भी क्षन्तव्य मानते हैं। लोकमान्य ने उसके संबंध में गांधीजी को जो पत्र लिखा, उसमें बतलाया कि—

> "राजनीति संसारी आदमियों का काम है, साधुओं का नहीं... मैं बुद्ध के इस सिद्धान्त को नहीं मानता कि क्रोध का उपाय केवल प्रेम है...मैं श्रीकृष्ण के इस उपदेश को मानता हूं कि जो तुमसे जैसा बरते, तुम उससे वैसा ही बरतो।"

लोकमान्य जो कुछ मानते थे, उसे वीरता से प्रकट करने में आगा-पीछा नहीं करते थे। उनमें निर्भयता पराकाष्ठा तक पहुंची हुई थी। उनमें और महात्माजी में दो बातें समान थीं। दोनों निजू जीवन में असाधारण रूप से स्वच्छ, निर्भय और महान् थे और दोनों का लक्ष्य अपनी मातृभूमि को बन्धनों से छुड़ाना था।

लोकमान्य के जीवन का महत्व दर्शाते हुए 'दि लिगेसी ऑव लोकमान्य' के लेखक मि० शियोडोर शे ने इस प्रश्न पर सम्भावना की है कि यदि लोकमान्य की मृत्यु जिस समय हुई उस समय न होती और वह महात्मा गांधी के चलाये हुए आन्दोलनों के समय जीवित होते तो क्या परिणाम होता? वस्तुतः यह प्रश्न सार्थक नहीं है। तिलक नाम के मिट्टी के पुतले को जो कुछ करना था, वह कर चुका था। वह अपनी स्थिर देन भारत को दे चुका था। इससे आगे तिलक का कीर्तिमय पुतला अपना काम करनेवाला था। वह भटकने पर देशवासियों को रास्ता दिखानेवाला था। लोकमान्य का भौतिक शरीर जर्जरित हो चुका था। उसे जाना ही था, परन्तु भारत के

भाग्य अच्छे थे कि वह उस समय गया जब राष्ट्र की बागडोर महात्माजी के योग्य हाथों में आ चुकी थी। तिलक भी तेज-पुंज थे। सम्भव था, दोनों पिण्ड टकरा जाते। जब महात्माजी ने असहयोग का योजना घोषित की तब लोकमान्य ने कहा—

"मैं असहयोग के विरुद्ध नहीं हूं, परन्तु मुझे भय है कि अभी सारा देश उसके लिए तैयार नहीं है।"

असहयोग किया गया, परन्तु कुछ वर्षों पश्चात् फिर कौन्सिलों के प्रवेश का निश्चय करना पड़ा। लोकमान्य विचारों में इतने उग्र होते हुए भी नापकर कदम उठाने के पक्ष में थे कि जिससे फिर उसे वापस न लेना पड़े। महात्माजी ने १९२०-२१ में एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त करने का वायदा कर दिया, जो पूरा न हो सका। यदि तिलक जीवित होते तो शायद इस बात पर महात्माजी से मतभेद हो जाता। स्पष्ट है कि लोकमान्य और महात्माजी का नेतृत्व साथ-साथ नहीं चल सकता था। परमात्मा को यह अभीष्ट नहीं था कि भारत के राष्ट्रीय दल में उग्र मतभेद उत्पन्न हो। लोकमान्य स्वाधीन राष्ट्र की नींव खोदकर उसे भरकर और दीवारों की चिनाई आरम्भ करके इस विश्वास पर परलोक सिधार गये कि गांधीजी के नेतृत्व में देशवासी उसे निरन्तर परिश्रम और तपस्या द्वारा स्वराज्य-भवन का रूप दे देंगे। महात्माजी ने भी अपना कार्य पूरा कर दिया। उन्होंने स्वराज्य की स्थापना कर दी और जैसे स्वाधीनता की यात्रा का एक पड़ाव पूरा करके तिलक इस लोक से विदा हो गये थे, वैसे ही यात्रा के दूसरे पड़ाव तक पहुंचकर महात्माजी ने चोला बदल दिया। यह देश का सौभाग्य था कि उसे दादाभाई गोखले, तिलक और गांधी जैसे नेता एक-दूसरे के बाद मिलने गये। देशवासियों को कभी न भूलना चाहिए कि जिस स्वराज्यरूपी वृक्ष की ठंडी छाया में वे सो रहे हैं, उसकी जड़ों में उन लाखों देशभक्तों की खाद पड़ी हुई है, जिनके शिरोमणि लोकमान्य तिलक थे।

निर्देशिका